—: सर्वोदय साहित्य माला : इकानवेवां ग्रन्थ :—

महात्मा गांधी

[उनकी जीवनकथा और जीवन के भिन्न-भिन्न पहलू]

लेखक

रामनाथ 'सुमन'

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली : लखनऊ

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

संस्करण
जून, १९१९ : १०००
मूल्य
छः आना

मुद्रक,
एस. एन. भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स
नई दिल्ली।

विषय-सूची

: १ :

मोहनदास करमचन्द गांधी

['महात्मा']

जन्म	जन्म
२ अक्तूबर १८६९ ई०	आश्विन कृष्ण १२, १९२५ वि०

"Mahatma Gandhi to-day stands at the very centre of the world's life, with the fate of centuries poised within his hands"

----JOHN HAYNESS HOLMES

× × ×

"I see in Mr Gandhi the patient sufferer for the cause of righteousness and mercy, a true representative of the crucified Saviour than the men who have thrown him into prison and yet call themselves by the name of Christ"

----LORD BISHOP OF MADRAS

"आज महात्मा गाधी समग्र ससार के जीवन के मध्य मे खडे हैं औ कई शताब्दियो का भाग्य अपनी मुट्ठी मे बद किये हुए हैं।"

—जान होम

× × ×

"मै महात्मा गाधी मे धर्म और क्षमा के लिए धीरतापूर्वक दु सहनेवाले पुरुष को,—तथा जिन्होने उन्हे जेल मे डाल दिया है और पि भी अपने को क्राइस्ट के नाम पर पुकारते है, उनकी अपेक्षा क्रूस पर च हुए उस त्राता (ईसा) के एक अधिक सच्चे प्रतिनिधि को देखता हूँ।"

—मद्रास के बिश

The Pillar of a People's Hope
The Centre of a World's desire.

—एक—

पहली झांकी !

एक आँधी की भाँति वह मेरे जीवन मे आया,—पर आँधी की भाँति उडा नही ले गया। न आँधी की भाति वह क्षण-भर रहकर चला गया। उसने स्वार्थ की कुटिल प्रवृत्तियो को पकडा और उनकी गति मोड दी। जीवन की तह मे, अभिलाषाओ की राख के नीचे, छोटी-सी, बुझने-बुझने जैसी एक-दो चिनगारियाँ पडी थी, इस प्रभजन ने उन्हे जगा दिया। धूल उड गई और नीचे धधकती हुई आग, हँसते-हँसते, जीवन के क्षितिज पर उठी!

यह १९२१ की बात है। तब पहली बार उसे देखा। पर यह तो आँखो का देखना था। बिना आँखो के—हृदय की आँखो से—तो उससे पहले ही उसे देखा था,—उसके बारे मे पढा था और सुना भी था। और,—यह मेरे लिए, मेरे जीवन की एक घटना और सुखद स्मृति है कि मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ उसीको लेकर हुआ। १२-१३ वर्ष की अबोध आयु मे मैने पहला लेख उसपर लिखा—पहला लेख जो एक मासिक पत्र मे प्रकाशित हो सका। उस समय वह, जनता के लिए, कोरा **'कर्मवीर'** था और आज उसके साथ **'महात्मा'** भी है। प्रतिक्षण अपने मार्ग पर बढनेवाली नदी के समान उसका जीवन आत्मसाक्षात्कार के अमृत-सिधु की ओर चला जा रहा है। तब जो वह था उससे आज वह

वहुत ऊँचा है । भावना का वेग क्रमश कम होता गया है; विवेक अत्यन्त दिव्य रूप मे प्रकट होता गया है । भक्त की विह्वलता अपेक्षाकृत कम और ज्ञानी की अनासक्ति तथा सदसद्विवेक धीरे-धीरे वढता गया है ।

पर हाँ,—क्या कह रहा था ? वनारस मे १९२१ मे पहली वार उसे देखा । तवसे जहाँ आत्मा—'स्पिरिट'—मे वहुत परिवर्तन हो गय है; शरीर, अपनी सीमा और वंधन मे, वहुत थोडा वदला है । दुवल ज़रूर हो गया है पर वैसा न होना तो आश्चर्य की वात होती । आकृति विज्ञान के विद्यार्थी को उसके कान, ओठ और आँखे अवश्य आकर्पि करती है । कान वडे, खुले हुए । मानो जगत् मे जो-कुछ श्रेप्ठ है सव सुनने और सवको ले लेने के लिए उत्सुक है ! ओठो से जीवन की अभि व्यक्ति—'एक्सप्रेशन'—फूटी पडती है । और आँख ! उनमे वैसा कुछ नही जो साहित्य की परम्परा मे स्थान पाने योग्य हो । फिर भी उनमे कुछ ऐसा ज़रूर है जो रह-रह कर प्रकाशित होना—जीवन मे चमक उठन चाहता है । रह-रहकर उनमे एकाएक प्रकाश आजाता है और वे जुग की भाँति चमक उठती है ।

× × ×

उसने अपनी सत्य की चिर-साधना के सहारे ससार को सत्याग्रह क दान दिया है । यह सत्याग्रह,—जिसका एक ही विराट् रूप हमने भार तीय राजनीति के प्रागण मे देखा है, और दूसरा कुछ-कुछ एक विजल की भाँति चमकनेवाले उसके अस्पृश्यता-निवारण सम्वन्धी और राजको सवंधी आमरण अनशन मे,—जगत् के लिए इस दिव्य आत्मा का सन्दे है । इसकी सिद्धि मे जगत् के लिए एक महान् आशा है, पीडित मानवत का त्राण है ।

इस समय वातावरण उलझा हुआ है । उसमे नीरवता है पर यह

नीरवता महाश्मशान की नीरवता की भाँति सतत जीवनमय और भयानक है। यह आँधी आने के पहले विश्वात्मा के श्वास का प्रक्षेप है। और जिसके दिमाग मे क्या युद्ध चल रहा है कोई जानता नही और जिसके हृदय मे चलनेवाले मंथन को केवल अन्तर्यामी जानता है—दूसरा कोई जानना चाहे तो भी न जान सकेगा—ज्वालामुखी की तरह फूटनेवाला है।

यह निश्चय है कि वह जो कुछ करने जा रहा है और जो कुछ करेगा, चाहे वह कैसा ही हो—पर ऐसा होगा जो निद्रालु जन-समूह को हिलाकर छोडेगा ! हमारा हृदय तो, दुर्बल प्रेमी की तरह, अभी से काँपता है। और हम तो हाथ उठाकर मालिक से उसकी चिरायु की भीख माँगते है।

वह तपस्या का धधकता हुआ अंगारा है। उसके वारे मे कुछ कहना सहज नही है पर जो कुछ कहना है हम वाद मे कहेगे। तवतक, आइए उसके जीवन पर एक सरसरी दृष्टि डाल ले।

—दो—

जीवन-कथा

गाधी नाम से तो ऐसा ही मालूम होता है कि गाधी-परिवार पहले पसारी का काम करता रहा होगा। पर गाधीजी के पहले तीन पुश्त तक वह काठियावाड की भिन्न-भिन्न रियासतो मे दीवानी का काम करता आया। इसमे श्री उत्तमचन्द गाधी पोरवदर के दीवान थे पर पीछे अपनी निर्भीकता के कारण उन्हे वह स्थान छोडना पडा। उनके पुत्र करमचन्द गाधी भी पहले पोरवन्दर (सुदामापुरी) और वाद मे राजकोट एव बीकानेर के दीवान रहे। वह एक अनुभवी राज्याधिकारी थे पर स्कूली शिक्षा उनकी बहुत कम—बिलकुल

परिवार एवं जन्म

प्रारभिक—हुई थी। करमचन्द गाधी एक सद्‌गृहस्थ थे। वह निर्भीक और
राज-काज मे निपुण पुरुष थे। उनमे सत्य की पवृत्ति थी। रिश्वत इत्यादि
से दूर भागते थे। इन गुणो के साथ उनमे, क्रोध और विपयासक्ति, दो
दोष भी थे। उनके एक-एक करके चार विवाह हुए। उनकी अन्तिम
पत्नी पुतलीवाई साध्वी और निष्ठावान् थी। व्रत-उपवास एव पूजा-पाठ
मे उनकी विशेष रुचि रहती। वह वहुत ही दयालु, भावुक एव कोमल
प्रकृति की थी। इन्ही माता-पिता के घर पोरवन्दर मे, २ अक्तूवर १८६९
ई० (आश्विन कृष्ण १२ सवत् १९२५) को मोहनदास (गाधीजी) का
जन्म हुआ। यह अपने माता-पिता की अन्तिम सतान है।

बचपन मे मोहनदास साधारण वुद्धि के वालक थे, उनमे विशेष
प्रतिभा न दीख पडती थी। इनके आरम्भिक वर्प पोरवन्दर मे ही वीते
अत वही किसी पाठशाला में यह बैठाये गये। उस समय इनका मन
पढने मे विशेष न लगता था। पोरवन्दर से जब
इनके पिता राजकोट गये तब मोहनदास की उम्र
लगभग सात वर्ष की थी। वहाँ इनकी शिक्षा मन्द
गति से चलती रही। यह पाठशाला के साधारण विद्यार्थियो मे थे
इनका स्वभाव वडा सकोची और झेपू था और यह किसी से ज्यादा
मिलते-जुलते न थे। पाठशाला खतम होती और घर आजाते। पर पिता
माता के अच्छे सस्कारो की मोहनदास मे प्रवलता थी। झूठ बोलने का
दुर्गुण कभी उनमे न आया। मोहनदास मे सत्य की ओर बचपन से ही
रुचि और प्रवृत्ति थी। पाठशाला के वातावरण मे भी इन गुणो मे कमी
न आई। ऐसी अवस्था मे जव स्कूल के अन्य विद्यार्थी तरह-तरह की
'चालाकिया' सीख जाते है और मास्टर भी इस कार्य मे उनकी कुछ कम
मदद नही करते तव अपने प्रवल सस्कारो के कारण मोहनदास सत्य

बचपन एवं आरंभिक शिक्षा

स्थिर रहे, यह इस बात की मानो सूचना थी कि भावी जीवन किस प्रवाह मे बहेगा ।

सत्य के साथ आरभ से ही इनमे गुरुजनो—वडो—के प्रति आदर एव भक्ति का भाव भी था । इसलिए मास्टरो के प्रति अवज्ञा का, उनको मूर्ख वनाने का जो भाव आजकल के लडको मे होता है, उनमे न था । पढने-लिखने मे यह सुस्त थे । पाठ्य-पुस्तके ही पूरी नही पढ पाते थे फिर वाहरी पुस्तके कहाँ से पढते पर इस विद्यार्थी अवस्था की दो घटनाओ का उल्लेख उन्होने किया है । एक तो यह कि एक दिन अपने पिता की खरीदी एक पुस्तक 'श्रवण पितृ-भक्ति नाटक' पर इनकी दृष्टि पड गई । न जाने क्यो पढने को मन ललचाया । उसे पढकर माता-पिता के प्रति इनके हृदय मे जो भक्ति थी वह और जाग्रत हुई । शीशे मे तस्वीर दिखाने वालो से भी एक दिन श्रवण की मातृ-पितृ-भक्ति के दृश्य देखे, हृदय गद्‌गद् हो गया, आँखो मे आँसू भर आये । इस पुस्तक और दृश्य-दर्शन का इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पडा ।

गुरुजनो के प्रति भक्ति

इसी प्रकार जव यह पढ रहे थे तव एक नाटक-कम्पनी वहाँ खेल दिखाने आई । पिता की आज्ञा से इन्होने 'हरिश्चन्द्र' नाटक देखा । इसका भी उनके चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़ा । वह लिखते है—"· "इस नाटक को देखते मै अघाता न था । वार-वार उसे देखने को मन हुआ करता, पर यो वार-वार कौन जाने देने लगा ? जो हो ? अपने मन में मैंने इस नाटक को सैकडों बार खेला होगा । हरिश्चन्द्र के सपने आते। यही धुन लगी कि हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यो न हो ? यही धारणा होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियाँ भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है ।" यही इनके वाद के जीवन की कुजी हमे

मिलती है। गुरुजनो के प्रति भक्ति एव सत्य की दृढता के जिन सस्कारो की वात हम ऊपर लिख आये है उनको इन दो घटनाओ ने लडकपन मे ही खूब दृढ कर दिया। 'हरिश्चन्द्र की तरह क्यो न हो', इस प्रेरणा और लगन ने ही उनको इस दिव्य-रूप मे आज जगत् के सामने उपस्थित किया है।

धार्मिक एव सामाजिक विचारो की दृष्टि से देखे तो इनके कुटुम्ब की गणना कट्टर कुटुम्बो मे की जानी चाहिए। इसके परिणाम-स्वरूप हम सात वर्ष मे इनकी सगाई होते और तेरह वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह, कस्तूरवाई के साथ, होते देखते है। विवाह के समय वैवाहिक मर्यादा को तो यह क्या समझते ? उम्र एव बुद्धि ही कितनी थी। उस समय तो यह उनको तमाशे एव मनोरजन की चीज-सा मालूम हो रहा था। पैतृक सस्कारो के कारण कहिए या उस समय की साधारण दाम्पत्य-जीवन की प्रथा की दृष्टि से कहिए विवाह के बाद इनका जीवन पत्नी के साथ बहुत विपयासक्त हो गया था। यह आसक्ति इतनी प्रवल हो गई थी कि दिन को स्कूल मे भी इनका मन पत्नी मे ही लगा रहता था।

विवाह

जब इनका विवाह हुआ तो यह हाईस्कूल मे पढते थे। अब यह पढाई पर कुछ ध्यान देने लगे थे और बोदे छात्रो मे न समझे जाते थे। पर इनके जीवन मे सदा यह बात रही और उस समय भी थी कि पुस्तकी शिक्षा मे चाहे लापरवाही कर जाते पर सदाचरण मे सदा जागरूक रहते थे। एक घटना है। जब यह सातवी कक्षा मे पढ रहे थे तब सघ-व्यायाम स्कूल मे अनिवार्य कर दिया गया था पर इनका मन उसमे न लगता, पिता की सेवा मे ज्यादा मन लगता था। एक दिन की वात है, सुबह का स्कूल था। शाम को चार बजे व्यायाम मे जाना था। इनके पास घडी न थी। बादल छा

हाईस्कूल में

रहे थे इसलिए समय का कुछ ठीक ध्यान न रहा। जब यह पहुँचे तब व्यायाम समाप्त हो चुका था और सब लोग घर चले गये थे। दूसरे दिन जब अनुपस्थिति का कारण पूछा गया तो जो बात थी, इन्होने बता दी पर मास्टर को विश्वास न हुआ और उन्होने जुर्माना कर दिया। उस दिन इन्हे बडा दु ख हुआ और इन्होने यह शिक्षा ग्रहण की कि सत्य का मार्ग ग्रहण करनेवाले को सदा सावधान रहना चाहिए।

सत्य के प्रति इतना आग्रह होते हुए भी उस समय, सगति-दोष से, दो-एक काली रेखाये इनके जीवन मे आ गई। किशोरावस्था मनुष्य के लिए बहुत सँभालकर रखने की चीज है। इन दिनो बहुतेरे ऐसे मित्र मिल जाते है जो गोपनीय बातो मे रस लेते है और प्रलोभन एव कुतूहल-वश प्राय लोग इनके फेर मे पड जाते है। मोहनदास की भी एक लडके से घनिष्टता हुई। उसके सस्कार अच्छे न थे और उसमे कई दुर्गुण थे। उसके सम्बन्ध मे माता, बडे भाई और पत्नी ने चेतावनी भी दी पर यह समझते थे कि उसकी बुराइयो का असर मुझ-पर न पडेगा, उलटा मै उसे सुधार सकूँगा। इसलिए इन चेतावनियो पर ध्यान नही दिया। उस सगी ने मोहनदास को बताया कि कितने ही बडे-बडे आदमी और हिन्दू शिक्षक छुपे-छुपे मासाहार और मद्यपान करते है। पहले तो इन बातो से इन्हे दु ख होता पर उस 'मित्र' ने समय-समय पर इसी प्रकार की बाते कर-करके इनके हृदय को दुर्बल कर दिया। मोहन-दास के मँझले बडे भाई पहले से ही इस व्यसन मे फँसे हुए थे। वह खूब खेलते-कूदते, दौडते। उनमे फुर्ती थी तथा वह निर्भय भी थे। इधर मोहनदास सुस्त, डरपोक तथा दुर्बल थे इसलिए इन्हे अपनी अवस्था पर ग्लानि होती रहती थी। उस 'मित्र' ने इनके भाई तथा उसी प्रकार के अन्य लडको के उदाहरण दे-देकर इन्हे यह समझाया कि मासाहार से

काली रेखायें

शक्ति बढती है, स्फूर्ति आती है, इसीलिए अग्रेज वलवान और हृष्ट-पुष्ट है। धीरे-धीरे इन बातो का असर मोहनदास के हृदय पर पडा और कुछ ही दिनो मे इन्होने मासाहार की उपयोगिना स्वीकार कर ली तथा इन्हें विश्वास हो गया कि इससे मै वलवान हो सकता हूँ और यदि सारा देश मासाहार करने लगे तो अग्रेजो को हरा सकता है।

धीरे-धीरे बाते आगे वढी। मासाहार आरम्भ करने का दिन भी निश्चित हो गया पर यह सब निश्चय गुप्त रखा गया क्योकि यद्यपि बुद्धि मासाहार की उपयोगिता स्वीकार करती थी पर हृदय मे वैष्णव सस्कार भरे हुए थे। तथा चारो ओर के वातावरण म मासाहार के प्रति तिरस्कार का अत्यन्त तीव्र भाव वर्तमान था। मालूम होने पर माता-पिता को वहुत दु ख होगा, इस विचार से भी सारी बाते गुप्त रखने का ही निश्चय हुआ। उस समय इनके मन की दशा विचित्र थी। उसमे सघर्ष चल रहा था। एक ओर वीर बनने और सुधार करने का उत्साह और दूसरी ओर चोर की तरह लुक-छिपकर काम करने की शर्म। नियत स्थान पर पहुँचे। मास के साथ डवल रोटी भी थी पर दोनो ही चीज़े इन्हे अच्छी न लगी। मास चमडे-जैसा मालूम हुआ। रात-भर नीद न आई। ऐसा मालूम होता कि पेट मे बकरा 'बे-बे' बोल रहा है। पर 'सुधार' मे ऐसी कठिना-इयाँ तो आती ही है, यह सोचकर तथा 'मित्रो' के उत्साह से आगे भी क्रम चला। उन लोगो ने कई प्रकार की स्वादिष्ट चीजे वनानी शुरू की। इस तरह समय-समय पर पाँच-छ वार मास इन्होने खाया होगा।

पर उत्तम सस्कारो के कारण इस बात को लेकर इनके मन मे सदा युद्ध चला करता। जिस दिन मास खाते उस दिन घर खाना न खाया जाता और माँ से झूठे वहाने करने पड़ते। सत्य की निष्ठा एव मातृभक्ति के कारण यह बात इन्हे बहुत खलती थी। दिल मे बेचैनी रहती कि मैं

माता-पिता को धोखा दे रहा हूँ। धीरे-धीरे इस भाव ने जोर पकडा और इन्होने निश्चय कर लिया—'माता-पिता से झूठ बोलना पाप है अत. जब तक वे जीवित है मास खाकर धोखा देना उचित नही। जब वे न रहेगे तब स्वतन्त्रता-पूर्वक खायँगे।' उस दिन से मास छूटा सो छूटा।

पर उस 'मित्र' ने यही तक नही, आगे भी कदम बढाया। मासाहार से व्यभिचार की ओर गति हुई। एक बार दलदल मे गिरने पर धीरे-

दलदल में फँसते-फँसते

धीरे नीचे जाने लगा। एक दिन मोहनदास को भी वह एक चकले मे ले गया। बाई से सब बाते उसने पहले से ही तै कर ली थी और उसे पैसे भी दे दिये थे। पर अपने झेपू स्वभाव के कारण मोहनदास बच गये या यह कहे तो ज्यादा अच्छा होगा कि ईश्वर ने इन्हे बचा लिया। यह जाकर मारे शर्म के गूँगे-से उस बाई की चारपाई पर बैठ गये। एक शब्द मुँह से न निकला इससे वह बाई झल्लाई और उसने इन्हे बाहर कर दिया। उस समय तो इन्हे अपने इस अपमान और 'नामर्दी' पर बडी ग्लानि हुई पर पीछे इन्हे विश्वास हो गया कि भगवान् ने ही रक्षा की है।

इसी प्रकार चचा इत्यादि की देखा-देखी सिगरेट पीने की आदत १२-१३ वर्ष की अवस्था मे पडी। सिगरेट के लिए पैसे न मिलते इसलिए चचा की पी हुई अधजली सिगरेटे चुरा-चुराकर पीते। पीछे नौकरो के पैसो मे काट-कपटकर चोरी करने लगे। पर चोरी-चोरी यह काम करने मे बडी ग्लानि होती। यहाँ तक कि इसी ग्लानि मे एक दिन आत्महत्या कर लेने का भाव मन मे आया। धतूरे के बीज खोज लाये। मन्दिर के एकान्त स्थल मे शाम को आत्महत्या करने चले पर एक-दो बीज खाते ही हिम्मत छूटगई। पर इससे एक अच्छा फल यह निकला कि सिगरेट के जूठन पीने एव नौकरो के पैसे चुराकर उसमे सिगरेट लाने की बात छूट गई।

इनके मासाहारी मझले भाई ने व्यसनो मे फँसकर २५) के लगभग कर्ज कर रखा था। इनके पास पहनने का सोने का एक कडा था। इन दोनो भाइयो ने यह निश्चय किया कि इसमे से एक तोला सोना निकाल लिया जाय। तदनुसार कडा कटा, कर्ज चुका पर इनका मन इनको इस चोरी के कारण धिक्कारने लगा। मन मे आया कि पिताजी से यह बात कह देनी चाहिए। उनके नाराज होने एव इस घटना से उनके मन और, फल-स्वरूप, स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडने की सभावना थी। फिर भी इन्होने पिताजी के नाम पत्र लिखा। उसमे सब बाते लिख दी और प्रतिज्ञा की कि आप दु ख न करे। आगे से ऐसा मै न करूँगा। पत्र पढकर पिता की ऑखो से ऑसू बहने लगे। दोनो रोये। पर इससे मन धुल गया।

पिता का देहावसान

१८८५ ई० मे पिता की मृत्यु हुई। इसी साल श्रीमती कस्तूर बाई के पेट से एक बालक का जन्म हुआ और इतनी कच्ची उम्र मे सन्तान होने के कारण दो-चार दिन मे ही उसकी मृत्यु हो गई।

बचपन से ही इन्होने सत्य को अपना पथ-प्रदर्शक बनाया था इसलिए हृदय मे उदारता थी। इनकी बूढी दाई ने इन्हे रामनाम का महत्त्व

सर्वधर्म-समभाव

बताया था। 'रामनाम से भूत-प्रेत भाग जाते है', यह कहकर उसने इन्हे उसका अभ्यास करने की सलाह दी थी। आज यह रामनाम मे अमोघ शक्ति पाते है, यह बीज उसी दाई—रभा—का बोया हुआ है। अपने बड़े भाई के कहने से यह 'राम-रक्षा' का पाठ भी किया करते और रामायण की कथा भी सुनते। यद्यपि धर्म मे इनकी श्रद्धा न थी पर इन बातो के सस्कार हृदय पर बैठते गये। वैष्णव होते हुए भी इनके घरवाले राम-मन्दिर इत्यादि जाते।

इससे साम्प्रदायिक सकुचितता का भाव इनमे न रह गया । कृष्ण, राम सव एक-से रहे । इनके पिता के पास जैन-धर्म के आचार्य भी आया करते । मुसलमान मित्र भी आते और अपने धर्म की वाते करते । इससे इन धर्मो के प्रति भी किशोर मोहनदास के हृदय मे समभाव पैदा हुआ । परन्तु इन सवसे इन्होने दो वाते निश्चत रूप से लड़कपन से ही ग्रहण की । एक तो यह कि **ससार नीति पर खड़ा है**; दूसरी यह कि **सत्य सब प्रकार की नीति का निचोड़ है** । इसीसे उनमे अहिसाभाव का भी जन्म और विकास हुआ । 'अपकार का वदला उपकार', यह भाव दृढ हुआ ।

१८८७ ई० मे मोहनदास ने मैट्रिक की परीक्षा पास की और उसके वाद भावनगर के शामलदास कालेज मे भरती हुए पर वहाँ पढाई मे मन न लगता, विषय कठिन मालूम पडते । ऐसे ही समय इनके पिता के मित्र एव कुटुम्ब के सलाहकार श्री मावजी दवे ने इनके घरवालो से कहा कि इन्हे विलायत भेजकर वैरिस्टरी पास करानी चाहिए । वडी कठिनाई से भाई और माता ने आज्ञा दी । माताजी के सामने इन्होने मास, मदिरा और स्त्री-सग से दूर रहने की प्रतिज्ञाये ली । विलायत जाने की बात सुनकर जाति की पचायत ने इनको रोकना चाहा पर यह टस से मस न हुए । फलत जाति-वहिष्कृत होकर भी ४ सितम्वर १८८८ ई० को वम्वई से विलायत के लिए रवाना हुए ।

विलायत-यात्रा

उस समय लन्दन मे निरामिष भोजनालय दो-ही चार थे । और चूँकि इन्हे अपनी प्रतिज्ञा का सदा ध्यान वना रहता इसलिए ऐसे भोजनालय की खोज मे रहते । कभी-कभी हाथ से भी वना लेते । यही अन्नाहार एव फलाहार की श्रेष्ठता का विवेचन करनेवाली कई अच्छी पुस्तके इनके हाथ लगी । उन्हे पढकर

जीवन में परिवर्तन

अन्नाहार की उपयोगिता पर इनका विश्वास वढता गया। तभी से भोजन-सम्बन्धी प्रयोगो की धुन इनपर सवार हुई, जो आजतक चली जाती है।

इस बात से दो अच्छे फल तो तुरन्त हुए। एक तो यह कि भोजन मे सादगी आई और जो भोजन पहले शुष्क मालूम पडता था उसमे स्वाद आने लगा। दूसरे यह कि ज्यो-ज्यो यह अपने सम्वन्ध मे गहराई से विचार करते गये त्यो-त्यो अपने जीवन मे अधिकाधिक सादगी लाने एव खर्च मे कमी करने का भाव इनके मन मे प्रवल होता गया। सवारी का खर्च इन्होने घटा दिया और पैदल आना-जाना शुरू किया। इससे स्वास्थ्य भी सुधरा। केवल एक सस्ते कमरे से काम चलाना शुरू किया। मिर्च-मसाले इत्यादि का प्रयोग भी छोड दिया। इस प्रकार खाने-पीने एव रहने का खर्च वहुत घट गया। इसके वाद ही इन्होने पढने मे भी मन लगाया।

विलायत मे भारतीय विद्यार्थी के सामने अनेक प्रकार के प्रलोभन आते है। इनके सामने भी ऐसे अवसर आये। उन दिनो वहुतेरे विवाहित

असत्याचरण का अन्त

छात्र अपने को वहाँ अविवाहित ही वताते। इससे उन्हे उन कुटुम्वो की युवती लडकियो के साथ घूमने-फिरने एव मनोविनोद की स्वच्छन्दता मिल जाती जिनमे वे रहते थे। उसी प्रवाह मे यह भी वह गये। एक दिन व्रायटन (समुद्र के किनारे हवाखोरी का स्थान) मे लन्दन-निवासिनी एक वुढिया से परिचय हुआ। पीछे उससे घनिष्टता वढ गई और विलायत से लौटने के वाद भी कायम रही। उसने लन्दन का अपना पता दिया। वह हर रविवार को इन्हे निमंत्रित करती और युवती स्त्रियो से, विशेपकर अपने यहाँ रहने वाली एक लडकी से, इनको हिलाती-मिलाती। उस लडकी से पहले तो वोलने मे यह झेपते पर धीरे-धीरे उसमे रस आने लगा। पर

सत्य के संस्कार इनमे जमे हुए थे, प्रतिज्ञा भी इन्हे याद थी इसलिए समय पर भगवान् की कृपा से यह बच गये। वह लडकी इन्हे अविवाहित समझ इनसे स्नेह बढाती जा रही थी। अन्त मे इसके परिणाम की भीषणता की कल्पना करके साहस-पूर्वक इन्होने बुढिया को एक पत्र लिखा और सच्ची स्थिति प्रकट कर दी। इनकी उस सत्यवादिता का उनपर अच्छा ही असर हुआ और इन लोगो की मित्रता अन्त तक कायम रही।

त्याग का भाव

विलायत मे रहने की अवधि मे ही दो थियासोफिस्ट ('ब्रह्मवादी') मित्रो से परिचय हुआ और उनके आग्रह से इन्होने गीता का एडविन अर्नाल्डकृत अनुवाद पढा और उनके साथ मूल श्लोक भी शुरू किये। दूसरे अध्याय के—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोपजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ [1]

श्लोको का इनके हृदय पर बडा प्रभाव पडा। तभी से गीता की दिव्यता पर इनकी श्रद्धा हुई और अब तो यह मानते है कि गीता से बढकर मनुष्य के लिए सत्पथ-प्रदर्शक दूसरा ग्रन्थ नही।

१. विषय का चिन्तन करने से पहले उस विषय में आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति—संग—से उस विषय की कामना—उसे प्राप्त करने की वासना—का जन्म होता है और उस कामना (की तृप्ति में विघ्न आने पर उस) से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह (अविवेक), मोह के स्मृति-विभ्रम, स्मृति-विभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से उस व्यक्ति का ही विनाश होता है।

इन्ही दिनो 'थियोसफी' की भी दो-एक पुस्तके पढी। अर्नाल्ड का 'बुद्ध चरित' पढा। वाइविल भी पढ गये। उसका 'सर्मन ऑन् द माउण्ट' (गिरि-प्रवचन) नामक अध्याय पढकर उनके हृदय को वडा आनन्द हुआ। इसकी शिक्षाएँ उनके सत्य-धर्म की नीति के अनुकूल थी। उनमे अपकार का बदला उपकार से एव हिसा का प्रेम से देने का उपदेश किया गया था। इन ग्रथो के अध्ययन से इनके हृदय मे धीरे-धीरे ईश्वर के प्रति श्रद्धा का सचार हुआ और यह बात दिल मे जँच गई कि त्याग मे ही धर्म है। इस प्रकार सत्य, अहिंसा एव त्याग के भावो ने इनके दिल मे जड जमा ली। इन भावो के कारण विकार-वश होकर भी कई वार यह बचे। एक बार पोर्ट्समथ मे (जहाँ अन्नाहारियो के सम्मेलन मे गये हुए थे) रात को अपने एक भारतीय साथी के साथ गृहणी से ताश खेलने बैठे। विनोद आरभ हुआ। वह साथी इस कार्य मे निपुण था; धीरे-धीरे पापपूर्ण विनोद बढकर क्रिया मे परिणत होने की नौबत आई। उस समय यह भी विकाराधीन हो गये थे पर ठीक समय पर उस साथी ने इन्हे चेताया—'यह काम तुम्हारे लिए नही।' यह भगे, रात भर नीद न आई। उस समय यह ईश्वरीय सहायता का पूर्ण अर्थ न समझते थे पर इन्हे ऐसा मालूम पडा कि भगवान् ने ही उवारा है। दूसरे ही दिन पोर्ट्समथ से चल दिये। इस प्रकार इनके जीवन मे एक साधक की प्रवृत्ति हम शुरू से देखते है। बुराइयो मे फँसते हैं, वेदना और फिर पश्चात्ताप होता है, यह जग जाते और उनसे भागते है। अपने को कसने एव प्रलोभनो का ज्ञान होते ही उससे दूर हटने की नीति ने ही इनकी रक्षा की है।

जिस वैरिस्टरी के लिए यह विलायत गये थे उसकी पढाई भी जारी थी और फलस्वरूप १० जून १८९१ को यह वैरिस्टर हुए। ११ ता०

को ढाई शिलिंग फीस देकर इंग्लैण्ड के हाईकोर्ट मे अपना नाम रजिस्टर कराया और हिन्दुस्तान लौट आये।

रायचन्द भाई से परिचय

बम्बई आने पर उनका रायचद भाई से परिचय हुआ। गॉधीजी के जीवन पर उनका बडा प्रभाव पडा है। वैसे रायचद भाई हीरे-जवाहरात व्यापारी थे। वह अच्छे कवि और शतावधानी थे। स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी पर व्यापार एव ससार के अन्य कार्यो मे लगे रहने पर भी उनमे आत्म-दर्शन की तीव्र आकाक्षा थी, उनका शास्त्र-ज्ञान व्यापक और गभीर था। उनका चरित्र निर्मल था। वह सदा अपने सम्बन्ध मे जागरूक रहते और अनासक्त भाव से ही सब काम-काज करते थे। जिन तीन आदमियो—रायचद भाई, टाल्सटाय और रस्किन[१]—का गॉधीजी के जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पडा है, उनमे रायचद भाई का स्थान सबसे ऊँचा एव महत्वपूर्ण है। इनके ससर्ग एव सलाह से गॉधीजी के जीवन की अनेक आध्यात्मिक गुत्थियाँ सुलझी है।

× × ×

वकालत के मैदान में

बैरिस्टर तो हो आये पर इनमे धडल्ले से बोलने और अपने तर्क एव भाषण-द्वारा मुकदमे की सब बातो को प्रभावशाली ढग से अदालत के सामने रखने की शक्ति का सर्वथा अभाव था। ससार का अनुभव इन्हे बिलकुल न था, जो एक वकील की पूँजी है। किसी सभा मे बोलने खड़े होते तो शरीर कॉपने

१. टाल्सटाय की 'हेवेन इज इन यू' (स्वर्ग तुम्हारे ही अन्दर है) और रस्किन का 'अन-टू दिस लास्ट' (जिसका अनुवाद स्वयं गाधीजी ने 'सर्वोदय' नाम से किया) नामक पुस्तको ने गाधीजी के जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला है।

लगता। इधर घर का खर्च वहुत वढ गया। इसलिए मित्रो की सलाह से बम्बई हाईकोर्ट मे अनुभव प्राप्त करने के लिए वम्बई गये।

बम्बई मे कानून का अध्ययन चला तो पर वहुत सुस्ती के साथ। वाहर वैरिस्टर की तख्ती टँगी रहती और अन्दर वैरिस्टर वनने की तैयारी चलती रहती। वह स्वय लिखते है कि इस समय मेरी हालत ससुराल मे आई हुई नई वहू-जैसी हो रही थी।

इसी समय एक मुकदमा इनके हाथ आया। मामला 'स्माल काज कोर्ट' मे था। पहले दलाल ने दलाली मॉगी,—इन्होने इन्कार कर दिया। मामला आसान था, एक दिन से ज्यादा का काम उसमे न था। ३०) मेहनताना उसमे मिला था पर वह भी इनसे न सधा। अदालत मे पैरवी करने गये। मुद्दालेह के वकील थे इसलिए इन्हे जिरह करनी थी पर जब यह खडे हुए तो पाव कॉपने लगे, सिर घूमने लगा। ऐसा मालूम पडा मानो सारी अदालत घूम रही है। यह वैठ गये, दलाल से कहा—"तुम दूसरा वकील कर लो।" उस दिन से इन्होने पूरी योग्यता प्राप्त किये विना कोई मुकदमा हाथ मे न लेने का निश्चय किया। इधर यह हाल था, उधर खर्च वढता ही जाता था। अन्त मे वहॉ से निराश हो पाँच-छ महीने बाद यह फिर राजकोट लौट गये। वहाँ कुछ सिलसिला चला और अर्जियॉ लिखने का काम मिलने लगा। इससे लगभग २००) मासिक की आय होने लगी। ये अर्ज़ियॉ भी इनकी योग्यता के कारण नही, भाई के प्रभाव से मिलती थी।

× × ×

जव इस प्रकार सिलसिला चल रहा था तो इन्हे पहली वार अग्रेजो की दो-रगी व्यवहार-नीति का अनुभव हुआ और दिल मे ठेस लगी। वात यह थी कि पोर-वन्दर के राणा साहव को गद्दी मिलने के पूर्व इनके

भाई उनके मत्री एव सलाहकार थे। उस समय कुछ राज्याधिकारियो ने इनके भाई पर दोप लगाया कि वह राणा साहव को उलटी सलाह देते हे। ये शिकायते उस समय के

पहला आघात !

पोलिटिकल एजेण्ट तक भी पहुँचाई गईं और उसका रुख इनकी तरफ से खराब हो गया। गाँधीजी की इस साहव से विलायत मे मुलाकात हुई थी और काफी परिचय हो गया था। इसलिए भाई ने चाहा कि वह जाकर उससे मिले। यह वात उन्हे पसन्द तो न पडी पर भाई के जोर देने पर वह गये। वह लिखते है—"मैने पुरानी पहचान निकाली। परन्तु मैने तुरन्त देखा कि विलायत और काठियावाड मे भेद था। हुकूमत की कुर्सी पर डटे हुए साहव और विलायत मे छुट्टी पर गये हुए साहव मे भेद था। पोलिटिकल एजेण्ट को मुलाकात तो याद आई पर साथ ही अधिक वेरुखे भी हुए। उनकी वेरुखाई मे मैने देखा, उनकी ऑखो में मैने पढा—उस परिचय से लाभ उठाने तो तुम यहाँ नही आये हो ? यह जानते-समझते हुए भी मैने अपना सुर छेडा। साहव अधीर हुए—'तुम्हारे भाई कुचक्री है। मै तुमसे ज्यादा वात सुनना नही चाहता। मुझे समय नही है। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो वाकायदा अर्ज़ी पेश करे।' यह उत्तर वस था, परन्तु गरज़ वावली होती है। मै अपनी वात कहता ही जा रहा था। साहव उठे। 'अव तुमको चला जाना चाहिए।'

मैने कहा—'पर मेरी वात पूरी सुन लीजिए।' साहव लाल-पीले हुए—'चपरासी इसको दरवाज़े के वाहर कर दो।'

'हुजूर', कहकर चपरासी दौडा आया। मेरा चर्खा अभी तक चल ही रहा था, चपरासी ने मेरा हाथ पकडा और दरवाज़े से वाहर कर दिया।

इस घटना से अग्रेजो की नीति एव अपनी पराधीनता का इन्हे वडा

कड़ुवा अनुभव हुआ और इस आघात ने उनके जीवन की दिशा वदलने मे बडा काम किया।

इधर यह घटना हुई, उधर काठियावाड के राज्यो का वातावरण इन्हे खलने लगा। वहाँ भीतर-भीतर नाना प्रकार के षड्यन्त्र चला करते। साहब से लडाई होने के बाद वकालत का द्वार भी वद हो गया क्योकि ज्यादातर मुकदमे उन्ही की अदालत मे होते थे। भाई इनके लिए किसी नौकरी की तलाश मे थे। इसी समय इनके भाई के पास पोरवन्दर की एक मेमन दुकान का सन्देशा आया "दक्षिण अफ्रीका मे हमारा व्यापार है। हमारी दुकान बडी है। वहाँ हमारा एक बडा मुकदमा चल रहा है। चालीस हजार पौण्ड का दावा है। मामला वहुत दिनो से चल रहा है। हमारी तरफ वडे-बडे और अच्छे बैरिस्टर है। यदि अपने भाई को वहाँ भेज दे तो हमे भी मदद मिलेगी और उनकी भी कुछ मदद हो जायगी। वह हमारा मामला हमारे वकीलो को अच्छी तरह समझा सकेगे। इसके अलावा नये देश की यात्रा भी होगी।" इस सम्वन्ध मे दादा अव्दुल्ला के हिस्सेदार सेठ अव्दुलकरीम से मिलने पर मालूम हुआ कि 'ज्यादा मेहनत का काम नही है। जाने-आने का पहले दर्जे का केराया मिलेगा, घर के वगले मे जगह मिलेगी, खाना भी मिलेगा और १०५ पौण्ड मिलेगे। एक साल का काम है।' गाधीजी ने हामी भर ली और पहले दर्जे का टिकट ले अप्रैल १८९३ मे जहाज से दक्षिण अफ्रीका को रवाना हुए।

दक्षिण अफ्रीका की यात्रा

दक्षिण अफ्रीका में

मई के अन्त मे वह नेटाल के डरवन वदर पर उतरे। उन्हे लिवाने अव्दुल्ला सेठ आये थे। जहाज मे उतरते ही लोगो के व्यवहार को देख

वह समझ गये कि यहाँ हिन्दुस्तानियो का विशेप आदर नही है। दूसरे या तीसरे दिन अबदुल्ला सेठ इन्हे डरवन की अदालत दिखाने ले गये और कई आदमियो से परिचय करा दिया। अदालत मे अपने वकील के पास इन्हे वैठाया। मजिस्ट्रेट इन्हे कुतूहलपूर्ण दृष्टि से देखता रहा। फिर इनसे पगडी उतार देने को कहा। इन्होने इन्कार किया और उठकर वाहर चले आये। यहाँ भी इनके भाग्य मे लडाई ही लिखी थी।

पगडीवाली घटना को लेकर इन्होने अखवारो मे आन्दोलन शुरू किया। उन दिनो भारतीयो को दक्षिण अफ्रीका मे नीची निगाह से देखा जाता था (और वह वात तो आज भी है)। गाँधी को भी अग्रेज 'कुली वैरिस्टर' कहते। घटना लेकर अखवारो मे खूव चर्चा हुई। किसी ने पक्ष-समर्थन किया, किसी ने भर-पेट निन्दा की। इस प्रकार शीघ्र ही इनकी प्रसिद्धि अफ्रीका मे हो गई।

धीरे-धीरे लोगो से परिचय भी बढने लगा। डरवन के ईसाई भारतीयो के सम्पर्क मे आये। डरबन अदालत के दुभाषिया श्री पाल रोमन (जो कैथलिक थे) तथा प्रोटेस्टेण्ट मिशन के शिक्षक श्री गाडफ्रे से भी परिचय हुआ। पारसी रुस्तमजी और आदमजी मियाँ खान से भी जान-पहचान हो गई। ये लोग पहले आपस मे वहुत कम मिलते थे पर इनके प्रयत्न से अव अकसर मिलने लगे।

इसी समय दुकान के वकील का एक पत्र आया कि मुकदमे की तैयारी के लिए या तो अब्दुल्ला सेठ को प्रिटोरिया जाना चाहिए या दूसरे किसी को वहाँ भेजना चाहिए। अब्दुल्ला सेठ ने गुमाश्तो को वुलाकर कहा कि गाधी को सव मामला समझा दो। मामला समझकर यह प्रिटोरिया जाने को तैयार हो गये। वैरिस्टर गाधी के लिए रेल के पहले दर्जे का टिकट लिया गया था। सोने की जगह के लिए पाँच शिलिग का

एक और टिकट लेना पडता था। अबदुल्ला सेठ के बहुत कहने पर भी इन्होने सोने का टिकट न लिया। रात को ९ बजे ट्रेन नेटाल की राजधानी मेरीत्सबर्ग पहुँची। उस समय का सजीव वर्णन गाँधीजी ने अपनी 'आत्म-कथा' मे किया है—"·· यहाँ सोने वालो को बिछौने दिये जाते है। एक रेलवे के नौकर ने आकर पूछा—'आप बिछौना चाहते है ?' मैने कहा—'मेरे पास मेरा बिछौना है।' वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे हिन्दुस्तानी देखकर चकराया। बाहर गया। और एक-दो कर्मचारियो को लेकर आया। किसी ने मुझसे कुछ न कहा। अन्त को एक अफसर आया। उसने कहा—'चलो, तुमको एक दूसरे डब्बे मे जाना होगा।' मैने कहा—'पर मेरे पास पहले दरजे का टिकट है।' उसने उत्तर दिया—'परवा नही, मै तुमसे कहता हूँ कि तुम्हे आखरी डब्बे मे बैठना होगा'—'मै कहता हूँ कि मै डरबन से इसी डब्बे मे बिठाया गया हूँ और इसी मे जाना चाहता हूँ।' अफसर बोला—'यह नही हो सकता। तुम्हे उतरना होगा और नही तो सिपाही आकर उतारेगा।' मैने कहा—'तो अच्छा, सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मै अपने आप न उतरूँगा।' सिपाही आया। उसने हाथ पकडा और धक्का देकर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया। मैने दूसरे डब्बे मे जाने से इन्कार किया। गाडी चल दी। मै वेटिग रूम मे बैठा। हैड बेग अपने साथ रक्खा। दूसरे सामान को मैने हाथ न लगाया। रेलवे वालो ने सामान कही रखवा दिया। मौसम जाडे का था। दक्षिण अफ्रीका मे ऊँची जगहो पर बडे ज़ोर का जाडा पडता है। मेरित्सबर्ग ऊँचाई पर था—इससे खूब जाडा लगा। मेरा ओवररकोट मेरे सामान मे रह गया था। सामान मागने की हिम्मत न हुई। कही फिर बेइज्जती न हो। जाडे मे सिकुडता और ठिठुरता रहा। कमरे मे रोशनी न थी। आधी रात के

समय एक मुसाफिर आया। ऐसा जान पडा मानो वह कुछ वात करना चाहता हो,पर मेरे मन की हालत ऐसी न थी कि वाते करता। मैंने सोचा, मेरा कर्तव्य क्या है ?—'या तो मुझे अपने हको के लिए लडना चाहिए, या वापस लौट जाना चाहिए। अथवा जो वेइज्जती हो रही है, उसे वर्दाश्त करके प्रिटोरिया पहुँचूँ और मुकदमे का काम खतम करके देश चला जाऊँ। मुक़दमे को अधूरा छोड़कर भाग जाना तो कायरता होगी। मुझपर जो वीत रही है वह तो ऊपरी चोट है—वह तो भीतर के महारोग का वाह्य लक्षण है। यह महारोग है—वर्ण-द्वेष। यदि इस गहरी वीमारी को उखाड फेकने का सामर्थ्य हो तो उसका उपयोग करना चाहिए। उसके लिए जो-कुछ कष्ट-दु ख सहन करने पडे, सहना चाहिए। इन अन्यायो का विरोध उसी हद तक करना चाहिए जिस हद तक उसका सम्बन्ध वर्ण-द्वेष दूर करने से हो।' ऐसा सकल्प करके मैंने, जिस तरह हो, दूसरी गाडी से आगे जाने का निश्चय किया। सुबह मैंने जनरल मैनेजर को तार-द्वारा एक लम्बी शिकायत लिख भेजी। दादा अवदुल्ला को भी समाचार भेजे। अवदुल्ला सेठ तुरत जनरल मैनेजर से मिले। जनरल मैनेजर ने अपने आदमियो का पक्ष तो लिया पर कहा कि मैंने स्टेशन मास्टर को लिखा है कि गाधी को बिला खरखशा मुकाम पर पहुँचा दो। अवदुल्ला सेठ ने मेरीत्सवर्ग के हिन्दू व्यापारियो को भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रवन्ध करने के लिए तार दिया तथा दूसरे स्टेशनो पर भी ऐसे तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशन पर मुझसे मिलने आये। उन्होने अपने पर होने वाले अन्यायो का जिक्र मुझसे किया और कहा कि आप पर जो कुछ वीता है वह कोई नई वात नही है। पहले-दूसरे दरजे मे जो हिंदुस्तानी सफर करते है उन्हे क्या कर्मचारी और क्या मुसाफिर दोनो सताते है।"

पर इतने से ही अपमान की कथा पूरी न हुई। मोहनदास सुबह

चार्लसटाउन पहुँचे। वहा से जोहान्सवर्ग तक उन दिनो ट्रेन न थी, घोडा-गाडी जाती थी और बीच मे एक रात स्टैंडर्टन मे रहना पडता था। वैरिस्टर मोहनदास के पास इस घोडा-गाडी का टिकट था। एक दिन पिछड जाने से वह रद न होता था। अबदुल्ला सेठ ने भी घोडागाडी के अफसर को तार दे दिया था पर उसने इन्हे अजनवी आदमी समझकर कहा—"तुम्हारा टिकट तो रद्द हो गया है।" यह बहाना—मात्र था और इसका मतलव यह था कि गोरे मुसाफिरो के साथ इन्हे वैठाना न पडे तो अच्छा। घोडागाड़ी मे वाहर की तरफ कोचवान के वाये-दाये दो जगहे थी। उनमे से एक पर घोडा-गाडी कम्पनी का एक गोरा अफसर बैठता था परन्तु इन्हे गोरो के साथ न बैठाने की नीयत से वह स्वय अन्दर बैठा और इनको बाहर बैठाया। इसमे अपमान का अनुभव तो हुआ पर उस समय झगडा करने मे कोई लाभ न देख, वह वही बैठ गये।

जले पर नमक

पर आगे और अपमान बदा था। रात को तीन वजे के लगभग उस गोरे अफसर को वाहर (जहाँ यह बैठे थे) बैठकर सिगरेट पीने की इच्छा हुई। उसने इन्हे पाव रखने के नख्ते पर बैठने को कहा। यह अपमान इनसे सहन न हुआ। इन्होने विरोध किया। इसपर उसने कई थप्पड मारे और हाथ पकडकर नीचे खीचने लगा। अन्दर के यात्रियो को कुछ दया आई। उनके झिडकने पर गुर्राता हुआ वह बैठ गया।

रात को स्टेण्डर्टन पहुँचे। वहाँ ईसा सेठ (इन्हे अवदुल्ला सेठ ने तार दिया था) के आदमी आये थे। वह इन्हे दुकान पर ले गये। इन्होने ईसा सेठ इत्यादि से सारी घटना सुनाई। उन लोगो को दुख हुआ। पर उन्होने ऐसी कई घटनाएँ सुनाकर आश्वासन दिया। उसके वाद गाँधी ने घोडा-गाडी कम्पनी के एजेण्ट को चिट्ठी लिखी। उसने सदेशा भेजा

कि यहाँ से बडी घोडा-गाडी जाती है। आपको उसमे सबके साथ ही जगह दी जायगी। खैर, वहाँ से चलकर रात को जोहान्सबर्ग पहुँचे। स्टैण्ड पर मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन का आदमी तो आया था पर इन्होने उसे न पहचाना, न उसने पहचाना। वह लौट गया। यह एक होटल मे पहुँचे पर मैनेजर ने कहा—"खेद है, सब कमरे भरे हुए है।" उसके बाद यह गाडी करके सेठ कमरुद्दीन की दुकान पर आये और उनसे होटल की बात कही। वे लोग हसे और इन्हे बताया कि 'गोरे लोग अपने होटलो मे हमे जगह नही देते। यहाँ वर्ण-द्वेष बडा ज़बर्दस्त है। आप कल प्रिटोरिया जायँगे पर हम लोगो को पहले-दूसरे दर्जे के टिकट ही नही देते। आपको तीसरे दर्जे मे जाना पडेगा।" इन्होने मँगाकर रेल के कानून-कायदे देखे। उसमे ऐसी कोई रोक न मिली। तब इन्होने पहले दर्जे मे ही जाने का निश्चय प्रकट किया। स्टेशन मास्टर को चिट्ठी लिखी कि 'मै बैरिस्टर हूँ,—सदा पहले दर्जे मे सफर करने का आदी हूँ। आशा है मुझे टिकट मिल जायगा। मै स्वय स्टेशन पर आपसे मिलूँगा।'

उचित समय पर यह अग्रेज़ी भेप-भूपा मे स्टेशन पहुँचे। इनकी बातो से स्टेशन मास्टर को दया आई। उसने इनके साथ सहानुभूति प्रकट की और इस शर्त पर टिकट दिया कि यदि रास्ते मे गार्ड उतार दे तो आप रेलवे कम्पनी पर दावा न करे। यह धन्यवाद देकर पहले दर्जे मे जा बैठे। कुछ समय बाद गार्ड टिकट देखने आया और इन्हे देखते ही झल्लाया और असभ्य भापा मे तीसरे दर्जे मे जाने के लिए कहने लगा। इन्होने टिकट दिखाया; विरोध किया पर उसने कहा—'टिकट है तो क्या? तुझे तीसरे दर्जे मे बैठना पड़ेगा।' इस डब्बे मे एक ही अग्रेज यात्री थे। उन्होने गार्ड को डाँटा और इनसे/आराम के साथ बैठने को कहा। गार्ड यह कहता और

घूँट-पर-घूँट

भुन-भुनाता चला गया कि 'तुझे कुली के साथ बैठना हो तो बैठ। मेरा क्या?'

राम-राम करके रात को आठ बजे प्रिटोरिया पहुँचे और एक अमेरिकन होटल मे रात बिताई। दूसरे दिन अबदुल्ला सेठ के वकील श्री बेकर से मिले और उनकी सहायता से ३५ शिलिग प्रति सप्ताह पर एक बाई के घर पर रहने का इन्तजाम हो गया। यह बेकर साहब कट्टर पादरी भी थे। इनका एक प्रार्थना-समाज था। श्री बेकर ने ईसाई धर्म की ओर आकर्षित करने के विचार से इनको भी इसमे बुलाया। गाधी की मुक्ति और मार्ग-प्रदर्शन के लिए सबने प्रार्थना की। धीरे-धीरे यहाँ कुमारी हैरिस, गेब एव मि० कोट्स से परिचय हुआ। दोनो महिलएँ साथ रहती थी। उन्होने हर रविवार को ४ बजे चाय पीने के लिए अपने यहा इन्हे निमन्त्रित करना शुरू किया। ये सब गाँधी को ईसाई बनाने के फेर मे थे। श्री कोट्स ईसा एव ईसाई धर्म-सम्बन्धी अनेक पुस्तके इन्हे पढने को देते।

भारतीयो से परिचय

प्रिटोरिया के भारतीयो मे सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मद की बडी प्रतिष्ठा थी। नेटाल मे जो स्थान दादा अब्दुल्ला का था वही प्रिटोरिया मे उनका था। उनके बिना वहाँ कोई सार्वजनिक काम न हो सकता था। उन्होने खुशी से गाँधी को सहायता देना स्वीकार किया।

उनकी तथा अन्य भाइयो की सहायता से इन्होने भारतीयो की एक सभा की जिसमे उन्हे समझाया कि "व्यापार मे भी सत्य को न छोडना चाहिए। विदेश मे आपको देखकर, भारतीय सभ्यता का अन्दाज लगाया जाता है इसलिए अपनी जिम्मेदारी और बडी है।" इसके अलावा इस सभा मे गन्दगी दूर करने और हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मद्रासी, पजाबी, सिंधी इत्यादि का भेद भुला देने की भी अपील की और सुझाया कि एक मण्डल की स्थापना करके भारतीयो के दु ख-कष्ट का

उपाय अधिकारियो से मिलकर एव प्रार्थना-पत्र इत्यादि के द्वारा करना चाहिए। वाद मे नियमित रूप से भारतीयो की सभा होने लगी। इसमे परस्पर सलाह-मशविरे होते। धीरे-धीरे प्रिटोरिया के प्राय समस्त भारतीयो से इनका परिचय हो गया। भारतीयो की स्थिति का भी पूरा ज्ञान हुआ। ब्रिटिश एजेण्ट से मिले, उन्होने आश्वासन दिया। रेलवे अधिकारियो से भी गाधी ने लिखा-पढी की और उन्हे दिखाया कि हिंदुस्तानियो की यात्रा मे जो रुकावटे डाली जाती है वे उनके ही नियमो के अनुसार बेजा है। इसके उत्तर मे पत्र मिला कि साफ-सुथरे और अच्छे कपडे पहननेवाले भारतीयो को ऊपर के दर्जे के टिकट दिये जायँगे। इससे समस्या हल तो न हुई पर कुछ सुविधा हुई।

× × × ×

भारतीयो की दुर्दशा

'आरेज फ्री स्टेट' मे १८८३ के पहले एक कानून वनाकर भारतीयो के तमाम अधिकार छीन लिए गये थे। सिर्फ होटल मे 'वेटर' वनकर रहने या इसी प्रकार की छोटी मेहनत-मजूरी करते रहने का अधिकार रह गया था। भारतीय व्यापारियो को नाम-मात्र का मुआवजा देकर वहाँ से हटा दिया गया। उनके आवेदन-पत्र रद्दी की टोकरी मे फेक दिये गये। इसी प्रकार १८८५ ई० मे ट्रासवाल मे भी कड़ा कानून वनाया गया। विरोध करने पर १८८६ ई० मे उसमे कुछ सुधार हुआ और नियम बना कि प्रवेश फीस के तौर पर प्रत्येक हिन्दुस्तानी ३ पौंड दे। उनके लिए जमीन पर मालकी पाने का अधिकार कुछ निश्चित हिस्सो मे ही रक्खा गया। पर व्यवहार मे ये सुविधाएँ भी न मिलती थी। मताधिकार किसी को कुछ न था। भारतवासी 'फुटपाथ' (पगडण्डी) पर न चल सकते थे, रात को ९ वजे के वाद विना परवाने के वाहर न निकल सकते थे।

इधर गाँधी रात को देर तक कोट्स के साथ घूमते थे। इसमे पुलिस से झडप होने का डर रहता ही था इसलिए श्री कोट्स ने इन्हे सरकारी वकील डा० क्राउजे से मिलाया। वह और गाँधी एक ही 'इन' के वैरिस्टर निकले। यह वात कि ९ वजे रात के वाद निकलने के लिए गाँधी को परवाने की ज़रूरत है, उन्हे अनुचित मालूम पडी और उन्होने अपनी तरफ से एक पत्र दे दिया कि पत्रवाहक को हर समय कही भी जाने का अधिकार है, पुलिस इन्हे न रोके। डा० क्राउजे एव उनके भाई (जो जोहान्सवर्ग के पब्लिक प्रासीक्यूटर थे) से धीरे-धीरे अच्छा परिचय होगया।

मुकदमे में समझौता

जिस मामले को लेकर यह दक्षिण अफ्रीका आये थे, इसका इन्होने गहरा अध्ययन किया। दोनो पक्ष के कागज-पत्र देखे। इससे इन्हे निश्चय हो गया कि उनके मुवक्किल का पक्ष वहुत मजवूत है। पर इनमे स्वार्थ-भाव तो था नही, यह दिल से दोनो पक्षो का हित चाहते थे। इन्होने देखा कि मुकदमे मे दोनो पक्ष उजड जायँगे। इसलिए यह विपक्ष के तैयव सेठ से मिले, उन्हे वहुत समझाया। अन्त मे मामला पचायत मे गया और वहाँ फैसला हुआ उसे दोनो पक्षो ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। इस सफलता से गाधी को वडी प्रसन्नता हुई। इन्होने समझ लिया कि वकील का काम टके कमाना नही, दोनो पक्षो के वीच पडी खाई को पाट देना है।

× × × ×

धार्मिक मंथन

उधर मि० वेकर तथा अन्य ईसाई मित्र इन्हे ईसाई बनाने पर तुले थे। पर उनकी वताई ईसाई धर्म की अनेक वातो पर इन्हे शका होती थी। वह ईसा को महात्मा मानते थे पर चमत्कारी जीव न मान सकते थे और न यही मान सकते थे कि वही ईश्वर के एक-मात्र पुत्र है। इधर हिन्दूधर्म की कई कुरीतियो के

विषय मे भी इनका सशय वढ रहा था। इसे दूर करने के लिए इन्होने रायचन्द भाई की शरण ली। उन्होने इन्हे धीरज के साथ हिन्दूधर्म का अध्ययन करने की सलाह दी और लिखा कि 'हिन्दूधर्म मे जो सूक्ष्म और गूढ विचार है, जो आत्म-निरीक्षण और दया है, वह दूसरे धर्म मे नही है।' उधर मेटलैण्ड, एना किंग्सफर्ड एव टाल्सटाय के साहित्य से ईसाई धर्म-सम्बन्धी इनकी शकाओ को पुष्टि मिली। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-धर्म पर धीरे-धीरे इनकी श्रद्धा वढ चली और आगे जाकर उसके आन्तरिक रहस्यो का भी इन्होने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया पर ईसाई एव मुसलमान धर्म की कई वातो का इनपर अच्छा प्रभाव पडा। इस-लिए इनमे सव धर्मो के प्रति आदर का भी भाव रहा और आज तो वह वहुत वडे परिमाण एव दिव्य-रूप मे वर्त्तमान है।

× × × ×

दोनो दलो मे समझौता हो जाने के बाद यह डरबन गये और वहाँ से भारतवर्ष लौटने की तैयारी की। पर इसी समय नेटाल धारासभा मे हिन्दुस्तानियो का मताधिकार छीनते के लिए पेश होनेवाले कानून के वारे मे आन्दोलन करने के लिए, मित्रो की सलाह से, रुक गये।

भारतीयोमें जागरण का आरम्भ

सबसे पहले हाजी महम्मद दादा के सभापतित्व मे अवदुल्ला सेठ के मकान पर एक सभा की गई। इस सभा मे नेटाल मे जन्मे सभी प्रकार के हिन्दुस्तानी—ईसाई भी—बुलाये गये थे। डरबन की अदालत के दुभाषिया श्री पाल और मिशन स्कूल के हेडमास्टर श्री गाडफ्रे तथा उनके साथ बहुतेरे ईसाई नवयुवक आये। प्राय सभी प्रतिष्ठित व्यापारी मौजूद थे। इस सभा मे फ्रेंचाइज विल के विरोध का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और लोगो ने स्वयसेवको मे अपना नाम लिखाया। धारा-सभा के अध्यक्ष, मुख्य प्रधान

सर जान राबिसन और मि० एस्कम्ब को तार दिये गये कि वे बिल प
आगे विचार स्थगित कर दे । तार का जवाब मिला कि बिल पर च
दो दिन तक स्थगित रहेगी । इससे लोगो को खुशी हुई । दरख्वास्त व
मस्विदा तैयार हुआ । उसकी तीन प्रतियाँ भेजी जाने को थी । एक प्र
अखबारो के लिए भी तैयार करनी थी । उसपर अधिक से अधिक सहिय
लेनी थी और यह सब काम रात-भर मे पूरा करना था । व्यापारी तथा
दूसरे स्वयसेवक सारी रात जगे । दर्ख्वास्त गई, अखबारो मे छपी ।
उसपर अनुकूल टिप्पणियाँ भी हुई । धारा-सभा मे भी उसकी खूब चर्चा
हुई । किन्तु इतने पर भी बिल तो पास हो ही गया ।

यह तो होना ही था पर तने आन्दोलन से हिन्दुस्तानियो मे नया जीवन आ गया । भेद-भाव मिट गये । सबने समझा कि हम सबका समाज एक है, हम सब हिन्दुस्तानी है और राष्ट्रीय अधिकारो के लिए मिल-जुलकर लडना हमारा धर्म है ।

बिल पास होने के बाद यह निश्चय किया गया कि एक भारी दर्ख्वास्त लिखकर अधिक से अधिक सहियो के साथ उपनिवेश-मन्त्री लार्ड रिपन को भेजी जाय । काम शुरू हुआ दर्ख्वास्त पर लगभग दस हज़ार आदमियो के हस्ताक्षर हुए । उसकी एक हज़ार कापियाँ छपाकर हिन्दुस्तान के अनेक अख़बारो

प्रार्थनापत्र और प्रचार

एव नेताओ के पास भेजी गई । विलायत मे भी उसकी नकले सब दल के नेताओ के पास भेजी गई । भारत मे 'टाइम्स ऑव् इण्डिया' तथा इग्लैण्ड मे 'टाइम्स'—जैसे पत्रो ने उसका समर्थन किया । इससे बिल के स्वीकृत न होने की आशा बँधी । अब लोगो ने इन पर वही रह जाने के लिए ज़ोर डालना शुरू किया । पर खर्च का क्या हो ? लोगो ने इनका सारा व्यक्तिगत खर्च उठाने का आश्वासन दिया पर इन्होने सार्वजनिक सेवा

के लिए निजी सहायता लेना अस्वीकार कर दिया। अन्त मे प्रस्ताव हुआ कि मुकदमे दिलाने का प्रवन्ध कर दिया जाय और उससे यह अपना खर्च निकाल ले। सबको यह बात स्वीकार हुई और यह वही रह गये।

वकालत

टिकने के बाद नेटाल की अदालत मे वकालत की सनद के लिए इन्होने दरख्वास्त दी। उस समय वर्ण-द्वेष इतना जवर्दस्त था और गोरे भारतीयो को इतनी हिकारत की निगाह से देखते थे कि वकील-सभा ने इनकी दरख्वास्त का बडा विरोध किया पर अदालत ने उनका विरोध न मानकर वकीलो की सूची मे इनका नाम लिख लिया। वकील-सभा के विरोध ने इनके लिए विज्ञापन का काम किया। कितने ही अखवारो ने इनके खिलाफ उठाये गये गोरो के विरोध की निन्दा की और वकीलो पर ईर्ष्या का इलजाम लगाया। इस प्रसिद्धि से इनका आगे का काम सरल हो गया।

'नेटाल इण्डियन कॉग्रेस' की स्थापना

पर वकालत की व्यवस्था तो जीविका के लिए थी। असल काम तो भारतीयो की सेवा और सगठन का था। इसके लिए मई १८९४ ई० मे **'नेटाल इण्डियन कॉग्रेस'** की स्थापना हुई। इसमे समय-समय पर लोग इकट्ठे होते, परस्पर चर्चा एव विचार-विनिमय होता। प्रचार के उद्देश्य से गाधी ने दो पुस्तिकाएँ लिखी। पहली मे दक्षिण अफ्रीका के प्रत्येक अग्रेज से अपील की गई थी और भारतीयो की स्थिति वताई गई थी। दूसरी मे भारतीय मताधिकार के लिए अपील थी। इनका अच्छा असर हुआ। कई अग्रेजो को सहानुभूति इस कार्य मे प्राप्त हुई तथा हिन्दुस्तान मे सव दलो की ओर से मदद मिली।

× × ×

नेटाल इण्डियन कॉंग्रेस का आरम्भ तो हुआ पर अभी तक उसमे वड़े-

बडे व्यापारी, क्लर्क या शिक्षित युवक ही शामिल हुए थे। मजूर या

मजूरो से सम्पर्क

'गिरमिटिया' (जो एग्रीमेण्ट करके मजूरी के लिए लाये गये हो,—'एग्रीमेण्ट' से विगड कर ही गिरमिटिया' शब्द बन गया) न आये थे। पर ईश्वर की कृपा से ऐसा अवसर अपने-आप आ गया। एक दिन बाला सुन्दरम् नामक एक मद्रासी गिरमिटिया रोता-पीटता इनके पास आया। उसके मुँह से खून वह रहा था। उसके गोरे मालिक ने उसे इतनी बेदर्दी से पीटा था कि दो दाँत टूट गये थे। गाधी ने डाक्टर से सार्टिफिकेट लेकर मामला अदालत मे भेज दिया। मजिस्ट्रेट ने मालिक को तलब किया पर गाधी उसे सज़ा दिलाना न चाहते थे, वह सिर्फ उस नौकर को उस गोरे की गुलामी से छुडाना चाहते थे। उस समय के कानून के अनुसार बिना उसकी रजामन्दी के या बिना गिरमिटिया अफसर-द्वारा लाइसेस रद हुए वह नौकरी न छोड सकता था। यह उस गोरे से मिले, वह तो सज़ा से बचना चाहता ही था इसलिए उसने इनकी बात मजूर कर ली। इन्होने बाला सुन्दरम् को एक दूसरे अग्रेज़ के यहाँ नौकर रखवा दिया। इस घटना से गिरिमिटियो मे खूब हलचल फैली। गाधी के दफ्तर मे उनकी भीड रहने लगी और इन्हे उनके सम्पर्क आने का मौका मिला।

इसी समय एक दूसरी समस्या आखडी हुई। १८९४ ई० मे नेटाल-सरकार ने गिरमिटिया भारतीयो पर प्रतिवर्ष २५ पौण्ड (३७५ रु०) का कर लगाने का बिल तैयार किया।[१] यह अन्याय की सीमा थी।

१ असल में यह सब भारतीयो को दक्षिण-अफ्रीका से नेस्तानाबूद करने की योजना थी। बात यह है कि १८६० के लगभग जब गोरो ने देखा कि नेटाल में गन्ने की अच्छी खेती हो सकती है तो भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी करके हिन्दुस्तानी मजूरो को नेटाल ले जाने की इजाज़त

'कॉंग्रेस' मे आंदोलन करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उधर भारत के वायसराय लार्ड एलगिन के सामने जब नेटाल-सरकार ने यह तजवीज रखी तो उन्होंने २५ पौण्ड का कर घटाकर ३ पौण्ड कर दिया। यह ३ पौण्ड भी इन मजूरो के लिए बहुत था। इसलिए आदोलन शिथिल न हुआ और आगे जाकर उसने सत्याग्रह का वह रूप धारण किया जो प्रवासी भारतीयो के इतिहास मे अत्यन्त गौरवप्रद स्थान पावेगा।

दक्षिण अफ्रिका मे गाधी का काम बढता ही जाता था इसलिए उन्होने स्त्री-पुत्र को भी वहॉं लाने का निश्चय किया। साथ ही भारत मे ३ पौण्ड के कर के बारे मे भी आन्दोलन करना था।

भारत में

इसलिए १८९६ के मध्य मे यह 'पैगोला' जहाज से कलकत्ता को रवाना हुए। कलकत्ता से बम्बई जाते समय प्रयाग मे 'पायो-

---

प्राप्त कर ली। उन्हे लालच दिया कि पॉंच साल तक तो तुम्हे हमारे यहॉं काम करना पडेगा, बाद में आजाद हो; शौक से नेटाल में रहो। उन्हे जमीन की मालकी का पूरा हक था। भारतीय कुलियो ने अपने परिश्रम से नेटाल की भूमि को हरा-भरा कर दिया। तरह-तरह की शाक-तरकारियॉं बोईं; आम लगाये; दूसरे फल पैदा किये। उन्होने जमीने खरीदीं; बाद में व्यापार भी करने लगे। इससे गोरे व्यापारी चौंके। वे व्यापार में भारतीयो की प्रतिद्वद्विता सहन न कर सकते थे। इसीलिए एक ओर मताधिकार छीन लेने और दूसरी ओर कर लगाने के रूप में यह विरोध प्रकट हुआ। करवाले बिल की मुख्य धाराएँ ये थीं—(१) मजदूरी का इकरार पूरा होने पर गिरमिटिया हिन्दुस्तान लौट जाय (२) दो-दो बर्ष की गिरमिट (एग्रीमेण्ट) नये सिरे से कराता रहे और ऐसी हर गिरमिट में उसके वेतन में कुछ वृद्धि होती रहे (३) यदि भारत वापस न जाय और फिर मजूरी का इकरार भी न करे तो हर साल २५ पौण्ड का कर दे।

नियर' के सहायक सम्पादक श्री चेजनी से मिले। यद्यपि 'पायोनियर' साधारणत भारतीय आकाक्षाओ का विरोधी था पर सम्पादक ने वचन दिया कि 'जो-कुछ आप लिखेगे, मै उस पर तुरन्त टिप्पणी करूगा।' इसके वाद यह वम्बई जाते हुए राजकोट गये। वहाँ एक पुस्तक लिखी जिसमे दक्षिण-अफ्रिका के भारतीयो की स्थिति का चित्र था। आवरण पृष्ठ हरे रग का होने के कारण यह 'हरी पुस्तक' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसकी दस हजार प्रतियाँ छपवाई गई थी और भारत के प्राय सभी समाचारपत्रो एव प्रतिष्ठित आदमियो के पास भेजी गई थी। 'पायोनियर' ने सबसे पहले उसपर लेख प्रकाशित किया जिसका असर विलायत एव नेटाल मे भी हुआ। प्राय सभी पत्रो ने टीका-टिप्पणी की।

इस सिलसिले मे यह वम्बई, पूना, मद्रास गये। सब दल के नेताओ से मिले। फीरोजशाह मेहता, लोकमान्य, गोखले इत्यादि से काफी सहायता मिली। सभाएँ हुई। प्रचार हुआ। दक्षिण अफ्रिका मे मद्रासी अधिक है इसलिए मद्रास मे तो वडा उत्साह पैदा हुआ। वहाँ उस 'हरी पुस्तक' की १० हज़ार प्रतियाँ और छपाई गई। 'मद्रास स्टैंण्डर्ड' पत्र ने इस कार्य मे वडी सहायता की।

मद्रास से यह कलकत्ता गये। वहाँ सुरेन्द्रनाथ, राजा सर प्यारी मोहन मुकर्जी एव महाराजा टागौर से मिले। पर इन लोगो ने कुछ ध्यान न दिया। 'अमृत वाजार पत्रिका' एव 'वगवासी' वालो ने तो अपमान-जनक व्यवहार भी किया। पर जहाँ हिन्दुस्तानी क्षेत्र मे सहायता न मिली, वहाँ अग्रेजो की सहायता सहज ही प्राप्त हुई। 'स्टेट्समैन' एव 'इग्लिश-मैन' के सम्पादको से मिले। उन्होने अपने पत्रो मे इनके साथ हुई लम्बी वात-चीत छापी। 'इग्लिशमैन' के श्री साण्डर्स ने तो कहा कि आप मेरे पत्र का यथेच्छ उपयोग कर सकते है। उन्होने अपने अग्रलेख मे कमी-वेशी

करने की छूट भी इन्हे दे दी । उन्होने सदा अपना वादा निवाहा।

जब यह इस प्रकार प्रचार-कार्य मे लगे हुए थे तब एक दिन इन्हे डरबन से तार मिला—"पार्लमेण्ट की बैठक जनवरी मे होगी, जल्दी आइए।" दादा अब्दुल्ला ने स्वय 'कुरलैण्ड' जहाज खरीद लिया था। इसी जहाज़ से १८९६ की दिसम्बर के आरम्भ मे अपनी धर्मपत्नी, दो बच्चो एवं स्वर्गीय बहनोई के एकलौते पुत्र को लेकर यह दूसरी बार दक्षिण-अफ्रिका को रवाना हुए। इस जहाज के साथ 'नादरी' नामक एक और भी जहाज था, जिसके एजेण्ट दादा अब्दुल्ला थे। इनमे लगभग ८०० यात्री थे।

फिर दक्षिण अफ्रिका की ओर

१८ या १९ दिसम्बर को दोनो जहाज डरबन बन्दर पर पहुँचे। लगर डाला। उन दिनो बन्दरगाहो पर यात्रियो की कडी डाक्टरी जाँच होती थी। इन जहाजो पर भी डाक्टर आये। जॉच की और कहा—"अभी मुसाफिर पाँच दिन जहाज पर ही रहेगे क्योकि बम्बई से चलते समय सम्भव है ये प्लेग के कीटाणु साथ लाये हो। इसके लिए २३ दिन तक सूतक रखना ही चाहिए। अभी १८ ही दिन हुए है।'

परन्तु यह सब तो बहाना था। असल बात यह थी कि गाधी के भारत मे किये आन्दोलन की अधूरी खबरे पढ-पढकर गोरे विगड खडे हुए थे। जगह-जगह उनकी बडी सभाएँ हो रही थी। वे दादा अब्दुल्ला को धमकियाँ दे रहे थे। जहाज़ भारत को लौटा देने पर उसका सारा ख़र्च देने को तैयार थे। यात्रियो को भी धमकियाँ दी जा रही थी। उनका कहना था कि गाधी ने हिन्दुस्तान मे हमारी अनुचित निन्दा की है। दूसरे वह नेटाल को हिन्दुस्तानियो से भर देना चाहता है इसलिए इतने आदमी जहाज़ मे भर लाया है। पर ये दोनो बाते झूठी थी। इसलिए गाधी अविचल रहे

गोरो का तूफानी विरोध

और मुसाफिरो को ढाढस वँधाया। अन्त को २३ दिन के वाद १३ जनवरी को मुसाफिरो को उतरने की आज्ञा मिल गई। मुसाफिर उतरे पर सरकारी वकील श्री एस्कव ने कप्तान को कहला दिया कि गाधी तथा उनके वाल-वच्चो को शाम को उतारना क्योकि गोरे इस समय वहुत विगडे हुए है और उनकी जान का खतरा है। पर वाद मे दादा अब्दुल्ला के वकील श्री लाटन आये और उन्होने कहा कि इस प्रकार गुप-चुप जाना उचित न होगा; फिर गोरे भी विखर गये है। उनकी सलाह से गाधी ने धर्मपत्नी एव वच्चो को गाडी मे रुस्तम सेठ के घर भेजा और स्वय श्री लाटन के साथ पैदल चले।

पर कुछ छोकरो ने इन्हे पहचान लिया और 'गाधी-गाधी' चिल्लाने लगे। धीरे-धीरे भीड वढती गई। उनमे श्री लाटन अलग पड गये और

मार

इनपर ककर और सडे अण्डे वरसने लगे। वाद मे किसीने पगडी गिरा दी और लातो एव थप्पडो की मार शुरू हुई। गाधी को चक्कर आने लगा। इतने मे ही पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट श्री अलेकजेण्डर की पत्नी उधर से निकली। वह इन्हे पहचानती थी। देखते ही इनके पास आ गई एव अपना छाता इनपर तान दिया। इससे भीड कुछ रुकी। इसी समय, किसी हिन्दुस्तानी के खवर देने पर, पुलिस की एक टुकडी इनकी रक्षा के लिए आ गई। उसकी हिफाज़त मे यह पारसी रुस्तमजी के घर पहुँचे। वहाँ इनका इलाज किया गया। पर गोरे तो वहुत उत्तेजित हो गये थे। उन्होने घर को घेर लिया। मौका वेढव देख पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री अलेकज़ेण्डर वहाँ पहुँच गये और इन्हे गुप्त सन्देश भेजा कि इस समय आप वेश वदलकर घर से निकल जायँ, नही तो आपके साथ आपके मित्र के जानोमाल को खतरा है। ऐसा ही किया गया। यह वेश वदलकर थाने मे चले गये। पीछे शिकार

निकल जाने की वात मालूम होने पर भीड तितर-वितर हो गई।

इस घटना के वाद स्व० श्री चेम्वरलेन ने नेटाल-सरकार को तार दिया कि गाधी पर हमला करनेवालो पर मुकदमा चलाया जाय। श्री

क्षमा-भाव

एस्कम्ब ने इन्हे बुलाकर यह सदेश दिया। पर गाधी ने कहा—'इसमे वेचारे गोरो का क्या दोष है ? वे झूठी खबरो से उत्तेजित किये गये थे। जब उन्हे अपनी भूल मालूम होगी तो आप पश्चात्ताप करेगे। मै उनपर मुकदमा नही चलाना चाहता।' इसी आशय का पत्र भी लिखकर उन्होने दे दिया। इस स्थान पर इन्होने अपनी अहिसा एव क्षमा-वृत्ति का अपूर्व परिचय दिया। और इसका अग्रेजो पर अच्छा प्रभाव पडा। गोरो को शर्मिन्दा होना पड़ा। अखबारो ने गाधी को निर्दोष बताया और हुल्लडकारियो की निन्दा की।

तीन-चार दिन मे फिर सब काम-काज ठीक तौर से चलने लगा। यह घर आ गये। इस घटना के कारण इनकी वकालत भी चमक गई।

दो बिल

परन्तु इससे जहाँ हिन्दुस्तानियो की प्रतिष्ठा बढी वहाँ उनके प्रति गोरो का भय और रोष वढ गया। इसी समय नेटाल की धारा-सभा मे दो और बिल पेश हुए। इनमे से एक से भारतीयो के व्यापार-धन्धो को गहरी हानि पहुँचनेवाली थी और दूसरे से उनके नेटाल आने-जाने मे वाधा पडती थी। इस सम्वन्ध मे भी गाँधी ने वहुत आन्दोलन किया। विलायत तक मामला गया पर बिल तो स्वीकृत हो ही गये।

इन झगडो के कारण जो बेदारी आई उससे 'नेटाल इण्डियन काग्रेस' का कार्य खूब बढ गया। रुपये भी काफी आ गये और उसका अपना मकान भी हो गया। ज्यो-ज्यो कार्य बढ़ता गया, इनका अधिक समय सार्वजनिक कामो मे जाने लगा। इससे तथा धार्मिक चिंतन से इनके

अन्दर यह भाव पैदा हुआ कि सेवा एव विषयासक्ति मे परस्पर घोर विरोध है। इसलिए पति-पत्नी-सम्बन्ध मे दिन-दिन विषय-भोग को हटाने की ओर इनका ध्यान गया और इधर प्रयत्नशील हुए। इसी सिलसिले मे भोजन मे भी सादगी लाने का निश्चय हुआ क्योकि ब्रह्मचर्य का अस्वाद मे घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके साथ ही स्वावलम्बन का भाव भी आया और धोवी, नाई इत्यादि के काम घर मे ही अपने हाथो कर लेने का भाव पैदा हुआ। इस तरह एक ओर सार्वजनिक सेवा को और दूसरी ओर पवित्रता एव सादगी को जीवन मे प्रधानता मिलने लगी। डा० वूथ की देखरेख मे दो घण्टे रोज़ नियमित रूप से रोगियो को दवा देने इत्यादि का काम भी करने लगे। इससे रोगियो की सेवा एव परिचर्या-प्रणाली का इनको अच्छा अनुभव हुआ जो आगे चलकर इनके कार्य मे सहायक हुआ।

दाम्पत्य जीवन में पवित्रता

बोअर-युद्ध

इसी समय (१८९७–९९) बोअर[१] युद्ध छिड़ गया। अबतक ब्रिटिश शासन की न्यायपूर्णता मे गाधीजी का विश्वास बना था। इसलिए जितने साथी मिल सके उनको लेकर घायलो की सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकडी इन्होने तैयार की। डा० वूथ ने आवश्यक शिक्षा लोगो को दी तथा डॉक्टरी प्रमाणपत्र भी दिला दिये। उस समय तक अग्रेज़ो की धारणा थी कि हिन्दुस्तानी जोखम के कामो मे नही पडते। इसलिए भी गाधी को इस समय कुछ करने की वात ज्यादा अपील कर गई। सरकार ने भी अपने सकट के समय यह सहायता स्वीकार करली।

स टुकडी मे लगभग ११०० आदमी थे। उस समय इस टुकडी के सेवा-कार्य की वडी प्रशसा हुई। जेनरल वुलर ने अपने ख़रीते मे

१. दक्षिण अफ्रीका के डच।

सकी प्रशसा की। मुखियो को लडाई के तमगे भी मिले और हिन्दु-तानियो की प्रतिष्ठा बहुत वढ गई। गोरो के व्यवहार मे भी कुछ न्तर आया।

× × × ×

अन्य सेवाएँ

दक्षिण-अफ्रिका के भारतीयो पर गन्दगी का आरोप प्राय लगाया जाता था। जब डरवन मे प्लेग का प्रवेश और प्रकोप हुआ तब इन्होने म्युनिसिपलिटी की सम्मति से इस विषय मे वडा काम किया। दिन-दिन इनमे शुद्ध सेवा का भाव वढता जा रहा था और ज्यो-ज्यो सेवा का भाव वढा त्यो-त्यो सत्य का रूप मन मे स्पष्ट होता गया, त्याग की भावना तीव्र होती गई।

त्याग की प्यास

युद्ध का काम समाप्त होने पर इन्होने भारत लौटने का निश्चय किया पर लोगो ने इस शर्त्त पर इन्हे छुट्टी दी कि 'यदि एक साल के अन्दर फिर आवश्यकता पडी तो यहा लौटना पडेगा।' इस समय भेट मे इन्हे तथा पत्नी को हीरा-जवाहर सोना-चादी इत्यादि की अनेक कीमती चीजे (विदाई के) उपहार में मिली। इनके मन मे यह प्रश्न पैदा हुआ कि ये चीजे सार्वजनिक सेवा के बदले मिली है इसलिए इन्हे लेने का हमे क्या हक है? रात-भर इनके मन मे सघर्ष चलता रहा। अन्त मे सत्य का प्रकाश मन मे आया। सत्य की विजय हुई। इन्होने इन चीज़ो को न लेने का ही निश्चय किया और ट्रस्ट बनाकर वह सारी रकम एव चीजे उन्होने सार्वजनिक सेवा के लिए दे दी। पत्नी ने उस समय विरोध भी किया पर यह सत्य के मार्ग पर दृढ रहे। तव से इनका यह निश्चित मत हो गया कि जन-सेवक को जो भेटे मिलती है वे उसकी निजी नही हो सकती।

इस तरह १९०१ ई० मे यह भारत लौटे। रास्ते मे मारीशश में

उतरकर वहा के भारतीयो की अवस्था का भी अध्ययन किया और वहा के गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूस के यहाँ भी एक दिन मेहमान रहे।

भारत-यात्रा

देश पहुँचने पर कुछ दिन घूमने-घामने मे बीते। इस साल काँग्रेस (भारतीय महासभा) कलकत्ता मे होनेवाली थी। श्री वाचा सभापति थे। यह दो-तीन दिन पहले ही कलकत्ता पहुँच गये और बिना अपना परिचय दिये कॉग्रेस आफिस मे क्लर्क का काम करने लगे। पीछे उनका परिचय मिलने पर मंत्री (घोपाल बाबू) बहुत शर्मिन्दा हुए थे पर इन्हे तो सेवा-कार्य प्रिय था। यहॉ तक कि स्वयसेवको को 'छोटे' काम करने मे घृणा करते देख काँग्रेस मे दो-तीन वार पाखाने उठाकर भी वहॉ की गन्दगी इन्होने साफ की थी। यहॉ काग्रेस-तन्त्र का इनको काफी अनुभव हुआ एव कॉग्रेस की अव्यवस्था और त्याग-वृत्ति के अभाव पर दुख भी हुआ। इनके प्रयत्न से दक्षिण अफ्रिका के भारतीयो के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव कॉग्रेस मे सर्वसम्मति से पास हुआ। कॉग्रेस अधिवेशन के वाद भी दक्षिण-अफ्रिका के काम से यह एक महीना कलकत्ता ठहर गये। गोखले भी वहाँ ठहरे थे इसलिए मालूम होने पर उन्होने इन्हे अपने पास बुला लिया और बडे प्रेम से अपने छोटे भाई की तरह रखा। गाधी के स्वावलम्बन, सादगी एव उद्योग-शीलता की बडी अच्छी छाप गोखले पर पडी। इसी प्रकार गोखले की सेवा-वृत्ति ने इनके मन को मोह लिया।

कलकत्ता में

कलकत्ता का कार्य समाप्त कर काशी को रवाना हुए और भारतीय जीवन के अधिक सम्पर्क मे आने के उद्देश्य से तीसरे दर्जे मे यात्रा शुरू की और आज तक यही क्रम चला जा रहा है। काशी मे श्रीमती एनी बेसेण्ट से मिले, वहाँ से राजकोट आये। वहॉ एक-दो मुकदमो की पैरवी

की पर बाद मे मित्रो के अनुरोध से बम्बई आ गये। वहाँ भी सिलसिला ठीक चलने लगा। यहाँ हाईकोर्ट के पुस्तकालय से कानूनी पुस्तके लेकर उनका अध्ययन भी करते। गोखले से भी मिलना-जुलना होता रहता था।

इसी समय एकाएक दक्षिण-अफ्रिका से तार आया--"चेम्बरलेन आ रहे है। आपको शीघ्र यहाँ आना चाहिए।" इन्हे अपने वचन याद थे इसलिए बाल-बच्चो को बम्बई मे ही छोड यह डरबन को रवाना हो गये। प्रिटोरिया पहुँचे और वहाँ पहुँचते ही चेम्बरलेन से मिलनेवाले डेपूटेशन के लिए अरज़ी का मस्विदा बनाने तथा अन्य कामो मे लग गये।

पर आवेदनो और डेपूटेशनो से क्या होना जाना था ? इधर भारतीयो के कष्ट बढते जा रहे थे। इसलिए लोगो के कहने से गाधी ने वही ठहर जाना निश्चित किया और ट्रासवाल के सुप्रीम कोर्ट के वकीलो मे भरती हो गये। इसी समय कुछ मित्रो के सहयोग से 'ट्रासवाल ब्रिटिश इडियन असोसिएशन' की स्थाना की।

ज्यो-ज्यो कठिनाइयाँ बढती जाती थी, भारतीयो मे जागरण होता जाता था। इसलिए एक अखबार की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी।

'इडियन ओपीनियन'

श्री मदनजीत नामक एक भारतीय सज्जन का एक छापाखाना था। उन्होने अख़बार निकालने का इरादा प्रकट किया। पत्र निकला पर पीछे उसका ज्यादातर भार गाधीजी पर ही आ पडा। अपनी बचत के सारे रुपये वह उसमे लगा देते थे। पहले यह पत्र हिन्दी, तामिल, गुज़राती, अग्रेज़ी मे निकलता था पर बाद मे केवल गुजराती और अग्रेज़ी मे ही निकलने लगा।

सन् १९०४ ई० में जोहान्सबर्ग मे प्लेग फैला। इसका ज़ोर भारतीय हिस्से मे ज्यादा था। म्युनिसपैलिटी बार-बार ध्यान दिलाये जाने पर भी सफाई इत्यादि की कोई व्यवस्था न करती थी। प्लेग फैलने पर

भी उसने इस तरफ ध्यान न दिया। तब गाधी ने अपने ही दो-चार साथियो को लेकर उस ख़तरे के बीच भी, जान की परवा न करके, सेवा-कार्य आरम्भ किया। उन दिनो रात-दिन रोगियो की परिचर्या मे इनका समय जाता था।

प्लेग में सेवा

ये सब सार्वजनिक काम तो चल ही रहे थे पर इस बीच इनका मानसिक तथा नैतिक विकास बराबर हो रहा था। दिन-दिन स्वार्थ-भाव का नाश होता जा रहा था, अभी तक कमाने का जो कुछ भाव लगा था, वह छूटता जा रहा था और अनासक्तिमयी सेवा का भाव बढता जाता था। जो लोग इनके साथ रहते उन सब से एक कुटुम्बी-जैसा ही व्यवहार करते थे। इनके शुद्ध हृदय और श्रेष्ठ चरित्र का परिचय पाकर अनेक अग्रेज और यूरोपियन इनके मित्र एव सहयोगी हो गये थे। इनके आफिस मे काम बहुत बढ गया था इसलिए स्काच कुमारी मिस डिक को इन्होने टाइपिंग के लिए रखा था। यह कुमारी बडी ईमानदार, सुशील एव परिश्रमी थी। गाधीजी के श्रेष्ठ चरित्र का उसपर ऐसा प्रभाव पडा था कि वह इन्हे पिता की भाति मानने लगी थी और पीछे तो जब उसका विवाह हुआ और मिसेज मैकडानल्ड बनने का मौका आया तो गाधीजी ने ही कन्यादान किया। इसी प्रकार शीघ्र-लेखन (शार्ट-हैंड) के लिए मिस श्लेशिना को अपने दफ्तर मे रखा था। इस लडकी मे ज़रा भी रग-द्वेष न था। बडी योग्य एव निर्भय लडकी थी। काम करने मे न दिन देखती, न रात। जब बाद को सत्याग्रह मे सब लोग जेल चले गये तो इस अकेली लडकी ने सारा काम सँभाल लिया था। इसके साथ ही सारा पत्र-व्यवहार एव 'इडियन ओपीनियन' का काम भी वह स्वय करती थी। बाद मे हेनरी पोलक नामक एक यहूदी युवक भी (जो 'क्रिटिक' के उप-सम्पादक थे)

आत्मिक विकास

गाधीजी के अनुरोध से वहाँ का काम छोडकर चले आये और साथ काम करने लगे। इग्लैण्ड मे एक लडकी से इनका सहज स्नेह था पर गरीवी के कारण शादी न करते थे। गाधी जी ने पोलक को समझाया कि जहाँ प्रेम शुद्ध है वहाँ गरीवी-अमीरी का भाव बाधक नही हो सकता। दोनो को यह बात पसन्द आई और दोनो की शादी होगई। इसी प्रकार वेस्ट तथा केलनबैक इत्यादि कितने ही युरोपियन इनके सहयोगी थे। इन बातो से प्रकट होता है कि उनकी सेवा द्वेष-मूलक न थी और वह सत्पथ पर रहते थे जिससे विधर्मी दल के लोग भी इनसे सहानुभूति रखते थे। इस अनुभव ने इनके जीवन मे वडा काम किया है और इसी के कारण दिन-दिन इनमे सत्य और अहिसा का भाव दृढ होता गया है।

एक दिन नेटाल जाते समय, स्टेशन पर, रेल मे पढने के लिए पोलक ने रस्किन की 'अन-टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक दी। इस पुस्तक का इनके जीवन पर बडा प्रभाव पडा। जिन शक्तियो ने इनके जीवन पर स्थायी प्रभाव डाला है उनमे इस पुस्तक का स्थान वडा ऊँचा है। वह स्वय लिखते है—"... ..मेरे जीवन मे यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला हो तो वह यही पुस्तक है।...... मेरा विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्तर मे वसी हुई थी उसका स्पष्ट पतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रथ-रत्न मे देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया और अपने विचारो के अनुसार मुझसे आचरण करवाया।" इस पुस्तक से इन्होने ये सिद्धान्त निकाले—

१ सब के भले मे अपना भला है,

२ वकील और नाई दोनो के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए,

३ क्योकि आजीविका का हक दोनो को एक-सा है,

३ सादा, मज़दूर एव किसान का, जीवन ही सच्चा जीवन है।

निश्चित हुआ था कि जो एशियाई इस देश मे व्यापार करे वे ए
निश्चित फीस देकर अपनी रजिस्ट्री करा ले और नगरो के कुछ विशि
भागो मे रहे (जिससे उनके ससर्ग से गोरो मे किसी प्रकार का रोग
फैले)। यद्यपि वीच मे इन नियमो का पालन कड़ाई मे नही होता थ
पर गोरे-काले का भेद दिन-दिन वढता जाता था। वोअर युद्ध के सम
साम्राज्य-सरकार ने बीच मे पडकर कहा था कि भारतीयो की शिकाय
दूर कर दी जायँगी। पर युद्ध-समाप्ति के वाद भारतीयो ने आश्चर्य एव
दु ख के साथ देखा कि साम्राज्य-सरकार के अधिकारी ही अनेक प्रकार
के अपमान-जनक और अनुचित कानूनो को पास कराने के लिए जोर दे
रहे है। 'शान्ति-रक्षा-कानून' ('पीस प्रिजर्वेशन') के अनुसार भारतीयो
के वहाँ जाने मे अनेक वाधाये खड़ी कर दी गई। और १८८५ वाला
रजिस्ट्री का कानून फिर से जारी करने पर ज़ोर दिया जाने लगा।
१८८५ वाले तीसरे कानून का ज़ोरो से प्रयोग होने लगा और भारतीय
कुछ विशिष्ठ स्थानो में ही रहने और व्यापार करने को विवश किये जाने
लगे। इसपर सुप्रीम कोर्ट मे अपील की गई जिससे पुराना फैसला रद्द हो
गया और निश्चित हो गया कि भारतीय जहाँ चाहे रह सकते और व्यापार
कर सकते है। इस निर्णय से गोरे वड़े क्रुद्ध हुए और तभी से वे भारतीयो
की जड पर कुठाराघात करने के प्रयत्न मे थे।

गाधी के जुल-विद्रोह के सेवा-कार्य से लौटे थोड़े ही दिन हुए थे कि

नया 'विल'

ट्रासवाल-सरकार ने 'ड्राफ्ट एशियाटिक ला अमेण्ड-
मेण्ट विल' कौंसिल मे पेश किया। इस विल का
साराश यह था—

"ट्रासवाल मे रहने का हक रखने की इच्छा करनेवाले प्रत्येक भार-
तीय स्त्री-पुरुष और आठ वर्ष से अधिक उम्र के वालक-वालिका को

एशियाई दफ्तर मे अपना नाम लिखाकर परवाना प्राप्त करना चाहिए । ·· नाम लिखाने की अर्जी मे अपना नाम, स्थान, जाति, उम्र इत्यादि लिखे जायँ । नाम लिखने वाले अधिकारी को चाहिए कि अर्जी देने वाले के शरीर पर के मुख्य चिन्हो को नोट करले और उसकी तमाम उँग-लियो एव दोनो अगूठो की छाप ले ले । उन भारतीय स्त्री-पुरुषो का ट्रासवाल मे रहने का हक रद समझा जाय जो नियत समय के भीतर इस प्रकार अर्जी देकर अपना नाम रजिस्टर मे दर्ज न करा ले। अर्जी न देना अपराध है और इसके लिए जेल या जुर्माने की सजा हो सकती है और अदालत स्वीकार करे तो देश-निकाले की भी सजा दी जा सकती है । बच्चो के लिए अर्जी देने एवं उनके शरीर के निशान एव उँगलियो की छाप दर्ज कराने की जिम्मेदारी माता-पिता पर है । यदि माता-पिता इस ज़िम्मेदारी को अदा करने मे असावधानी करे तो १६ वर्ष की आयु होते ही बच्चे स्वय उसे अदा करे और माता-पिता को इस अपराध की जो सजा दी जायगी वही बच्चे को भी सोलह वर्ष की उम्र होने पर अर्ज़ी न देने से दी जायगी। अर्जीदार को जो परवाना दिया जाय उसे हर समय पास रखना चाहिए और जहाँ जब कोई पुलिस अधिकारी माँगे उसे दिखाना चाहिए । उसका ऐसा न कर सकना एक जुर्म समझा जायगा जिसके लिए अदालत उसे कैद या जुर्माने की सजा दे सकती है । राह चलते मुसाफिर से भी यह परवाना माँगा जा सकेगा । परवाना ढूँढने के लिए अधिकारी लोग भारतीयो के मकान मे भी घुस सकते है । यह पर-वाना किसी भी दफ्तर मे, किसी भारतीय के वहाँ काम से जाने पर, माँगा जा सकता है। उसे न दिखाने या आवश्यक प्रश्नो का उचित उत्तर न देने पर भी सजा या जुर्माना हो सकता है ।"

ससार के किसी हिस्से मे शायद ही सभ्य मनुष्यो के लिए इससे

भयंकर कानून कभी बना हो। इससे तो ट्रासवाल से भारतीयो का अस्तित्व मिट जाने का ही ख़तरा उपस्थित हो गया। उँगलियो की छाप तथा शरीर-चिन्हो का नियम विलकुल जगली और चोर-डाकुओ के साथ किये जानेवाले व्यवहार-जैसा था। इससे भारतीयो मे खलवली मच गई। गाधीजी ने लोगो को एकत्र किया, उन्हे विल का मतलव समझाया और कहा कि इसमे सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र का अपमान है। इसके वाद सारे ट्रासवाल के भारतीय प्रतिनिधियो को वुलाकर एक विराट् सभा की गई। उसमे यह निश्चय हुआ कि "इस विल का विरोध करने के लिए तमाम उपायो का अवलम्वन किया जाय पर यदि इतने पर भी वह पास हो जाय तो हमे उसके आगे सिर न झुकाना चाहिए और इस अवज्ञा के फल-स्वरूप जो दु ख सहने पडे, सहन करना चाहिए।" सवने खडे होकर ईश्वर को साक्षी रखकर, प्रतिज्ञा की कि चाहे जितने दु ख-कष्ट पडे हम इस कानून को न मानेगे।

विलायत को डेपुटेशन

भारतीयो के व्यापक विरोध के होते हुए भी, औरतो से उँगलियो की छाप लेने से सम्वन्ध रखनेवाली धाराओ को छोड, विल पास हो गया। फिर भी कोई दूसरा उपाय करने के पूर्व यही निश्चय किया गया कि सव प्रकार के वैध प्रयत्न करके देख लिए जायँ। ट्रासवाल साम्राज्य-सरकार के अधीन उपनिवेश था इसलिए ट्रासवाल-कौसिल के पास विलो पर सम्राट एव साम्राज्य-सरकार की स्वीकृति लेनी पडती थी। इस दिशा मे अन्ततक प्रयत्न करके देख लेने के उद्देश्य से भारतीयो का एक डेपुटेशन इग्लैण्ड भेजने का निश्चय हो गया। इसके लिए गाधीजी और हाजी वज़ीरअली चुने गये। विलायत पहुँचते ही ये लोग अपने काम मे लग गये। अर्ज़ी रास्ते मे ही लिख ली थी। लन्दन पहुँचते ही दादा भाई

नौरोजी से मिले और उनके द्वारा ब्रिटिश कमेटी से मिले। मचेरशजी भावनगरी से भी भेट की। इन लोगो की सलाह से सर लेपेल ग्रिफिन से भी मिले। उन्होने इस डेपुटेशन का नेतृत्व करना स्वीकार किया। अनेक एग्लो-इण्डियनो और पार्लमेण्ट के सदस्यो से मिले और अपना तात्पर्य उनको समझाया। लार्ड एलगिन उपनिवेश-सचिव थे, उनसे मिले। उन्होने सहानुभूति दिखाई और यथासम्भव सहायता का वचन दिया। डेपुटेशन लार्ड मार्ले से भी मिला। पार्लमेण्ट के दीवानखाने मे गाधीजी ने इस विषय मे पार्लमेण्ट के सदस्यो की एक सभा मे भाषण भी किया। श्री सिमण्ड्स इत्यादि कई पर-दु ख-कातर अग्रेज़ो से इस समय सहायता मिली और इस सम्बन्ध मे आन्दोलन करते रहने के लिए एक कमिटी (जिसके मत्री मि० रिच थे) बनाकर पाच-छ हफ्ते बाद ये लोग दक्षिण-अफ्रीका लौटे। रास्ते मे ही श्री रिच का तार मिला कि लार्ड एलगिन ने सम्राट से कानून रद्द करने की सिफारिश की है। पर जोहान्सबर्ग पहुँचने पर मालूम हुआ कि बात असल मे यह न थी। १९०७ की पहली जनवरी को ट्रासवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जानेवाला था इसलिए तबतक के लिए, ट्रासवाल के राजदूत की सलाह से इस सवाल को स्थगित कर दिया गया। लार्ड एलगिन ने राजदूत—सर रिचर्ड सालोमन—से कह दिया था कि स्वतन्त्र होने पर ट्रासवाल की पार्लमेण्ट इस बिल को पास कर देगी तो साम्राज्य-सरकार उसे अस्वीकार न करेगी। पहले से ही ऐसा आश्वासन दे देना एक प्रकार का विश्वासघात था। पहली जनवरी को दिन ही कितने थे। ट्रासवाल मे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हुई। बजट के बाद ही वह खूनी अन्यायपूर्ण बिल पास हुआ। भारतीयो ने अर्जियाँ दी, विरोध किया पर कौन सुनता ? कानून के अनुसार पहली अगस्त (१९०७ ई०) का दिन नये

परवाने लेनेके लिए नियत किया गया था। इसके पहले ही 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (जिसका नाम आगे बदलकर सत्याग्रह कर दिया गया) आन्दोलन के सचालन के लिए 'पैसिव रेसिस्टेस असोसिएशन' (अथवा 'निष्क्रय-प्रतिरोध मण्डल') नामक सस्था खुल चुकी थी। स्थान-स्थान पर सभाएँ हुई, प्रतिज्ञापत्र भराये गये और स्वयसेवक भर्ती किये गये। जुलाई का महीना समाप्त हुआ। परवाने लेने के दफ्तर खुले। हर दफ्तर पर पिकेटिंग करने के लिए स्वयसेवक तैनात किये गये। उन्हे बताया गया कि वे परवाना लेने जानेवालो को सावधान करे पर किसी के साथ जोर-ज़बर्दस्ती या असभ्यता का व्यवहार न करे। पुलिसवाले गालियाँ दे, मारे-पीटे तो उसे भी सह ले और पकडे तो गिरफ्तार हो जायँ। जो परवाना लेना चाहे उनके लिए पूरी सुविधा कर दी गई। इस व्यवस्था के कारण बहुत ही कम लोग एशियाटिक आफिस मे परवाना लेने गये। तब सरकार की ओर से यह व्यवस्था की गई कि बडे व्यापारियो को एक अफसर रात को मकान पर जाकर परवाने दे दे। स्वयसेवक सावधान एव जागरुक थे, इसलिए यह चाल भी सफल न हुई और एशियाटिक आफिस को ५०० से अधिक नाम न मिल सके।

पिकेटिंग

इस असफलता के कारण खीझकर सरकार ने प० रामसुन्दर नामक एक सज्जन को गिरफ्तार कर लिया। रामसुन्दर की जर्मिस्टन (एक स्थान) मे कुछ प्रतिष्ठा थी पर वैसे उन्हे ज्यादा लोग न जानते थे पर सरकार की इस 'कृपा' से सारे दक्षिण आफ्रिका में उनकी प्रसिद्धि हो गई। उनकी गिरफ्तारी से लोगो मे और जाग्रति फैल गई। सैकडो जेल जाने को तैयार हो गये। इस समय 'इण्डियन ओपीनियन' पत्र के कारण आन्दोलन को बडी सहायता मिली। सरकार ने सोचा कि खास-खास नेताओ को गिरफ्तार किये बिना आन्दो-

गिरफ्तारी

लन दब नही सकता। दिसम्बर मे गाधीजी तथा कुछ साथी कार्यकर्ताओ को सज़ा मिली। दो-दो महीने की सादी कैद हुई। इनकी गिरफ्तारी के साथ ही आन्दोलन बढ गया। झुण्ड के झुण्ड लोग, स्वेच्छापूर्वक, कानून तोडकर जेल जाने लगे। एक हफ्ते मे १०० सत्याग्रही जेल पहुँच गये। ज्यो-ज्यो आन्दोलन बढा, सरकार का रोप भी बढा। सादी की जगह कडी सजा होने लगी। पर इससे भी लोगो के उत्साह मे कमी न आई। अब सरकार को विश्वास होने लगा कि भारतीय अपने अधिकार लेकर ही छोडेंगे। सुलह की बातचीत होने लगी। जनरल स्मट्स की ओर से

समझौता

'ट्रासवाल लीडर' दैनिक के सम्पादक अलबर्ट कार्ट-राइट गाधीजी से जेल मे मिले। दोनो मे यह तै हुआ कि 'भारतीय स्वेच्छापूर्वक परवाने बदलवा ले, उन पर कानून की कोई ज़बर्दस्ती न रहेगी। नवीन परवाना सरकार भारतीयो की सलाह से बनावे और यदि भारतीय उसे स्वेच्छापूर्वक ले ले तो कानून रद्द कर दिया जाय।' पर कार्टराइट ने कहा कि जनरल स्मट्स इस पर शायद ही राज़ी हो। वह चले गये। दो-तीन दिन बाद जोहान्सवर्ग के पुलिस सुपरिण्डेण्ट आकर जेल से गाधीजी को जनरल स्मट्स के पास ले गये। उन्होने समझौते का उपर्युक्त ड्राफ्ट (मस्विदा) मजूर किया। गाँधीजी उसी समय छोड़ दिये गये। उसी रात को वह जोहान्सबर्ग पहुँचे। दूसरे दिन रात को सभा की गई। दो-चार को छोड शेष ने समझौता स्वीकार किया। सुबह और सब साथी भी जेल से रिहा कर दिये गये।

गांधीजी पर हमला

पर इस बीच कुछ लोग पठानो मे गलतफहमी फैला रहे थे कि गाधी रिश्वत लेकर सरकार से मिल गया है। पठान तो मरने-मारनेवाला आदमी ठहरा। उसपर ऐसी बातो का असर बहुत जल्द होता है। १० फरवरी १९०८ को गाधी

जी, ईसप मियाँ तथा थाम्वी नायडू नामक तीन नेताओ ने निश्चय किय
कि पहले हमे ही परवाना लेना चाहिए। जव ये लोग एशियाटिक आफि
की ओर जा रहे थे तव कुछ पठानो ने गाँधीजी पर लाठियो से हमल
किया। वह वेहोश होकर गिर पडे। इतने मे ही कुछ राह-चलते गो
इकट्ठे होगये। उन्होने पठानो को पकड लिया और पुलिस के सुपुर्द क
दिया। गाधीजी की सम्मति से रेवरेण्ड डोक उन्हे अपने घर ले गये। व
गाँधीजी ने एशियाटिक आफिस के अधिकारी श्री चमनी को वुलाक
सबसे पहले परवाना लिया। फिर उन्होने एटर्नी-जनरल को तार दिला
कि 'जिन लोगो ने मुझपर हमला किया मै उन्हे दोषी नही समझता, वे
छोड दिये जायँ।' इस तार से गाधीजी की विशालहृदयता का पता
चलता है। खैर, उस समय तो पठान छोड दिये गये पर वाद मे गोरो के
आन्दोलन करने पर कि गाधी की इच्छा-अनिच्छा के अनुसार अपराधियो
का न्याय नही हो सकता, वे पकडे गये और सजा हुई।

डोक-परिवार ने गाँधीजी की वड़ी सेवा की, वैसा घर के लोग क्या
करते ? ११-१२ दिन मे यह अच्छे हो गये। फिर डरवन गये। वहाँ भी
कुछ पठानो मे गलतफहमी थी इसलिए उसे दूर करने के उद्देश्य से वहाँ
भी वहुत वडी सभा की गई। रात का समय था, सभा का काम प्राय
समाप्त हो चुका था कि एक पठान लाठी लेकर मच पर चढा। लोगो ने
वचाव के लिए गाधीजी को घेर लिया। तवतक पुलिस आ गई। इस
तरह वच गये दूसरे दिन उन्होने पठानो को वुलाकर समझाया पर उनका
शुबहा दूर न हुआ। तव उसी दिन यह फिनिक्स चले गये। पर इक्के-
दुक्के विरोध के रहते हुए भी समझौते को अधिकाश ने स्वीकार कर लिया
और नये परवाने ले लिये।

पर जेनरल स्मट्स तो पैतरेवाज़ राजनीतिज्ञ थे और मौके के अनुमार

अपने शब्दो का अर्थ 'हाँ' या 'नही' करने के लिए वह प्रसिद्ध थे। आज तो वह ब्रिटिश-साम्राज्य के चोटी के राजनीतिज्ञो मे समझे जाते है। दक्षिण-अफ्रीका मे उनका नाम ही

वचन–भंग

'स्लिम जेनी' (पकड मे न आसकनेवाला जेनी—जेनी उनका असली नाम है) पड गया। खैर, उन्होने अपनी इस 'उपाधि' एव 'प्रसिद्धि' के अनुकूल ही इस मामले मे विश्वासघात किया। काला कानून को उठा लेने का जो वचन दिया था, उसका भग किया। इससे भारतीय बहुत उत्तेजित हुए। जगह-जगह सभाएँ होने लगी। सत्याग्रह का निश्चय हुआ और भारतीयो की समिति की ओर से अन्तिम चेतावनी—चुनौती— सरकार को भेज दी गई। पर सरकार कब माननेवाली थी? इसलिए नियत दिन सभा की गई और उसमे हजारो परवाने एकत्र कर जला दिये गये और जाति ने अपने अपमान की काली बन्दी दूर कर देने का निश्चय कर लिया। इसी समय सरकार ने 'इमीग्रेण्ट्स रिस्ट्रिकशन ऐक्ट' पास किया। इसका मुख्य उद्देश्य नये भारतीयो को वहाँ आने से रोकना ही था। इससे सत्याग्रह फिर शुरू हुआ। इसमे कितने ही प्रतिष्ठित सज्जन शामिल हुए। बैरिस्टरो ने कुलियो का काम किया। बहुतेरे आदमी कानून तोडकर जेल जाने लगे। गाँधीजी भी गये। छूटने पर उन्होने देखा कि दोनो पक्ष थके-से प्रतीत होते है। इसलिए एक बार फिर प्रयत्न करने के उद्देश्य से इग्लैण्ड गये। वहाँ प्रधान अधिकारियो से मिले। पर कुछ विशेष फल न निकला। इनके लौटने पर सत्याग्रह को जोरो से चलाने का निश्चय हुआ। इस समय तक जेल जानेवाले स्वयसेवको के कुटुम्बो का थोडा-बहुत खर्च भी आन्दोलन पर पड रहा था। इसलिए खर्च मे कमी करने एव एक कुटुम्ब का भाव जगाने के विचार से सब को एकत्र रखने का विचार हुआ। श्री केलेनबैक नामक जर्मन साथी ने गांधीजी

को अपनी ११०० एकड भूमि (जो जोहान्सवर्ग से २१ मील—स्टेशन

टालसटाय फार्म

एक मील थी) इस काम के लिए दे दी। यहाँ स लोगो ने मिलकर स्वय मकान खडे कर लिए और इ प्रकार **'टाल्सटाय फार्म'** की स्थापना हुई। यहॉ गाँधीजी ने रस्किन ए टाल्सटाय के सादा जीवन बिताने और कायिक परिश्रम करने के सिद्धा को कार्यरूप मे परिणत किया। 'फीनिक्स आश्रम' और 'टालसटाय फार्म' मे उन्होने जो प्रयोग किये उन्ही का विकसित रूप वाद मे हम सावरमती के सत्याग्रह-आश्रम मे देखते है।

'टालसटाय फार्म' मे यह नियम रखा गया कि किसी प्रकार का घरू, खेती का या मकान वॉधने का काम नौकरो से न लिया जाय। सव काम ये लोग स्वयँ करते,—पाखाना उठाने से लेकर जूता वनाने तक का। इस समाज मे गुजराती, मद्रासी, उत्तर भारतीय—हिन्दू, मुसलमान, ईसाई—सभी थे। भोजन बिलकुल सादा होता था। शिक्षा का भी कुछ प्रवन्ध था।

इन्ही दिनो गोखले दक्षिण-अफ्रीका आये। इग्लैण्ड से भारत-सचिव ने उनके सम्बन्ध मे,—उनकी मर्यादा के सम्बन्ध मे यूनियन सरकार को

गोखले का आगमन

सब हिदायते कर दी थी, इसलिए गोखले का खूब स्वागत हुआ—सरकार द्वारा भी, जनता-द्वारा भी। गोखले ने घूम-घूमकर भारतीयो की अवस्था देखी और फिर सरकारी अधिकारियो से मिले। अधिकारियो ने शीघ्र ही काला कानून रद करने, तीन पौण्डवाला कर रद्द करने और इमीग्रेशन कानून से वर्ण-भेद वाला हिस्सा निकाल देने का वचन दिया। गोखले ने तो अधिकारियो के वादो पर विश्वास कर लिया पर गाधीजी को पहले कडुआ अनुभव हो चुका था इसलिए उन्हे विश्वास नही हुआ। और अन्त मे हुआ भी वही।

सरकार ने अपना वादा पूरा नही किया । इससे भारत मे भी बडी उत्तेजना फैली । श्री नटेसन एव गोखले ने बडा प्रयत्न किया । तात्कालिक वायसराय लार्ड हार्डिज ने भी दक्षिण अफ्रीका-प्रवासी भारतीयो के साथ खुले आम सहानुभूति प्रकट की । पर यूनियन-सरकार तो जिद पर तुली थी । इस समय उससे गलतियाँ पर गलतियाँ हो रही थी । दक्षिण-अफ्रीका मे कितने ही भारतीय ऐसे थे जिनका विवाह उनकी जातीय एव धार्मिक प्रथाओ के अनुसार भारत मे हुआ था पर अदालत के एक फैसले के अनुसार—जिसको यूनियन-सरकार ने स्वीकार कर लिया—ये सब विवाह नाजायज करार दिये गये । यह फैसला हुआ कि दक्षिण-अफ्रीका के कानून मे उसी विवाह के लिए स्थान है जो ईसाई धर्म की रीतियो के अनुसार होता है । मतलब यह कि कानून की दृष्टि मे सारी मुसलमान एव हिन्दू महिलाओ की कोई स्थिति न थी । कानूनी दृष्टि से

घोर अपमान

इन विवाहित स्त्रियो की स्थिति रखेलियो-सी हो गई । इससे बढकर अपमान और क्या हो सकता था ? मातृ-जाति के इस अपमान ने भारत मे खलबली मचा दी । १२ सितम्बर १९१३ को सत्याग्रह की घोषणा की गई । २८ सितम्बर को गाधीजी ने यूनियन-सरकार को चुनौती का पत्र (Ultimatum) भेजा । उधर स्त्रियाँ भी इस प्रकार अपना अपमान होते देख सत्याग्रह के लिए मैदान मे आ डटी और आन्दोलन ट्रासवाल की सीमा लाघकर नेटाल में भी फैल गया ।

मजूरो की हड़ताल

स्त्रियो की अपील पर खानो के मजूरो ने काम छोड दिया और हजारो जेल जाने को तैयार हो गये । ऊपर कही लिखा जा चुका है कि ट्रासवाल की सीमा में बिना नये आज्ञा-पत्र (परवाना) के प्रवेश करना निषिद्ध था । गाधीजी ने मजूरो की यह सेना (इसमे २०२७ पुरुष, १२७ स्त्रियाँ, ५७ बच्चे थे) लेकर कानून-भग

करने के लिए ट्रासवाल मे प्रवेश करने के उद्देश्य से यात्रा की। ६ नवम्बर १९१३ को यात्रा शुरू हुई। यात्रा-मार्ग मे पहले गाधीजी गिरफ्तार हुए पर अदालत से छोड दिये गये और फिर यात्रा करती हुई इस मजूर-सेना से आ मिले। पर एक-दो दिन वाद ही फिर गिरफ्तार कर लिये गये, मजूरो की सारी टोली भी गिरफ्तार हो गई। उधर श्री पोलक, केलेनवैक भी गिरफ्तार हुए। इस युद्ध मे कितने ही अग्रेज एव युरोपियनो ने सहायता की थी। जेल मे लोगो को काफी कष्ट दिया गया, स्त्रियो के साथ भी कोई रियायत नही की गई।

समझौते की बातचीत

इस समय भारत से रुपयो की सहायता भी खूब मिल रही थी और सत्याग्रह का शान्ति-पूर्ण ढग, उसकी कार्य-शैली देख भारत-सरकार तथा कितने ही अग्रेजो की उसके साथ सहानुभूति हो गई थी। उधर गोखले ने श्री एण्डरूज और पियर्सन को सहायता के लिए दक्षिण-अफ्रीका भेज दिया था। अव तक ट्रासवाल-सरकार भी परिस्थिति के गुरुत्व को समझ चुकी थी। इसलिए उसने 'प्रेस्टीज' (आत्माभिमान) की रक्षा के लिए एक कमीशन नियुक्त किया। नियुक्त होते ही कमीशन ने सिफारिश करके गाधीजी, पोलक तथा केलेनवैक को छोडवा दिया। इस समय श्री एण्डरूज ने वडा परिश्रम किया। उन्होने दोनो दलो मे समझौता कराने का वड़ा यत्न किया। फलत गाधीजी एव जेनरल स्मट्स के वीच पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। २१ फरवरी १९१४ को गाँधीजी ने जो पत्र लिखा था उसमे समझौते की निम्नलिखित आवश्यक शर्ते थी—

१. तीन पौण्ड का कर उठा लिया जाय।

२. हिन्दू, मुसलमान इत्यादि धर्मो की विधि से किये गये विवाह कानूनन जायज समझे जायँ।

३ शिक्षित भारतीय इस देश मे प्रवेश पा सके ।

४ आरेजिया के विषय मे हुए इकरारों मे सुधार किया जाय ।

५ यह विश्वास दिलाया जाय कि प्रचलित कानूनो पर इस प्रकार अमल किया जायगा जिससे वर्तमान अधिकारो की हानि न हो ।

उसी दिन पत्र का उत्तर मिला । कैदियो को तो उसी दिन छोड दिया गया और अन्य शर्तो के बारे मे कमीशन की रिपोर्ट निकलने के बाद विचार करने का वचन दिया गया । इस आश्वासन पर सत्याग्रह स्थगित किया गया ।

कमीशन की रिपोर्ट निकली और फल-स्वरूप सरकार ने कानून बनाकर १ तीन पौण्ड वाला कर रद कर दिया, २ जो विवाह भारत मे

समझौता

कानून की दृष्टि मे जायज हो, वे यहाँ भी जायज करार दिये गये । कुछ अन्य बातो का लिखित विश्वास दिलाया गया । फलत जो युद्ध १९०६ मे शुरू हुआ था वह आठ वर्ष बाद, ३० जून १९१४ को समाप्त हुआ ।

× × ×

अब दक्षिण-अफ्रीका का काम खत्म हो चुका था इसलिए गाधीजी ने भारत जाने का निश्चय किया । इस समय गोखले इँग्लैण्ड मे थे । वह

विदाई

वहाँ बीमार पड गये । उनकी इच्छा इनसे मिलने की थी । इधर गाधीजी की तबीयत भी अच्छी न थी । रात-दिन के परिश्रम, तपश्चर्या एव कठोर जीवन ने शरीर को कमजोर कर दिया था । फिर भी यह श्री केलेनबैक एव पत्नी के साथ इग्लैण्ड को रवाना हुए । ये लोग ६ अगस्त को इग्लैण्ड पहुँचे । इसके पहले ही—४ अगस्त को—युरोपीय महायुद्ध की घोषणा हो चुकी थी ।

पर इनके पहुँचने के पहले ही गोखले स्वास्थ्य-सुधार के लिए फ्रास

चले गये थे। उधर लडाई छिड गई थी। इसलिए वहाँ से कब आयेंगे, इसका निश्चय न था किन्तु गांधीजी को उनसे मिलना था इसलिए यह ठहर गये। इस बीच इन्होने यह निश्चय किया कि विपत्ति के समय साम्राज्य सरकार की सहायता करना भारतीयो का कर्तव्य है अत. वहाँ उन्होने भारतीय विद्यार्थी स्वयसेवको का एक दल सगठित किया और घायल सिपाहियो की सेवा-शुश्रूषा करने की इच्छा प्रकट की। लार्ड क्यू ने स्वीकार कर लिया। डाक्टरी शिक्षा के लिए डा० फेण्टली की देखरेख मे क्लास खोला गया और ८० स्वयसेवक शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसमे भरती हुए। छ हफ्ते के बाद परीक्षा हुई। ७९ पास हुए। इन लोगो को सरकारी कवायद सिखाने का भार कर्नल बेकर के सुपुर्द हुआ।

किन्तु कुछ ही दिनो बाद गाधीजी की तबियत बहुत ज्यादा खराब हो गई, पसली मे दर्द रहने लगा। बहुत इलाज कराया पर अच्छा न हुआ। उस समय यह दूध इत्यादि बिलकुल न लेते थे। अन्त मे ब्रिटिश अधिकारियो की सलाह से यह भारत लौट आये। श्री गोखले पहले ही भारत लौट आये थे। श्री केलनबैक को जर्मन होने के कारण पासपोर्ट न मिला।

गाधीजी जब बम्बई पहुँचे तो उनका खूब धूमधाम से स्वागत किया गया। फिर वह गोखले के साथ पूना गये। वहा भी खूब आदर-सत्कार हुआ। इस समय तक फीनिक्स आश्रम के उनके बहुत-से साथी भारत लौट आये थे, इसलिए सबको एक जगह रखकर आश्रम-जीवन बिताने के विचार गाधीजी मे दृढ होते जा रहे थे। उन्होने इन साथियो को श्री एण्डरूज के सुपुर्द कर दिया था। श्री एण्डरूज ने उन्हे कुछ दिन गुरुकुल कागड़ी मे रखा और बाद मे शान्ति निकेतन भेज दिया था।

पूना से गाँधीजी जब राजकोट जा रहे थे तब वीरमगाम की ज़कात

की जॉच से होनेवाली तकलीफो की शिकायते उनके पास तक पहुँची।

वीरमगाम की जकात

वह बम्बई के गवर्नर लार्ड वेलिंगडन (बाद मे भारत के वायसराय) से मिले। उन्होने कहा—"भारत-सरकार की ओर से ही देर हो रही है।" फिर इन्होने भारत-सरकार से पत्र-व्यवहार शुरू किया। बाद मे वायसराय लार्ड चेम्सफर्ड से मिले। उनको तो इन बातो का कुछ पता ही न था। उन्होने तुरन्त टेलीफोन करके वीरमगाम से कागज-पत्र मॅगवाये और थोडे ही दिनों बाद ज़कात रद्द कर दी।

राजकोट से गाधीजी अपने साथियो से मिलने शान्ति-निकेतन गये। वहॉ कुछ दिन रहने का इरादा था पर शीघ्र ही इन्हे पूना से गोखले के

गोखले का देहावसान

देहावसान का समाचार मिला। इससे इनके हृदय पर बडी ठेस लगी। ये तुरन्त पत्नी एव भतीजे स्व० मगनलाल भाई को लेकर पूना को रवाना हुए। वहॉ से फिर अपने मित्र डा० प्राणजीवन मेहता से मिलने रगून गये। वहाँ से लौटकर हरिद्वार के कुम्भ मे एक टुकडी लेकर यात्रियो की सेवा का कार्य किया। यह सब तो चल ही रहा था पर मुख्य बात यह थी कि यह सदा आत्म-निरीक्षण किया करते थे और फलत इनकी आत्मा दिन-दिन निर्मल और पवित्र हो रही थी।

× × × ×

मै ऊपर लिख चुका हूँ कि गॉधीजी का विचार अपने साथियो को लेकर

सत्याग्रह-आश्रम का जन्म

एक आश्रम स्थापित करने एव उसमे सरल सात्विक जीवन विताने का था। कुछ लोगो ने हरिद्वार मे, कुछ ने वैजनाथधाम मे, कुछ ने राजकोट मे खोलने की सलाह दी। इसी बीच यह अहमदाबाद से गुज़रे तो वहा के मित्रो

ने अहमदाबाद को चुनने का आग्रह किया और आश्रम के खर्च का भार भी अपने ऊपर ले लिया। फलत. अहमदाबाद ज़िले के कोचरव नामक स्थान मे मकान लिया गया। 'सत्याग्रह-आश्रम' नाम रखा गया क्योकि सत्य की पूजा एव सत्य का शोध ही उनका लक्ष्य था। २५ मई १९१५ को आश्रम की स्थापना हुई। जो लोग शामिल हुए उनमे तमिल एव गुजराती लोगो की अधिकता थी। वे एक ही भोजनशाला मे भोजन करते थे और इस तरह रहने का प्रयत्न करते थे मानो वे एक ही कुटुम्ब के हो। इसमे अछूतो को भी रखने का नियम रखा गया था। इसके कारण इसे वहिष्कार इत्यादि की कितनी झझटे झेलनी पडी पर अपने धर्म मे गाँधीजी एव अन्य आश्रमवासी अचल रहे।

गिरमिट प्रथा

१९१४ ई० मे नेटाल के गिरमिटियो पर से ३ पौण्ड का कर उठा लिया गया था पर गिरमिट-प्रथा (जिसके अनुसार ५ या कम वर्ष की मजूरी के इकरार पर मजूर भारत से भेजे जाते थे) का अन्त न हुआ था। १९१६ ई० मे मालवीयजी ने बड़ी धारा-सभा मे यह प्रश्न उठाया। फरवरी १९१६ ई० मे उन्होने इस प्रथा को उठा देने का कानून कौसिल मे पेश करने की इजाजत वायसराय से मागी पर उन्होने न दी। इसलिए भारत मे फिर आदोलन शुरू हुआ। स्थान-स्थान पर सभाएँ हुई और अन्त मे सत्याग्रह करने का भी निश्चय हो गया। ३१ जुलाई तक का समय सरकार को दिया गया। सरकार झगडा मोल लेना नही चाहती थी इसलिए उसने ३१ जुलाई के पहले ही कुली-प्रथा वन्द करने की घोषणा प्रकाशित कर दी।

चम्पारन की समस्या

इधर जव से गाँधीजी भारत आये थे, प्रयत्न कर रहे थे कि कॉग्रेस के दोनो दल—नरम-गरम—मिल जायँ। १९१६ ई० के दिसम्बर मे

लखनऊ मे महासभा का अधिवेशन हुआ। उसमे दोनो दलो मे समझौता हो गया। इस समय बिहार मे नील की खेती करने वाले गोरो का अत्याचार जोरो से बढा हुआ था।

'तीन कठिया'

लोगो के अनुरोध से यह बिहार गये। वहाँ जाकर अच्छी तरह इस मामले की जाँच की। मालूम हुआ कि 'तीन कठिया' की प्रथा से किसानो को बडा कष्ट है। इसके अनुसार चम्पारन के किसान अपनी ही जमीन के ३/२० हिस्से मे नील की खेती जमीन के असली मालिक के लिए करने को कानूनन बाध्य थे।

पटना मे राजेन्द्र बाबू और ब्रजकिशोर बाबू से सलाह करने के बाद १५ अप्रैल १९१७ ई० को यह मुजफ्फरनगर पहुँचे। वहाँ एक व्याख्यान हुआ। फिर वहाँ से १६ अप्रैल को चम्पारन के मोतीहारी शहर मे पहुँचे। वहाँ जिला मजिस्ट्रेट की

मजिस्ट्रेट का हुक्म

नोटिस मिली कि २४ घण्टे के अन्दर जिला छोड दो। गाँधीजी ने इसकी अवज्ञा की, मुकदमा चला। इन्होने वायसराय तथा मालवीयजी इत्यादि को सारी स्थिति समझाते हुए तार दे दिया था। जब मुकदमा चल रहा था तभी सरकार की आज्ञा मिली कि गाँधी को सब स्थानो मे घूमकर जाँच करने की स्वतन्त्रता दी जाय। तब गाँव-गाँव घूमकर इन्होने वहा की स्थिति का गहरा अध्ययन किया, किसानो के बयान लिये। इस प्रकार लगभग ७००० किसानो के बयान लिए गये।

उधर इस हल-चल से निलहे गोरे उत्तेजित होने लगे पर इससे गाँधीजी का काम रुका नही। वह गवर्नर सर एडवर्ड गेट से मिले। उन्होने जाँच-समिति नियुक्त करने का वचन दिया। फलत सर फ्रेक स्लाई की अध्यक्षता मे जाँच-समिति

जाँच-समिति

बैठी। गाँधीजी भी उसके सदस्य थे। समिति ने किसानो की तमाम

शिकायते सच्ची बताई और सर्व-सम्मति से यह सिफारिश की कि निलहे गोरे अनुचित रीति से पाये रुपयो का कुछ भाग वापस करे और 'तीन कठिया' का कायदा रद्द कर दिया जाय। गोरों ने उसका बडा विरोध किया पर गवर्नर सर एडवर्ड गेट की दृढता से कानून बना और किसानो की शिकायते दूर हो गई। इसके फल-स्वरूप वहाँ के किसानो मे खूब जागरण हुआ और निलहे गोरो के राज्य का अन्त ही हो गया। इनकी खूब प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार धीरे-धीरे यह भारत के प्रथम श्रेणी के नेताओ मे स्थान प्राप्त करते जा रहे थे।

कष्ट-निवारण

× × × ×

चम्पारन का काम चल ही रहा था कि मजूर-सघ के सम्बन्ध मे अहमदावाद से श्रीमती अनसूया बहन का पत्र मिला। यह १९१८ की शायद फरवरी थी। मजूरो को वेतन बहुत कम दिया जाता था, और भी कई असुविधाएँ उन्हे थी। मजूरो की माँग थी कि वेतन वढाया जाय। मजूरो के साथ सदा से गाँधीजी की सहानुभूति थी। इसलिए छुट्टी पाते ही वह तुरन्त अहमदावाद पहुँचे। जाँच करने पर मजूरो का पक्ष इन्हे मजवूत मालूम हुआ। पहले इन्होने मिल-मालिको को वहुत समझाया कि पचायत-द्वारा निर्णय करा लो पर उन्होने इस वात पर ध्यान न दिया। अत. इन्होने मजूरो को हडताल करने की सलाह दी तथा सदा अहिंसा पर दृढ रहने का उपदेश किया। इस हड़ताल के सिलसिले मे ही वल्लभभाई तथा शकरलाल वैकर से इनका परिचय हुआ। रोज मजूरो की सभा होती, जुलूस निकलता। पर दो सप्ताह वाद मजूरो मे कमजोरी आने लगी। काम पर जानेवाले मजूरो से छेडछाड़ भी हुई। इससे दु खित हो गाँधीजी ने

मजदूरों की सेवा

उपवास शुरू किया। उस दिन हडताल का १८ वाँ दिन था। अन्त मे २१ वे दिन श्री आनन्दशकर ध्रुव को पच मानना दोनो पक्षो ने मजूर किया। हडताल समाप्त हुई, समझौता हो गया।

इधर यह सब हो रहा था; उधर कोचरब (जहाँ सत्याग्रह-आश्रम था) मे प्लेग फैल गया। इसलिए आश्रम को वहाँ से हटाने की आवश्यकता मालूम पडी। प्रयत्न करने पर साबरमती जेल के पास ही जमीन मिल गई। वहाँ खेमे डालकर काम निकाला जाने लगा। आगे चलकर यही स्थायी रूप से आश्रम की नीव पडी।

साबरमती आश्रम की नींव

खेड़ा में सत्याग्रह

घटनाएँ कुछ इस क्रम से घट रही थी कि गाँधीजी को कभी विश्राम न मिलता था। भगवान् उन्हे इन घटनाओ एव कठिनाइयो मे डालकर गढ रहा था। मजूरो के काम से निबटे ही थे कि दूसरा काम सिर पर आगया। बात यह थी कि खेडा जिले मे फसल नष्ट हो गई थी, किसान बुरी हालत मे थे। ऐसी हालत मे भी लगान माफ नही किया गया। इससे उनके कष्ट बढ गये। मजूरो के प्रश्न का निबटारा होने के बाद दम मारने की भी फुरसत न मिली और खेडा-सत्याग्रह का काम उन्हे उठा लेने पडा। इस सम्बन्ध मे श्री अमृतलाल ठक्कर (आज-कल हरिजन-सेवक-सघ के प्रधानमत्री) ने जाँच करके रिपोर्ट की थी। कौसिल मे भी प्रयत्न चल रहा था। इस समय गाधीजी गुजरात-सभा के प्रमुख थे। इसलिए सभा की ओर से उन्होने कमिश्नर और गवर्नर को अर्जियाँ दी, तार दिये पर बदले मे अपमान सहना पडा एव धमकियाँ मिली। लोगो की माँग स्पष्ट थी। कानून यह था कि यदि फसल चार आने से कम हो तो उस साल जमीन-कर

वैध प्रयत्न में असफलता

माफ होना चाहिए। सरकारी अफसर कहते थे कि फसल चार आने से अधिक हुई है। पर फसल वास्तव मे कम हुई थी। लोगो ने इसके प्रमाण दिये पर सरकार कव मानने लगी ? अन्त मे सव तरफ से दौड-धूप कर लेने के वाद गाधीजी ने सत्याग्रह की सलाह दे दी।

लोगो ने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली। गाँव-गाँव घूमकर लोगो को सत्याग्रह का रहस्य समझाया जाने लगा। देखते-देखते आन्दोलन ने उग्र

सत्याग्रह

रूप धारण किया। सरकार ने दमन किया पर जव देखा कि दमन से यह आन्दोलन न दवेगा तो वह इस वात पर राजी हो गई कि धनी किसान अपने लगान दे दे और गरीवो का लगान माफ कर दिया जाय।

इन दिनो युरोपीय युद्ध जोरो पर था। गाधीजी को लगा कि आपत्ति के समय सरकार की सहायता करनी चाहिए। इसी समय वायसराय

महायुद्ध में सरकार की सहायता

लार्ड चेम्सफर्ड ने विशेषरूप से परामर्श करने के लिए इन्हे दिल्ली वुलाया। यह गये। इन्होने सहायता करना तो स्वीकार कर लिया पर वायसराय को एक पत्र लिखकर लोकमान्य तिलक एव अली-वन्धुओ के इस सभा मे न वुलाने के वारे मे खेद प्रकट किया तथा जनता की राजनीतिक एव मुसलमानो की खिलाफत-सम्वन्धी माँगो का उल्लेख किया।

रगरूटो की भरती के लिए इन्हे गाँव-गाँव दौडना पडता था। रात-दिन के परिश्रम के कारण स्वास्थ्य खराव हो गया। फलस्वरूप यह एका-एक वीमार पडे। वीमारी इतनी वढ गई कि गाँधीजी को जीने की आशा भी न रही। फिर केलकर नामक एक सज्जन के वरफ का उपचार करने से लाभ हुआ और धीरे-धीरे रोग दूर हो गया। जव यह वीमार थे तभी जर्मनी की पूरी हार हो चुकी थी। इसलिए कमिश्नर ने इन्हे कहला

या कि अब रगरूटो की भरती करने की आवश्यकता नही है।

× × × ×

अफ्रीका से लौटने के बाद गाँधीजी राष्ट्रीय महासभा के कामो मे ो खूब रस लेने लगे। जब अगस्त १९१७ मे भारत मे श्री माण्टेगू के आने की घोषणा हुई तो गाँधीजी द्वारा सगठित गुजरात-सभा ने नवम्बर मे यह योजना निश्चित की

मांटेगू को अर्जी

के कॉग्रेस और होमरूल लीग की ओर से उन्हे एक अर्जी दी जाय जिस र अधिक-से-अधिक आदमियो के दस्तखत लिये जायँ। कॉग्रेस एव लीग को यह प्रस्ताव पसन्द आया और फलत दिल्ली मे श्री माण्टेगू को यह अर्जी भेट की गई। इसमे हजारो आदमियो के दस्तखत थे।

इसी प्रकार १७ दिसम्बर १९१७ को उन्होने 'वाम्बे को-आपरेटिव कान्फ्रेन्स' और ३ नवम्बर को गुजरात राजनीतिक सम्मेलन एव गुजरात शिक्षा-सम्मेलन के सभापति का कार्य किया। दिसम्बर मे कलकत्ता कॉंग्रेस के साथ समाज-सेवा-सघ का पहला अधिवेशन हुआ। उसके भी यही अध्यक्ष थे।

× × × ×

महायुद्ध की समाप्ति हो रही थी। उधर सरकार ने भारतीयो की सेवाओ का उचित पुरस्कार देने के बदले कतिपय हत्याकाण्डो एव षड्यन्त्रो का बहाना लेकर जनता के अधिकारो में और कमी करने का निश्चय कर लिया था। इसके

रौलट ऐक्ट

लिए रौलट कमेटी बैठी और रौलट बिल कौसिल मे पेश हुआ। उसका एक स्वर से सम्पूर्ण भारत मे विरोध हुआ था। विरोध की सभाओ की धूम मच गई। एक तहलका मचा हुआ था। जनता की आशाओ पर यह तुषारपात था। उसने आज के दिन पर बड़ी-बड़ी आशाएँ लगा रक्खी थी। पर ऐसे ही समय वज्रपात हुआ, निराशाओ के बादल छा गये।

जब भारत पुरस्कार की आशा करता था तब उसे दण्ड मिला। भारत की सेवा का यह अद्‌भुत जवाब था। दुनिया के इतिहास मे ऐसे उदाहरण इने-गिने है। पर विधाता को ऐसी ही विपमताओ के बीच तपाकर भारत का भाग्य गढना था। अस्तु, इस भारत-व्यापी विरोध की भी सरकार ने उपेक्षा की। कानून बन गया। गाँधीजी ने वायसराय को बहुत लिखा, आर्जू-मन्नत की पर उसका कुछ खयाल न किया गया। अन्त मे विवश होकर सत्याग्रह का निश्चय करना पडा। बम्बई मे गाँधीजी की अध्यक्षता में केन्द्रीय सत्याग्रह-समिति स्थापित हुई। २८ फरवरी १९१९ को गाँधीजी ने वह प्रसिद्ध प्रतिज्ञापत्र निकाला जिसमे इस कानून को न मानने की घोषणा थी। इसपर लोगो के दस्तखत लिये गये। गाँधीजी जनता को तैयार करने के लिए सारे देश मे दौरा कर रहे थे। सभाओ की धूम थी गाँधीजी जहाँ जाते लोगो को सत्याग्रह का मर्म समझाते। पहले ३० मार्च को सत्याग्रह का दिन निश्चित किया गया था पर बाद मे बदलकर ६ अप्रैल की तारीख रखी गई। इस दिन हडताल करने, उपवास करने एवं सभा करके इस कानून के प्रति विरोध प्रकट करने का कार्यक्रम रखा गया था। सारे देश मे जोरो से हडताल हुई। बम्बई, दिल्ली इत्यादि मे जनता का जोश देखने लायक था। केन्द्रीय समिति ने जब्त किताबे बेचकर कानून तोडने का भी कार्यक्रम रखा। गाँधीजी ने 'सत्याग्रही' नामक एक पत्र बिना डिक्लेरेशन दिये निकाला। इसकी तथा अन्य जब्त पुस्तको की (जिनमे उनकी 'सर्वोदय' एव 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पुस्तके थी) जोरो से बिक्री हुई। लोगो ने पचास-पचास रुपये देकर उन्हे खरीदा और यह सब आय सत्याग्रह के काम मे लगाई गई।

सत्याग्रह का निश्चय और तैयारी

हडताल और कानून-भंग

तिथि-परिवर्तन की सूचना देर से पहुँचने के कारण दिल्ली मे ३० मार्च को ही हडताल हुई थी। उस समय से दिल्ली एव पजाब के कार्यकर्ता गाधीजी को तुरन्त आने के लिए लिख रहे थे।

पंजाब में प्रवेश-निषेध

७ अप्रेल की रात को वह बम्बई से दिल्ली के लिए रवाना हुए। १० तारीख को प्रात काल कोसी मे ट्रेन मे ही शान्ति-भग की सभावना बताकर पजाब एव दिल्ली की सीमा मे प्रवेश न करने की आज्ञा उनपर तामील की गई। उन्होने आज्ञा मानने से इन्कार किया। फलत गिरफ्तार करके वह बम्बई लाये गये और वहाॅ छोड दिये गये। वहाॅ उनपर यह आज्ञा तामील की गई कि बम्बई प्रान्त के अन्दर ही अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखे। उधर उनकी गिफ्तारी से देश मे बडी उत्तेजना फैली। कई स्थानो मे दगे हो गये। गाॅधीजी ने शुद्ध सत्य के पालन की दृष्टि से अहिसा को आन्दोलन का मूलाधार रखा था। इसलिए इस प्रकार दगे होने के कारण उन्होने १८ अप्रैल को आन्दोलन स्थगित कर दिया। वहुतेरे साथी इसमे नाराज भी हुए पर सत्याग्रही अपने धर्म को कैसे छोड सकता था ? इस समय इन्होने इन दगो के कारण तीन दिन का उपवास भी किया।

पंजाब-हत्याकाण्ड

इधर यह सब हो रहा था उधर पजाब मे जो दगे हुए उनके कारण सरकार ने वहाॅ फौजी कानून जारी कर दिया। अमृतसर के जलियाॅवाला वाग की सभा मे अनेक शान्त निर्दोष व्यक्ति जेनरल डायर की गोलियो से भून दिये गये। ज़मीन निरपराधो के रक्त से रँग गई। स्त्रियो पर भी अत्याचार किये गये। लोगो को नाक के वल चलवाया गया। ऐसा मालूम होता था मानो मध्ययुग का वर्वर शासन पजाव की भूमि पर उतर आया हो और नगा

सैनिक शासन

नाच रहा हो। इस कत्लेआम की वाते एव डायर की काली करतूत ब्रिटिश जाति के मुख पर स्याही की भाति पुत गई है और सदा के लि पुत गई है। खैर, देश-विदेश मे इन कारनामो के कारण हाहाकार म गया, वडा व्यापक विरोध हुआ। फलत सरकार की ओर से जाँच लिए हण्टर-कमेटी वैठी। राष्ट्रीय महासभा ने उसका वहिष्कार कि और स्व० मोतीलालजी, देशवधु, गाधीजी, अव्वास तैयवजी और श्र जयकर की एक स्वतत्र कमेटी जाच के लिए नियुक्त की। इस कमे ने बडी सावधानी से जाच की और जव इसकी रिपोर्ट निकली तो ऐ रोमाचकारी कृत्यो का पता लगा जो मानव-जाति के इतिहास की अत्य घृणित घटनाओ मे गिने जायँगे।

फौजी कानून के अनुसार सैकडो पजावियो को जेल भेजा गया था। दमन ज़ोरो से हो रहा था पर सार्वजनिक विरोध के कारण सरकार ज्यादा दिन तक वह नीति कायम न रख सकी।

सुधारो का समर्थन

फलत दिसम्वर के पहले वहुत-से कैदी छोड दिये गये। उधर नवीन सुधारो की घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी पर वह अत्यन्त असतोषजनक थी। फिर भी गाधीजी का श्री माण्टेगू मे विश्वास था। महासभा के पहले कैदियो को छोड देने एव अली-वंधुओ की रिहाई से उन्होने समझा था कि सरकार को अपने कार्यो पर पश्चात्ताप है। इसीलिए अमृतसर-काग्रेस मे उन्होने सुधारो को अपर्याप्त वताते हुए भी उनका समर्थन किया था, यद्यपि देशवधु, तिलक इत्यादि विरुद्ध थे। पर शीघ्र ही उनको मालूम हो गया कि यह वात गलत है। खिलाफत के मामले मे मुसलमानो के साथ अन्याय हुआ था,

स्वप्न-भंग

उधर इग्लैण्ड मे जेनरल डायर की निन्दा करने की जगह उसका स्मारक वनाया जा रहा था और उसे थैलियाँ भेट की जा

रही थी। काग्रेस का नया सगठन किया गया। सितम्बर १९२० की कलकत्ता की विशेष काग्रेस मे उन्होने असहयोग-आन्दोलन का कार्य-क्रम पेश किया जो पास हो गया और दिसम्बर मे नागपुर-काग्रेस ने उस पर स्वीकृति दे दी। फलत १९२० से देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के इतिहास मे स्वावलम्बन के एक नये युग का आरम्भ हुआ।

असहयोग-आंदोलन

गाधीजी इतने दिनो से जो तपस्या एव साधना कर रहे थे वह सार्वजनिक जीवन मे गगा की पावन-कारी धारा की भॉति प्रवाहित हो उठी।

अभूतपूर्व-जागरण

वह तूफान आया, वह सामूहिक जागरण दिखाई पडा जो भारत के इतिहास मे बिलकुल नया और आश्चर्यजनक था। अनेक वकीलो ने वकालत छोड दी, विद्यार्थियो ने स्कूल-कालेजो का पल्ला छोडा, कौंसिलो एव अदालतो का ज़बर्दस्त वहिष्कार हुआ। लोगो ने अपनी उपाधियॉ लौटा दी। प्रिंस ऑव् वेल्स के आगमन के समय जबर्दस्त हडताल हुई। हजारो आदमी जेल गये। इसके पहले से ही गाधीजी 'नवजीवन' और 'यग इण्डिया' पत्र अहमदाबाद से निकालने लगे थे।

इस बीच मालवीयजी ने वायसराय से मिलकर समझौते का बडा प्रयत्न किया पर वायसराय टस से मस न हुए। १९२१ मे अहमदाबाद मे काग्रेस हुई।- और उसमे गाधीजी सत्याग्रह-आन्दोलन के सर्वेसर्वा (डिक्टेटर) बनाये गये। १४ जनवरी १९२२ ई० को बम्बई मे नेताओ की एक कान्फ्रेस हुई। इसमे गॉधीजी शामिल हुए पर ऐसी कान्फ्रेसो से कुछ नतीजा निकलता न देख बारडोली मे सत्याग्रह-सग्राम आरभ करने के निश्चय की सूचना देते हुए भारत-सरकार को उन्होने चुनौती भेजी।

बारडोली मे सत्याग्रह की तैयारियाँ हो ही रही थी कि युक्तप्रान्त

के गोरखपुर जिले मे चौरीचौरा का हत्याकाण्ड हो गया। उत्तेजित जनता ने पुलिस की कार्रवाइयो से त्रस्त हो थाने मे आग लगा दी। पुलिस के २२ आदमी मारे गये।

चौरीचौरा

गाँधी जी ने, जो अपना प्रत्येक काम अन्तरात्मा की प्रेरणा और प्रभु की साक्षी से करते थे, देखा कि जनता की ऐसी हिसात्मक मनोवृत्ति के बीच आन्दोलन नही चल सकता। और इस घटना को ईश्वरीय चेतावनी समझ, महासभा भी कार्य-समिति की सलाह से, वारडोली सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

गाँधी जी की गिरफ्तारी होने की अफवाह तो बहुत दिनो से फैल रहीं थी। यहाँ तक कि उन्होने 'यग इण्डिया' मे राष्ट्र से विदाई भी ले ली थी और लोगो से अपने निश्चय पर दृढ रहने की अपील की थी। अन्त मे अफवाह सच्ची हुई। १० मार्च (शुक्रवार) १९२२ को वह साबरमती आश्रम मे, 'यग इण्डिया' के प्रकाशक श्री शकरलाल बैंकर के साथ, गिरफ्तार कर लिये गये और 'यग इण्डिया' मे प्रकाशित चार लेखो को लेकर उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। ११ ता० को मुकदमे की पेशी हुई। मुकदमा सेशन सुपुर्द हुआ। १८ मार्च को सेशन जज श्री सी० एन० ब्रूमफील्ड के सामने मुकदमे की पेशी हुई। इस मुकदमे की तुलना ईसामसीह के मुकदमे से की गई है। गाँधीजी ने स्वय जुर्म कबूल कर लिया। जज ने उनके दर्शन से अपने को धन्य माना पर कर्तव्य-वश छ वर्ष की सज़ा दी। जेल मे गाँधी जी का जीवन सच्चे सत्याग्रही और तपस्वी का जीवन था।

गाँधी जी की गिरफ्तारी

देश के अँधेरे कोने मे पडे हुए चर्खे को सार्वजनिक जीवन मे लाकर ...त के सबसे शक्तिमान धधे को पुनर्जीवित करने एव हज़ारो लाखो

गरीब भाई-बहनो के पेट मे रोटी डालने का श्रेय गाँधीजी को ही है।

खादी-आन्दोलन

अपनी सहकर्मिणी गगा बहन की सहायता से असहयोग-आन्दोलन के पहले इन्होने गाँवो से चर्खे को खोज निकाला और धीरे-धीरे इतना विस्तृत खादी-आन्दोलन देश मे खडा कर दिया। आज उसका देशी उद्योग मे जो महत्त्व है, उसे सब जानते है। वह स्वय तो अपने एव अपने साथियो के लिए नित्य कताई को यज्ञ एव व्रत रूप मानते है।

× × × ×

महात्मा गाँधी के जेल जाने के बाद धीरे-धीरे आन्दोलन शिथिल हो गया। देश मे शुरू से एक ऐसा दल था जो राष्ट्रीय कार्य मे कौसिलो का उपयोग करना चाहता था। फलत देशवन्धु एव मोतीलाल जी ने स्वराज दल की नीव डाली। इससे वहुत दिनो तक तो कॉग्रेस मे वडी दलवन्दी रही और परस्पर कलह का तूफान उठ खडा हुआ पर बाद में समझौता हो गया।*

गाँधीजी को जेल मे रहते प्राय दो वर्ष बीते थे कि उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और धीरे-धीरे पेट मे फोडा (अपेण्डाइसिटीज) हो गया।

पेट में फोड़ा और रिहाई

अवस्था ऐसी हो गई थी कि सरकार ने आप्रेशन की जिम्मेदारी अपने पर लेने से इन्कार कर दिया। गाधीजी ने अपनी जिम्मेदारी पर सासून अस्पताल (पूना) मे कर्नल मैडक से आप्रेशन कराया। यह जनवरी सन् १९२४ की वात है। इसके वाद ही वह छोड दिये गये।

पर इस समय तक देश की अवस्था वहुत खराव हो गई थी। जहाँ

* इस दल का वर्णन मोतीलालजी एवं देश-बन्धु के चरित्रो में किया गया है।

हिन्दू-मुसलमानो मे एकता की मधुर कल-कलस्विनी वहती थी वहाँ ईर्ष्या

उपवास की घोषणा

द्वेष का तूफान आया । अनेक स्थानो मे दगे हुए। इनका प्रभाव गाधीजी के हृदय पर पडा । उनक दिल मे वडी व्यथा हुई । उन्होने राष्ट्र के प्रायश्चित्त-स्वरूप स्वय २१ दिन के उपवास की घोषणा की । ११ सितम्वर १९२४ को यह घोषणा प्रकाशित हुई थी जिसे पढकर सारा भारत काँप गया ।

१७ सितम्वर को उपवास शुरू हुआ । इस समय वह दिल्ली में मौलाना मोहम्मदअली के अतिथि थे । इस उपवास की घोपणा से मित्र

अनशन का आरम्भ

घवड़ा गये । हकीम अजमलखाँ, मोहम्मदअली, डा० असारी इत्यादि ने समझाया पर गाधीजी का कहना था कि '**मेरा अनशन मेरे और प्रभु के बीच का झगड़ा है** । वह टूट नहीं सकता ।' इसके साथ ही उन्होने यह भी लिखा —"**मेरा प्रायश्चित्त एक विदीर्ण और क्षत-विक्षत हृदय की, अनजान में किये पापो के लिए क्षमा-प्रार्थना है** ।" इन पक्तियो मे गॉधीजी का निर्मल हृदय वोल रहा है, यहाँ हम उनकी साधना का श्रेष्ठ रूप देखते है । इस उपवास का परिणाम यह हुआ कि दिल्ली मे सब धर्मो के प्रतिनिधियो का ऐक्य-सम्मेलन हुआ । इसमे भारतीय ईसाइयो के धर्म-गुरु (मेट्रोपालिटन ऑव् इण्डिया) भी शामिल हुए थे । इससे स्थायी फल तो कुछ न निकला पर तात्कालिक परिणाम यह जरूर हुआ कि भिन्न-भिन्न धर्मानुयायियो को एक-दूसरे को समझने एव सम्पर्क मे आने का मौका मिला । उपवास निर्विघ्न समाप्त हुआ । यद्यपि इस उपवास ने शारीरिक दृष्टि से गॉधीजी को वहुत कमजोर कर दिया पर उनकी आत्मिक ज्योति और पूँजी वहुत वढ गई ।

दिसम्वर १९२४ मे गाँधीजी वेलगाँव-कॉग्रेस के अध्यक्ष हुए । उनका भाषण शब्दाडम्वर से विलकुल मुक्त, छोटा और काम-काज की वातो

भरा हुआ था। उन्होने काग्रेस के दोनो दलो (परिवर्तन-वादी, अपरि-वर्तन-वादी) मे समझौता भी कराया। यहाँ गाँधीजी के प्रयत्न से एक विधायक कार्य-क्रम स्वीकृत हुआ।

बेलगांव-कांग्रेस

खादी, अस्पृश्यता-निवारण और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य इसके मुख्य अग थे। असहयोग-आन्दोलन स्थगित हो गया।

गाँधीजी ने अपनी शक्तियाँ विधायक कार्य-क्रम की पूर्ति मे लगा दी और उनके प्रयत्नो से खादी-कार्य मे बडी उन्नति हुई। मलाबार मे हरि-जनो का (वैकम) सत्याग्रह चल रहा था। गाधीजी के प्रयत्नो से वह भी शान्त हुआ।

उधर मोतीलालजी एव सर सप्रू के प्रयत्न से सब दलो के नेताओ की एक कान्फ्रेस हुई। और उसने एक उप-समिति इस बात के लिए बनाई कि सर्व-सम्मति से राष्ट्रीय माँग, भारत के भावी शासन-विधान की रूप-रेखा के रूप मे, तैयार करे।

राष्ट्रीय माग

फलत नेहरू-रिपोर्ट निकली और लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन मे स्वीकृत हुई। इसमे औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की गई थी। उधर युवक-दल पूर्ण स्वतन्त्रता से कम मे सन्तुष्ट होने के लिए तैयार न था। दिसम्बर १९२८ मे, मोतीलालजी की अध्यक्षता मे, कलकत्ता मे कॉग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमे यह भेद स्पष्ट दिखाई पडा। जवाहरलालजी इत्यादि इस प्रकार की प्रार्थनाओ एव माँगो से असन्तुष्ट थे पर गाँधीजी के प्रयत्न से यह समझौता हुआ कि यदि एक वर्प के अन्दर—३१ दिसम्वर १९२९ तक—सरकार राप्ट्र की इस निम्नतम माँग को पूरा न कर दे तो काँग्रेस का ध्येय बदलकर पूर्ण स्वतन्त्रता कर दिया जाय।

इधर ये सब घटनाऐं हो रही थी, उधर मई १९२९ मे इग्लैण्ड मे पार्लमेण्ट का नया चुनाव हुआ। मजूर दल के हाथ मे शासन आया।

इससे भारत मे लोगो की आशाएँ बढ गई क्योंकि वह सदा से भारतीय आकांक्षाओ के साथ मौखिक सहानुभूति दिखाता आ रहा था। पर उसने भारत के विषय मे कुछ दूरदर्शिता न दिखाई। इधर काँग्रेस की दी हुई एक साल की अवधि पूरी होने को आ रही थी। लोगो मे असन्तोष बढ रहा था। इस समय वायसराय—लार्ड-इरविन—सलाह-मशविरे के लिए, खास तौर पर, इग्लैण्ड गये थे। वहाँ से लौटकर ३१ अक्तूबर १९२९ को उन्होने घोषणा की कि 'भारत मे ब्रिटिश नीति का **उद्देश्य धीरे-धीरे** भारत को उपनिवेशो की पक्ति मे लाना है।' यह भाषण गोल-माल था, इससे लोगो को सतोष कैसे होता ? उधर भारतीय सुधार की समस्याओ की जाच करने के लिए साइमन कमीशन बैठाया गया, उसमे एक भी भारतीय के न रहने के कारण उसका देश-व्यापी विरोध एव बहिष्कार हुआ। इस विरोध मे लिबरल भी शामिल थे। काँग्रेस के नेता चाहते थे कि वायसराय या ब्रिटिश सरकार यह विश्वास दिला दे कि कमीशन की रिपोर्ट निकलने के बाद जो गोलमेज-सम्मेलन ('राउण्ड-टेबुल-कान्फ्रेस') होगा उसका उद्देश्य स्वतत्र औपनिवेशिक मर्यादा के शासन-तत्र की योजना बनाना ही होगा और सरकार उसका समर्थन करेगी। गाँधीजी इस सम्बन्ध मे २३ दिसम्बर १९२९ को वायसराय से मिले भी पर कुछ तै नही हुआ। फलत दिसम्बर के अन्त मे लाहौर काँग्रेस हुई। वे तूफानी दृश्य देखने लायक थे। काँग्रेस ने अपने वचन के अनुसार ३१ दिसम्बर की आधी रात तक प्रतीक्षा की। जब सरकार की ओर से कोई आश्वासन नही मिला तो उसने पूर्ण स्वतत्रता का प्रस्ताव पास कर दिया। काँग्रेस ने कौसिल के बहिष्कार का प्रस्ताव भी पास किया।

साइमन-कमीशन

२५ जनवरी १९३० को असेम्बली मे वायसराय का भाषण हुआ।

गांधी की ग्यारह शर्तें

२६ जनवरी को सारे देश मे स्वतत्रता-दिवस मनाया गया जिसमे स्वतत्रता की घोषणा दोहराई गई। यह काग्रेस के निश्चय पर देश की स्वीकृति की मुहर थी। वायसराय के भाषण के उत्तर मे गाँधीजी ने उनके सामने ११ मागे रक्खी। जिनमे मुख्य ये थी—(१) मादक द्रव्यो का पूर्ण निषेध (२) विनिमय की दर १ शिलिग ६ पेस से १ शिलिग ४ पेस कर दी जाय। (३) जमीन के लगान मे कम-से-कम ५० प्रतिशत की कमी (४) नमक-कर हटा दिया जाय। (५) सैनिक व्यय कम-से-कम ५० प्रतिशत कम कर दिया जाय। ये शर्तें गाँधीजी ने पारसी श्री बोमनजी को भी लिख भेजी थी जो पहले से ही प्रधान मत्री श्री रैमसे मैकडानल्ड से समझौते की बाते कर रहे थे।

१९३० का महान् सत्याग्रह-आन्दोलन

वायसराय को पत्र

पर इन बातो से क्या होना-जाना था ? गाधीजी इसे जानते थे। अत. उन्होने राष्ट्र को तैयार करना शुरू किया। १५ फरवरी को अहमदाबाद मे कॉग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक हुई। उसने महात्माजी को आन्दोलन के सम्बन्ध मे सर्वाधिकार दे दिया। गाधीजी का पहला काम वायसराय को पत्र लिखा था। यह पत्र उन्होने रेजीनाल्ड रेनाल्ड नामक एक अग्रेज युवक के हाथ भेजा। इस कार्य से उन्होने प्रकट किया कि अग्रेजो से उनका व्यक्तिगत कोई द्वेष नही है। लडाई शासन-प्रणाली से—सरकार से है। इस पत्र मे उन्होने वायसराय से भारत की मागो के विषय मे अन्तिम अपील की थी और कहा था कि 'यदि १० मार्च तक इसका उत्तर न मिला तो १० मार्च को नमक-कानून भग करने के लिए मैं कुछ साथियो के साथ आश्रम से प्रस्थान करूँगा।' वायसराय ने अपने उत्तर मे गाधीजी के इस निश्चय पर खेद प्रकट किया

और ऐसे खतरनाक पथ पर न चलने की चेतवनी दी। महात्माजी ने उस पर टीका करते हुए लिखा—"**मैंने घुटने टेककर रोटी की भिक्षा माँगी थी पर मुझे उत्तर में पत्थर का टुकड़ा मिला। अंग्रेज जाति केवल बल के आगे ही झुकना जानती है..............।**"

गाँधीजी ने इस यात्रा के लिए आश्रम के केवल ऐसे आदमियो को चुना था जो प्रत्येक दशा मे अहिंसात्मक रह सकते थे। इस टुकडी मे सब प्रान्तो के लोग लिये गये थे। गाधीजी ने प्रतिज्ञा की कि स्वराज मिलने के पहले अव मैं रहने के लिए आश्रम को न लौटूंगा। १२ मार्च को, ७९ साथियो के साथ, दाँड़ी-यात्रा शुरू हुई। वह अद्भुत दृश्य था। किसी की समझ मे न आता था कि यह दुबला-पतला आदमी चन्द निरस्त्र साथियो के साथ ब्रिटिश साम्राज्य से कैसे लडाई करेगा। जहाँ-जहा यह दल पहुँचता तहाँ-तहाँ सभाएँ होती, गाधीजी लोगो को सत्याग्रह का मर्म समझाते। दाडी पहुंचने तक तो सारा देश उत्साह से भर गया।

महायात्रा

इस बीच २१ मार्च को भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक हुई जिसने देश को आदेश किया कि महात्माजी की गिरफ्तारी के वाद या ६ अप्रैल से (जो पहले हो) सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय। ६ अप्रैल को दाँड़ी मे गाधीजी एव उनके दल ने नमक-कानून भग किया। सारे देश मे सत्याग्रह की धूम मच गई। गिरफ्तारियाँ होने लगी। अनेक स्थानो मे पुलिस ने नमक वनाने मे काम आनेवाले वर्तनो को फोड दिया। कही-कही जलता नमक सत्याग्रहियो पर डाला गया पर इन सबको स्वयसेवको ने वीरता-पूर्वक सहन किया। लाठी चार्ज तो साधारण वात हो गई। वम्बई ने इस वार कमाल कर दिया। सैकड़ो मन नमक समुद्री क्यारियो पर धावा वोलकर सत्याग्रही उठा लाते

कानून-भंग

र बाज़ार मे खुलेआम बेचते। पैदल एव आश्वारोही पुलिस की मार से

गाधीजी की गिरफ्तारी

इस कार्य मे कितने ही घायल हुए, एक-दो बार गोलियाँ भी चल गई। ५ मई को गाधीजी गिरफ्तार हुए पर इससे देश मे और उत्साह फैल गया। अभी तक वल नमक-कानून भग किया जा रहा था। कई प्रान्तो मे जगल सत्याह ने ज़ोर पकडा और अनेक प्रकार के अनुचित कानून तोडे जाने लगे। ही जगल-सत्याग्रह, कही जब्त पुस्तको की बिक्री, कही मादक द्रव्य एव ग्रेज़ी माल पर पिकेटिग करके लोग धडाधड जेल जा रहे थे। सरकार मन पर तुल गई थी। विशेष कानून (आर्डिनेन्स) बनाकर अखबारो के ुँह बन्द कर दिये गये, राष्ट्रीय सस्थाएँ गैर-कानूनी करार दी गईं। र इन सब बातो से आन्दोलन दब न सका। स्त्रियो मे इस आन्दोलन से ऐसा जागरण हुआ और उन्होने इस वीरता से अपना हिस्सा लडाई में दिया कि भारतीय इतिहास के अत्यन्त गौरवपूर्ण पृष्ठो मे उसका वर्णन किया जायगा। जो काम वर्षो का था वह दिनो मे हुआ। स्त्रियो ने परदा फाड फेका और उच्च घराने की कोमलागी बहने मैदान मे निकल आई। इनसे भारतीय नारी की अत्यन्त तेजस्विनी मूर्ति हमारे बीच प्रकट हुई। उसने अपनी वीरता, कष्ट-सहिष्णुता और त्याग से पुरुषो को लज्जित कर दिया। यह उन्ही का उत्साह था जिसने असभव को सभव कर दिया। शराब-ताडी इत्यादि की बिक्री नाम-मात्र को रह गई। बहुत जगह तो इनके ठेके ही नही उठे और जहाँ उठे भी वहाँ बहुत थोडी बोली मे। कितनी जगह—जैसे दिल्ली मे—शराब की दुकानो पर ऐसी पिकेटिग हुई कि वे प्राय बन्द ही रही। विदेशी कपडो की बिक्री बिलकुल घट गई। ज्यादातर प्रान्तो मे तो वस्त्र-विक्रेताओ का विदेशी स्टाक काग्रेस की मुहर लगाकर बन्द कर दिया गया। इस समय तो ऐसा मालूम

होता था मानो देश मे कॉंग्रेस का ही राज है। सरकार को करोडो रुप
का घाटा होने लगा। उधर खीझकर वह आर्डिनेन्स-पर-आर्डिनेन्स निकाल
लगी। पर इससे आन्दोलन मे कोई कमी न हुई। अन्त मे सप्रू-जयक
के प्रयत्नो से जेल मे ही गाँधीजी, मोतीलालजी, जवाहरलालजी इत्या
मे सलाह-मशविरा हुआ। वायसराय ने काँग्रेस-कार्यकारिणी के र
सदस्यो को विना किसी शर्त के छोड दिया। इस समय तक करीव ए

गाधी-इरविन समझौता

लाख आदमी जेल जा चुके थे। अन्त मे गांधीजी अ
लार्ड इरविन की कई दिन की वात-चीत के व
सरकार ओर कॉग्रेस के वीच समझौता हुआ। सत्
ग्रही कैदी छोड दिये गये, कराची मे घूम-धाम से कॉग्रेस हुई और उ
निश्चयो के अनुसार कॉग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से गाधी
द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन मे सम्मिलित हुए।

पर सरकार की मनोवृत्ति तो वही थी। उसमे कोई परिवर्तन न
हुआ था। अकेले लार्ड इरविन के भले आदमी होने से भारत-शासन मे

गाधीजी इग्लैण्ड में

क्या उलट-फेर हो सकती थी? उधर गाधीजी इग्लैंड
गये, इधर युक्तप्रान्त मे किसानो की लगान मे कमी
करने की मॉगो को ठुकराकर, तथा सीमाप्रान्त और वगाल मे आर्डिनेन्स
जारी कर, सरकार ने स्थिति विपम कर दी। इससे युक्तप्रान्त मे किसानो
को आर्थिक सन्याग्रह जारी करना पडा। इतने दिनो तक महात्माजी
गोलमेज-सम्मेलन के सम्बन्ध मे इग्लैण्ड मे रहे। यो तो कितने ही
भारतीय प्रतिनिधि सम्मेलन मे गये थे पर जिस निर्भीकता से गाधीजी ने
काम लिया और विपय एव परिस्थिति को स्पष्ट शव्दो मे व्यक्त करने
और कराने की जो आकाक्षा एव उत्कण्ठा उन्होने प्रकट की, वह किसी
दूसरे मे देखी न गई। इग्लैण्ड मे उनका खूव स्वागत हुआ। जनता ने,

मजूरो ने उन्हे खूब अपनाया। वडे-वडे मनीषी एव प्रत्येक क्षेत्र के प्रतिष्ठित पुरुषो के सम्पर्क मे आये पर इन सब बातो के होते हुए भी उनपर यह तो स्पष्ट हो ही गया कि सरकार भारत को वास्तविक अधिकार देने को उत्कण्ठित नही है, कोरे शब्द-जाल को लेकर वह चलती है। वहाँ से वह बहुत निराश होकर लौटे। वस्तुत वह यूरोप के अन्य देशो मे भी जाना चाहते थे पर भारत से उनके शीघ्र लौट आने के लिए पत्र और तार मिल रहे थे अत फ्रास मे प्रसिद्ध शान्तिप्रिय कलाविद् और विचारक रोम्याँ रोलाँ से मिलकर वह भारत लौट आये।

गाँधीजी के लौटने पर तुरन्त ही काग्रेस कार्य-कारिणी की बैठक वम्बई मे करने का निश्चय हुआ था। यद्यपि युक्तप्रान्त मे किसानो का सत्याग्रह चल रहा था और उधर कई प्रान्तो मे दमन भी चल रहा था पर गाधीजी की इच्छा शान्ति-पूर्वक दोनो पक्षो का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने की थी। इसी समय काग्रेस-कार्यकारिणी की वैठक मे शरीक होने के लिए वम्बई जाते हुए जवाहरलालजी गिरफ्तार कर लिये गये। उनपर इलाहावाद न छोड़ने की आज्ञा तामील की गई थी पर यह अनुचित थी क्योकि उनकी पत्नी वम्बई मे वहुत ज्यादा वीमार थी, दूसरे काग्रेस के प्रधान मत्री होने के कारण काग्रेस-सम्वन्धी अधिकाश कागज़-पत्र उन्ही के पास थे। युक्तप्रान्त की समस्या पर ठीक तौर से विचार करने के लिए युक्तप्रान्तीय काग्रेस-कमिटी के अध्यक्ष श्री शेरवानी भी वम्वई जा रहे थे, उन्हे भी जवाहरलाल की भाँति ही, उसी जुर्म मे गिरफ्तार किया गया। इससे वडी उत्तेजना फैली। लोगो ने समझा कि सरकार अपने वादो पर स्थिर नही है और दमन पर उतारू हो गई है। इतना सब होते हुए भी गाँधीजी ने वायसराय (लार्ड विलिंगडन) से मिलकर देश एव सरकार

लौटने पर

की स्थिति पर वातचीत करने की इजाज़त माँगी। वह इजाजत भी नही मिली। वस्तुत सरकार ने लडाई की सब तैयार पहले से ही कर ली थी। मजवूर होकर कांग्रे को फिर सत्याग्रह-आन्दोलन जारी करना पडा। इस वार सरकार वड़े वेग एव कडाई से दमन आरभ किया। न केवल काग्रेस सस्थाएँ— वरन् सव प्रकार की राष्ट्रीय सस्थाएँ जिनसे किसी प्रकार की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता काग्रेस के काम मे मिलती थी—गैर-कानूनी करार दे दी गई। वहुतेरे छात्र-सघ, स्वदेशी-सघ, खादी-भण्डार तक इस लपेट मे आ गये। गैर-क़ानूनी करार देकर ही सरकार रह गई हो सो वात भी नही, इनमे से अधिकाश पर उसने कव्जा कर लिया। सत्याग्रहियो को भाडे पर मकान देने के लिए कितने ही आदमी गिरफ्तार किये गये, हडताल करने के कारण कितने ही दुकानदारो पर जुर्माना किया गया। अख़वारो मे सत्याग्रह की खबरे छापना, सत्याग्रहियो की तस्वीर छापना जुर्म करार दिया गया। सुव्यवस्था के शासन की जगह भय और आतक का राज्य शुरू हुआ। यह कॉग्रेस के सगठन एव जनता पर उसके अधिकार का द्योतक है कि ऐसे घोर दमन के युग मे भी वरावर आदोल चलता रहा। डेढ वर्ष मे (१९३२ के मई तक) साठ हज़ार से अधि आदमी जेल गये।

फिर सत्याग्रह

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अवस्था की ख़राबी, किसानो की दुर्बल स्थिति देश मे व्यापार की गिरी दशा के कारण १९३३ से सत्याग्रह-आन्दोल की गति धीमी पडने लगी। इसका एक मुख्य कार नेताओ की अनुपस्थिति थी और दूसरा कारण य कि सरकार ने युक्तप्रात मे किसानो की इच्छा की वहुत करके पूर्ति क दी। फिर इतने लम्वे युद्ध मे सदा एक-से उत्साह की आशा ही कैसे क

१९३३ में

ा सकती है ? फिर इस वार आदोलन मे प्रदर्शनो के अभाव एव कानूनी ाधाओ के कारण सच्ची खबरे न मिलने से भी जनता अधकार मे रही। व भी किसी-न-किसी रूप मे आदोलन हुआ। १९३३ मे कलकत्ता में ीमती नेली सेन गुप्त की अध्यक्षता मे काग्रेस हुई। मालवीयजी इसके ध्यक्ष चुने गये थे पर वह रास्ते मे ही गिरफ्तार कर लिये गये। इस म्बन्ध मे और भी बहुत-सी गिरफ्तारियाँ हुई पर प्राय सब आदमी कुछ देनो वाद छोड दिये गये। काग्रेस का आदोलन तो चलता रहा पर कानूनी वाधाओ के कारण उसका रूप बडा विकृत एव गुप्त हो गया।

× × ×

हरिजन-सेवा

अस्पृश्यता को गाँधीजी सदा से हिन्दू धर्म एव मनुष्यता का कलक मानते रहे है। उनका कहना है कि सवर्ण हिदुओ ने अछूतो के साथ लज्जा-जनक एव घृणास्पद व्यवहार करके अपने को नीचे गिरा लिया है, उन्हे इसका प्रायश्चित्त करना चाहिए। जहाँ तक गाँधीजी का सम्बन्ध है उन्होने अपने जीवन मे कभी अस्पृश्यता को स्थान नही दिया। आश्रम मे हरिजनो को उन्होने कुटुम्बी की तरह अपनाया था। उनकी सेवा उन्हे बडी प्रिय थी। उनके प्रयत्नो से १९२४ से ही काग्रेस ने अस्पृश्यता-निवारण को अपना एक मुख्य विधायक कार्यक्रम बनाया था। धीरे-धीरे काम चल रहा था पर सतोषजनक नही था। १९३१ मे जब वह गोलमेज-सम्मेलन मे गये थे तब (१३ नवम्बर १९३१) अल्प-सख्यक जातियो के विशेष प्रतिनिधित्व पर बोलते हुए उन्होने हरि-जनो को—अछूतो को—अलग प्रतिनिधित्व देकर सदा के लिए हिन्दुओ से उनका अलगाव कर देने की नीति की जबर्दस्त टीका की और यह भी कह दिया कि ऐसे किसी प्रयत्न का मै प्राणो की वाजी लगाकर भी विरोध करूँगा। पर उस समय किसी ने इस वात पर ज्यादा ध्यान न दिया था

और सरकार ने तो विलकुल न दिया। इधर जब दूसरे सत्याग्रह-आदोलन के सिलसिले मे गाधीजी जेल मे थे तभी उन्हे पता चला कि सरकार शीघ्र ही जातिगत प्रतिनिधित्व के बारे मे निर्णय करेगी। इसलिए ११ मार्च को उन्होने भारत-सचिव सर सेमुएल होर को पत्र लिखा जिसमे अस्पृश्यो की समस्या पर विशेष चिन्ता प्रकट करते हुए यह सूचना दी कि यदि सरकार अपने निर्णय में इन 'अस्पृश्य' जातियो के लिए अलग प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करेगी तो मै अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार आमरण उपवास शुरू करूँगा।

प्रायोपवेशन का आरम्भ

अगस्त मे ब्रिटिश सरकार की ओर से प्रधान-मत्री श्री रैमसे मैकडानल्ड का निर्णय प्रकाशित हुआ, जिसमे अस्पृश्यो के लिए गोलमोल योजनाए थी। नमक-मिर्च भर लगा था पर रूप वही था जिसके विरुद्ध गाधीजी ने अपनी सम्मति प्रकट की थी। इसलिए १८ अगस्त को उन्होने प्रधान-मत्री को पत्र लिखकर सूचित किया कि २१ सितम्बर से मेरा आमरण अनशन शुरू होगा। और तबतक वह भग न होगा जबतक कि उस निर्णय को सरकार बदल न दे। प्रधान मत्री ने भी गोलमोल उत्तर दिया और निर्णय मे परिवर्त्तन करने से इन्कार कर दिया। इसलिए २० सितम्बर को १२ बजे दिन से यह आमरण उपवास—प्रायोपवेशन—अब्बास तैयबजी की लड़की द्वारा बनाये हुए निम्न-लिखित भजन के साथ आरम्भ हुआ—

उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहाँ जो सोवत है?
जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है। उठ०॥
टुक नींद से अँखियाँ खोल जरा
और अपने रब से ध्यान लगा

यह प्रीति करन की रीति नही, रब जागत है तू सोवत है !
उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहाँ जो सोवत है ?
जो कल करना है आज करले,
जो आज करना है, अब करले
जब चिड़ियो ने चुँग खेत लिया, फिर पछताये क्या होवत है ?
उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहाँ जो सोवत है ?

ज्योही सारा पत्र—व्यवहार प्रकाशित हुआ सारे भारत मे तहलका मच गया। मित्रो का आग्रह गाँधीजी को उनके पथ से विचलित न कर सका। उधर सरकार भी तनी हुई थी। इस बीच एक-मात्र उपाय यही था कि उच्चवर्ग के हिन्दुओ एव अछूतो के विभिन्न दलो के नेताओ पर परस्पर महात्माजी के सन्तोष के लायक समझौता हो जाय क्योकि सरकार ने अपना निर्णय करते समय कहा था कि यह निर्णय तबतक के लिए है जबतक तत्सम्बधी जातियो या दलो के नेता स्वय कोई समझौता न कर ले। बडी दौड-धूप के बाद पूना मे सवर्ण हिन्दू नेताओ और अछूत नेताओ के बीच एक समझौता हुआ। इसके अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओ मे सारे भारत से कुल १४८ (बगाल ३०, बम्बई-सिन्ध १५, मद्रास ३०, युक्तप्रान्त २०, पजाब ८, बिहार-उडीसा १८, मध्यप्रान्त २०, आसाम ७) सदस्य चुनने का अधिकार अस्पृश्य जातियो को दिया गया और सयुक्त निर्वाचन की शर्त रखी गई। यद्यपि इसमे भी स्थान सुरक्षित रखा गया था और यह समझौता भी गाँधीजी की शर्तो की पूर्णत. पूर्ति नही करता था फिर भी इसकी अन्त भावना उनकी माँग के अनुकूल थी। इसलिए उन्होने इसे स्वीकार कर लिया और २६ सितम्बर को सरकार ने भी इसे स्वीकार कर, स्वीकृति की

हलचल

पूना का समझौता

सूचना गाँधीजी को दे दी। यह सूचना गाँधीजी को ४ बजे मिली। इस समय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी पहुँच गये थे। उनके तथा अन्य मित्रो एव स्नेहियो के सामने २६ सितम्बर को ५ बजे गाँधीजी ने उपवास भग किया। सरकार ने माता कस्तूर बा को उपवास-काल मे गाँधीजी की सेवा के लिए पहले ही छोड दिया था। उपवास-भग के लिए श्रीमती कमला नेहरू ने दो मीठे नीबुओ का रस निचोडकर कस्तूर बा को दिया। उन्होने गाँधीजी को दिया। उसे काँपते हाथो से धीरे-धीरे गाँधीजी पी गये। इस प्रकार यह उपवास समाप्त हुआ। इसके बाद अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन करने के लिए गाँधीजी को सब प्रकार की सुविधा भी जेल मे ही, सरकार ने दे दी और जेल के भीतर से ही वह आन्दोलन चलाने लगे। उनके उपवास के समय ही बम्बई मे हिन्दू नेताओ की एक सभा हुई थी और उसके निश्चय के अनुसार श्री घनश्यामदास बिडला की अध्यक्षता मे भारतीय अस्पृश्यता-निवारण-सघ (जिसका नाम बदल-कर पीछे हरिजन-सेवक-सघ कर दिया गया) स्थापित हुआ। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली मे रखा गया और भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे प्रान्तीय सघो तथा उनकी देखरेख मे जिला एव नगर-सघो का निर्माण हुआ। इस प्रकार गाँधीजी की प्रेरणा से इस दिशा मे सगठित कार्य शुरू हुआ। जेल के अन्दर से गाँधीजी इसका नेतृत्व करते रहे। सैकडो मन्दिर और कुएँ अछूतो—हरिजनो के लिए खोल दिये गये, जगह-जगह स्कूल खोले गये; उनकी गन्दी बस्तियो के सुधार की योजनाएँ बनाई गई। कई राज्यो ने घोषणा निकालकर उनकी असुविधाएँ दूर कर दी। जो काम युगो मे न हो सकता था, वह महीनो मे हुआ।

पर उन्होने देखा कि यह आन्दोलन भी पूर्ण सच्चाई एव पवित्रता के साथ नही चल रहा है। सवर्ण हिन्दुओ का दिल जैसा बदलना चाहिए,

नही बदला है और कई कार्यकर्ता शुद्ध भावना से इसमे शामिल नही हुए है। इन बातो से उन्हे स्वभावत ही दु ख हुआ और इसे अपनी आत्मिक अपूर्णता मानकर उन्होने बिना किसी शर्त के ८ मई १९३३ से २१ दिन का उपवास करने की घोषणा की। उन्होने यह भी प्रकट कर दिया कि 'किसी खास कारण से मै यह उपवास नही कर रहा हूँ। इसलिए इसमे पहले की भाँति कोई शर्त नही रखी गई है। इसे मै अपने आत्मिक विकास के लिए ही कर रहा हूँ।' पर ऊपर जो कारण लिखे है वे इसके मूल मे अवश्य काम करते थे। गाधीजी का स्वास्थ्य अच्छा था। पिछली बार के उपवास मे ६ दिन मे ही उनकी हालत खराब हो गई थी। इसलिए न सरकार को, न जनता को यह आशा थी कि २१ दिन का उपवास कर सकेगे। सरकार ने उन्हे छोड दिया। छूटने पर भी पूना ('पर्णकुटी' नाम के सगमर्मर के विशाल प्रासाद) मे रहकर उन्होने अपना उपवास जारी रखा। इस बार भी प्रभु ने उन्हे बचा लिया और इस तपस्या की आग से वह चमकते खरे सोने की तरह बाहर निकले।

फिर अनशन

× × ×

जब उन्होने उपवास शुरू किया तो सारे देश के प्राण उनमे अँटक गये। लोगो का सारा ध्यान उधर ही खिच गया। देश मे हाहाकार मच गया। इसलिए गाधीजी ने कॉंग्रेस के स्थानापन्न अध्यक्ष श्री अणे से अनुरोध किया कि वह छ सप्ताह के लिए आन्दोलन स्थगित कर दे। दूसरी ओर सरकार से भी उन्होने अनुरोध किया कि अब भी सम्मानपूर्ण समझौते के लिए जगह है और वह चाहे तो वहाँ से फिर बात-चीत आरम्भ हो सकती है जहाँ से गोलमेज़ सम्मेलन से लौटने पर टूटी थी। पर सरकार ने इस पर तब तक विचार

सत्याग्रह स्थगित

करने से इन्कार कर दिया जबतक कि काग्रेस स्थायी रूप से सत्याग्रह क
पथ न छोड दे। इसके साथ ही गाँधीजी ने अपने वक्तव्य मे यह भ
कहा कि जिस प्रकार गुप्त रीति से आन्दोलन चलाया जाता रहा है व
सत्याग्रह की प्रेरणा के विपरीत है। खैर, स्थानापन्न राष्ट्रपति ने छ
सप्ताह के लिए आदोलन स्थगित कर दिया। पर महात्माजी व
दुर्वलता इतनी वढ गई थी कि इस अवधि के वाद भी वह देग-दशा प
भली-भाँति विचार करने के योग्य न हुए। इसलिए छ सप्ताह अर्था
३१ जुलाई १९३३ तक के लिए फिर आन्दोलन स्थगित किया गया।

गाँधीजी की अवस्था सुधरने पर १४ जुलाई को पूना मे कॉग्रेस के
नेताओ तथा प्रान्तीय प्रतिनिधियो की एक अनियमित पर गुप्त वैठव

पूना सम्मेलन

हुई। इसमे देग की अवस्था पर विचार किय
गया। अत मे कॉग्रेस के स्थानापन्न अध्यक्ष श्री अ
ने एक वक्तव्य निकाल कर—

१—सामूहिक सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

२. सव कॉग्रेस सस्थाएँ तोड दी। (क्योकि आफिस रखने
आन्दोलन गुप्त रीति से ही चल सकता था।)

३. अपनी-अपनी जिम्मेदारी पर व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी र
का आदेश किया।

× × ×

इस निश्चय के वाद गॉधीजी ने अपने १८ वर्ष के सतत परिश्रम
निर्मित सत्याग्रह-आश्रम को तोड दिया। उनका यह कार्य उनके उज्ज

निश्चय के वाद

त्याग का सव से वढिया नमूना है। यह चीज़
ससार मे सव से ज्यादा प्रिय थी क्योकि यह उ
जीवन की प्रयोगशाला थी। तोडने की सूचना उन्होने वम्बई-सरकार

दे दी और अपना यह निश्चय भी उसे लिख भेजा कि १ अगस्त को मै अपने आश्रम के ३२ साथियो (१६ स्त्रियाँ, १६ पुरुष) के साथ गुजरात के 'रास' गाँव की ओर प्रस्थान करूँगा, वहाँ जाकर किसानो की स्थिति का अवलोकन करना और आवश्यकतानुसार उनको सलाह देना हमारा उद्देश्य है। ३१ की रात को ढेड बजे के लगभग ये सब लोग गिरफ्तार कर लिये गये। गाँधीजी पूना (यरवदा जेल) भेजे गये। बाद मे ४ अगस्त को जेल से छोड दिये गये और उनको आज्ञा दी गई कि पूना शहर की सीमा मे चले जायँ और उस सीमा के बाहर न जायँ। गाँधीजी ने आज्ञा भग की। फलत वह फिर गिरफ्तार किये गये, जेल मे उनका मुकदमा हुआ और एक वर्ष की सादी सजा हुई।

गिरफ्तारी और सजा

उधर गाधीजी की गिरफ्तारी हुई इधर सारे देश मे व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन जोर-शोर से शुरू होगया। एक हफ्ते के अन्दर सैकड़ो कार्यकर्त्ता गिरफ्तार होगये। व्यक्तिगत सत्याग्रह का यह सिलसिला १९३४ के एप्रिल के पहले हफ्ते तक चलता रहा—यानी तबतक जबतक सत्याग्रह आन्दोलन अधिकृत रूप से बन्द नही कर दिया गया।

पिछले कारावास के समय (मई मे) सरकार ने गाधीजी को हरिजन आन्दोलन चलाने के सम्बन्ध मे सब तरह की सुविधाएँ दी थी पर इस बार वे ही सुविधाएँ देने से इन्कार कर दिया। गाधीजी की स्थिति बिल्कुल साफ थी। जिस काम के लिए वह प्राणो की बाजी लगा चुके थे और जिसका आरभ हो चुका था उसे वह बीच मे कैसे छोड सकते थे। इसलिए इस बार भी गिरफ्तारी और सजा के थोडे दिनो बाद ही उन्हे फिर अनशन आरभ करना पडा। १६ अगस्त से यह अनशन आरभ हुआ। पहले तो सरकार जिद पर अडी

पुनः अनशन

रही । पर पिछले अनशन के कारण गाधीजी काफी कमजोर हो चुके थे। इसलिए इस वार वडी तेजी से उनका स्वास्थ्य गिरने लगा । चार ही दिनो मे हालत इतनी खराव होगई कि पाँचवे दिन कैदी के रूप में ही उन्हे पूना के सासून अस्पताल मे दाखिल किया गया । पर वहाँ भी उनकी हालत विगडती ही गई । यहाँतक कि २३ अगस्त को उनके प्राण सकट मे समझकर सरकार ने उन्हे विना किसी शर्त्त के रिहा कर दिया ।

रिहाई के वाद भी गाधीजी ने सजा की अवधि तक अपने को कैदी के रूप मे ही मानकर चलना शुरू किया अर्थात् सत्याग्रह न करने की वात तै की। इससे लोगो मे गलतफहमी भी फैली पर उन्होने यह समय पूर्व-निश्चय के अनुसार ही हरिजन-आन्दोलन मे लगाने का निर्णय कर लिया । नवम्बर १९३३ से उन्होने हरिजन-आन्दोलन के लिए सारे देश का अपना दौरा शुरु कर दिया । लगातार दस महीनो तक वह देश के भिन्न-भिन्न भागो का दौरा करते रहे । इस दौरे से जनता मे जो अभूतपूर्व उत्साह पैदा हुआ उसकी तुलना सत्याग्रह के दिनो के उत्साह से ही की जा सकती है । इस दौरे मे इन पक्तियो का लेखक भी कुछ दिनो तक गाधीजी के साथ था। शिथिलता नष्ट होगई थी और लोगो का उत्साह उमडा पड़ता था । इस दौरे से हरिजनो की समस्या तो जनता के सामने खुले और सरल रूप मे आई ही पर उसे यह समझने का भी मौका मिला कि स्वतत्रता का युद्ध ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे लडा जा रहा है इस आदोलन के फल-स्वरूप जनता मे हरिजन भाइयो के प्रति काफी सहानुभूति पैदा हुई । वहुत जगह मदिर उनके लिए खुल गये, कुओ, सडको, मदरसो मे उनका समान अधिकार भी वहुत जगह स्वीकार किया गया । उनकी सेवा और सहायता के लिए हरिजन-सेवक-सघ के तत्त्वाव-

हरिजन दौरा

ान मे, और स्वतत्र रीति से भी, बहुतेरी सस्थाएँ खुली। यह क्रम
लता रहा है और कॉग्रेस सरकारो की सहायता से हरिजनो की समस्या
लझाने मे काफी मदद मिल रही है।

इस दौरे के दरम्यान दो शोचनीय घटनाएँ भी हुई। २५ जून
९३४ को, जब गाधीजी पूना मे थे, उनपर बम फेकने की साज़िश
की गई। सौभाग्यवश गाधीजी उस मोटर मे न थे
जिसमे उनको समझकर बम फेका गया था। किसी
को गहरी चोट न लगी। दूसरी घटना अजमेर की

दो शोचनीय दुर्घटनाएँ

। काशी का लालनाथ नामक एक आदमी गाधीजी के साथ-साथ उनके
ान्दोलन का विरोध करने के लिए घूम रहा था। उसकी हरकतो से
चढकर शायद किसी उग्र सुधारक ने उसका सिर फोड दिया। गाधीजी
ो इसपर बहुत दु ख हुआ। यह अहिंसा की दृष्टि से तो अकल्पनीय था
ी, साधारण शिष्टाचार की दृष्टि से भी, कि सार्वजनिक मामलो मे
क—दूसरे से मतभेद रखनेवालो के प्रति पूरी सहिष्णुता रखनी चाहिए,
ह अत्यन्त अनुचित था। गाधीजी ने इसपर ७ दिन का उपवास किया।
असहिष्णुता के विरुद्ध यह एक प्रायश्चित्त था।

उधर व्यक्तिगत सत्याग्रह दिन-दिन शिथिल होता जा रहा था।
ेश मे काग्रेसवादियो का एक जबर्दस्त वर्ग ऐसा था जो चाहता था
कि जो लोग सत्याग्रह मे भाग नही ले रहे है वे
रचनात्मक काम करे और कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम

पार्लमेण्टरी बोर्ड

से काग्रेस को शक्तिमान बनावे। डा० असारी इस दल के प्रधान नेता
थे। गाधीजी की सलाह से काग्रेस महासमिति ने अपनी १८, १९ मई
१९३४ की बैठक मे सत्याग्रह बद कर दिया और डा० असारी की
अध्यक्षता मे एक पार्लमेण्टरी बोर्ड बनाया और उसे काग्रेस की ओर से

कौंसिलो के निर्वाचन के लिए उम्मीदवार खडा करने और इसके लि
चदा इकट्ठा करने, रखने और खर्च करने का अधिकार दिया गया।
वोर्ड पर महासमिति का नियन्त्रण रखा गया। २० मई १९३४ को सत्या
ग्रह बिल्कुल वन्द कर दिया गया। फलत सरकार ने भी अधिका
काग्रेस सस्थाओ पर से पावन्दी उठाली और सत्याग्रही कैदियो क
छोड दिया।

१७ सितम्बर १९३४ को वर्धा से एक वक्तव्य प्रकाशित करके गांध
जीने कॉग्रेस से अलग होने की संभावना प्रकट की। उग्रवादी काग्रेसि

कॉग्रेस के बाहर

की यह शिकायत थी कि कॉग्रेस एक प्रतिनिधि
सत्तात्मक सस्था है पर उसे गाधीजी ने अपने हा
की कठपुतली वना रखा है। कुछ लोग ऐसे भी थे जो गॉधीजी
अहिंसा का मखौल उडाते थे। फिर कॉग्रेस विधान की कुछ वाते ऐ
थी जिनके कारण कॉग्रेस के खुले अधिवेशन मे शान्तिपूर्वक समस्या
पर विचार करना कठिन होता जा रहा था। गाधीजी ने इन सव वातो
की ओर सकेत करते हुए उससे अलग होजाना ही ठीक समझा और
यद्यपि बम्बई काग्रेस मे काग्रेस-विधान मे उनके वताये हुए कई सशोधन
स्वीकार भी कर लिये गये पर वह काग्रेस से अलग ही रहे। पर इसका
यह मतलव न था कि वह काग्रेस के मामलो मे कोई दिलचस्पी न लेते
थे। वाहर रहकर भी काग्रेस के निर्णयो पर वरावर उनका प्रभाव स्पष्ट
दिखाई देता रहा है। काग्रेस राजनीति पर वरावर उनका अप्रत्यक्ष निय
त्रण रहा है।

वडी कौंसिल के निर्वाचनो मे काग्रेस को काफी सफलता मिली
इससे कौंसिलवादी दल का पक्ष पुष्ट हुआ।

अक्तूबर १९३४ से गाधीजी ग्रामोद्योग सघ की स्थापना करके गावो

था उनके छोटे-छोटे उद्योग-धधो के पुनरुद्धार के कार्य मे लग गये।

ग्रामोद्योग संघ की स्थापना

देखते-देखते डेढ-दो वर्षो के अन्दर ग्रामो के पुनर्जीवन के कार्य मे सारे देश की दिलचस्पी बढ गई। चाहे लिबरल हो, चाहे काग्रेसी, चाहे सरकार, सबने इस मुख्य सवाल की तरफ अपने-अपने ढग और दृष्टिकोण से ध्यान देना शुरू कर दिया।

१९३६ मे काग्रेस ने प्रान्तीय कौसिलो के निर्वाचन मे भी भाग लेने का निश्चय किया। इसके लिए एक चुनाव-सम्बन्धी घोषणापत्र

चुनाव एवं पद-ग्रहण

(Election Manifesto) प्रकाशित किया गया। दिसम्बर मे जवाहरलालजी की अध्यक्षता मे जो फैजपुर काग्रेस हुई (यह पहली ग्रामीण काग्रेस थी) उसके खत्म होते ही काग्रेस कार्यकर्ता चुनाव कार्य मे जुट गये। नेताओ ने दौरे शुरू किये और राष्ट्रपति के दौरे ने तो देश मे एक तहलका मचा दिया। भारत मे पहली वार एक स्पष्टत घोषित सिद्धान्त और कार्यक्रम को लेकर चुनाव लडा गया। ११ प्रान्तो मे चुनाव हुआ जिनमे ६ मे काग्रेस पूर्ण विजयी रही। तीन मे वह सबसे मजबूत कौसिल पार्टी के रूप मे आई। केवल पजाव और सिन्ध मे उसे जैसी चाहिए वैसी सफलता न मिली। यद्यपि गाधीजी काँग्रेस से अलग थे पर चुनावो मे उनका प्रभाव हर स्थान पर देखा गया। उनके नाम का काफी उपयोग किया गया। उनके नाम का असर जादू की तरह होता था। इस चुनाव मे यह वात स्पष्ट होगई कि गाधीजी चाहे काग्रेस से अलग रहे या उसके अन्दर रहे उन्हे देश और विशेषत काग्रेस की राजनीति से किसी तरह अलग नही किया जा सकता है। राष्ट्र की आत्मा के वह सर्वोत्तम प्रतिनिधि है।

चुनावो के खत्म होने के वाद काग्रेस मे एक वडा विवाद पदग्रह
की समस्या को लेकर उठ खड़ा हुआ। समाजवादी तो पदग्रहण
विरोधी थे ही, डा० पट्टाभिसीतारमैया, श्री पुरुषोत्तमदासजी टण्डन त
कुछ अन्य नेता भी पदग्रहण के विरोधी थे। राष्ट्रपति जवाहरलालजी
भी जोरो से पदग्रहण की नीति का विरोध किया। दूसरी ओर
सत्यमूर्ति इत्यादि पदग्रहण का समर्थन कर रहे थे। इनके वीच ठोस का
कर्ताओ का एक वडा दल था जो इस शाब्दिक लडाई को महत्त्व न दे
वास्तविक समस्या को देखता था। यह विवाद इतना वढा कि काग्रेस
फूट की नौवत आगई। इस विकट स्थिति मे काग्रेस ने फिर अपनी श
के मूलस्रोत और एकमात्र पथ-प्रदर्शक गाधीजी की ओर देखा। गाधी
का स्वयं पदग्रहण के पक्ष मे कुछ विशेष उत्साह न था। उन्होने वीच
पडकर एक प्रस्ताव बनाया कि यदि सरकार या प्रान्तो के गवर्नर का
वहुमत दल के नेता को आन्तरिक प्रश्नो मे हस्तक्षेप न करने का आश्
सन दे दे तो पद स्वीकार किये जायँ। महासमिति ने भी वडी वहस
वाद इसे मान लिया। उसके प्रस्ताव का सम्वन्धित अश इस प्रकार है—
"अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी असेम्बली की काग्रेस पार्टियो को, जहां
वे वहुमत मे है, पदग्रहण की आज्ञा देती है, वशर्ते कि काग्रेस पार्टी के
नेता को गवर्नर यह विश्वास दिला दे कि विधान के अन्तर्गत कार्य करते
हुए मत्रियो के फैसलो को गवर्नर अपने विशेषाधिकार से नही ठुकरायेगा।"
गाधीजी के इस मसविदे मे जो गहरी दूर-दर्शिता थी वह आज स्पष्ट हो
गई है और इसके कारण प्रान्तीय मत्रिमण्डलो की नैतिक स्थिति उनकी
कानूनी या वैधानिक स्थिति से कही ज्यादा मजबूत होगई है।

यद्यपि स्पष्ट एव सार्वजनिक रूप से इस प्रकार का आश्वासन नहीं
दिया गया पर व्यक्तिगत रूप से इसे स्वीकार किया गया। वीच के महीनो

मे अस्थायी मन्त्रिमण्डल बनाये ग ो पर यह स्पष्ट होगया कि बिना बहुमत के कोई मन्त्रिमण्डल शासन-कार्य नही चला सकता । अन्त मे भारतमंत्री ने भारतीय जनता को विश्वास दिलाया कि 'गवर्नर न केवल मन्त्रियो से छेड छाडकर सघर्ष पैदा न करने के लिए, बल्कि ऐसे सघर्ष के अवसरो को बचाने की कोशिश करेगे ।' जुलाई मे काग्रेस कार्यसमिति ने इस आश्वासन को पूर्णत सन्तोषजनक न मानते हुए भी उसमे कांग्रेस की नैतिक मॉग की पूर्ति का प्रयत्न देखकर पदग्रहण की स्वीकृति दे दी । छ प्रातो मे काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गये । बाद मे सीमाप्रान्त मे दूसरे दलो के सहयोग से काग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई । सितम्बर १९३८ मे आसाम मे भी काग्रेस कार्यक्रम को मानने वाला सयुक्त काग्रेस मन्त्रिमण्डल बन गया । सिंध की सरकार ने भी काग्रेस का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया है । बगाल मे भी इस प्रकार का सयुक्त मन्त्रिमण्डल बनने की सभावना की जाती है । इस तरह ११ मे ९ प्रान्तो मे एक प्रकार से काग्रेस का शासन या कार्यक्रम प्रधान है ।

बीच-बीच मे सघर्ष पैदा होता रहा है । १९३८ की हरिपुरा काग्रेस के समय आतकवादी राजनीतिक कैदियो को छोडने के कार्य मे गवर्नर के हस्तक्षेप करने पर युक्तप्रान्त और बिहार के मन्त्रिमण्डलो ने इस्तीफे दे दिये । उस समय भी गाधीजी की सलाह से काम लिया गया । और मन्त्रिमण्डलो की बात मानली गई । बाद मे उडीसा मे भी वैधानिक सकट पैदा हुआ । वहाँ के गवर्नर बीमार थे अत छुट्टी पर जाना चाहते थे । उनकी जगह वहाँ के रेवेन्यू सेक्रेटरी के गवर्नर बनाये जाने की घोषणा की गई । मन्त्रियो का कहना था कि जो व्यक्ति हमारे एक विभाग के नीचे काम कर चुका है उसको गवर्नर नही बनाया जाना चाहिए क्योकि इससे संघर्ष पैदा होगा । पहले सरकार ने नही माना पर जब गाधीजी इस

मामले पर अड गये तो उनकी वात मान ली गई और गवर्नर ने अपनी छुट्टी मन्सूख कर दी तथा जव वह विलायत गये तव दूसरे आदमी को गवर्नर वनाया गया। काग्रेस मन्त्रिमण्डल प्रवानत गावीजी के पथ प्रदर्शन मे चलते रहे है। वर्धा योजना वनाकर गाधीजी ने शिक्षण–पद्धति मे क्राति करने का प्रयत्न किया है। इस योजना को न केवल काग्रेसी सरकारे स्वीकार कर चुकी है वल्कि अन्य प्रातीय सरकारो और और भारत-सरकार ने भी इसपर काफी ध्यान दिया है और इसे आधार मानकर कई योजनाए वनाई जा रही है।

इधर गाधीजी सीमाप्रान्त को सगठित करने तथा देशी राज्यो के प्रश्न पर विशेष ध्यान दे रहे है। त्रावणकोर, हैदरावाद, जयपुर, राजकोट लीम्वडी इत्यादि राज्यो के प्रजा आन्दोलन उनके आशीर्वाद और उनकी सलाह एव पथ-प्रदर्शन मे ही चलाये जा रहे है। काठियावाडी राज्यो के आन्दोलनो मे तो वह बहुत ज्यादा दिलचस्पी ले रहे है।

राजकोट काठियावाड़ का एक छोटा राज्य है। वर्त्तमान नरेश के पिता गाधीजी को पिता-तुल्य मानते थे। गाधी-कुटुम्ब का इस राज्य से वहुत दिनो का सम्बन्ध रहा है। इसलिए गाधीजी की उसमे शुरू से बहुत दिलचस्पी रही है। राजकोट प्रजामण्डल वहाँ उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए जवर्दस्त आन्दोलन करता रहा है। मण्डल के कार्यकर्त्ता परखे हुए देशसेवक है। इन कार्य-कर्त्ताओ और प्रजामण्डल के आन्दोलन के फलस्वरूप १९३८ के अन्त मे, सरदार वल्लभभाई पटेल और राजकोट नरेश के वीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उत्तरदायित्वपूर्ण सुधारो के सम्वन्ध मे विचार और निर्णय करने के लिए एक कमेटी वनाई गई। ठाकुर साहव ने वल्लभभाई को लिखकर यह भी सूचित किया इस कमेटी के दस

राजकोट-प्रकरण

सदस्यो मे से सात आपके (वल्लभभाई के) बताये प्रजा के प्रतिनिधि रहेगे और कमेटी जो निश्चय करेगी उसे राज्य स्वीकार कर लेगा।

परन्तु बाद मे राज्य के एक पूर्व दीवान श्री वीरावाला (जिसके प्रभाव मे ठाकुरसाहब है) तथा अन्य स्थापित स्वार्थो के इशारे पर ठाकुर साहब ने वल्लभभाई के द्वारा सुझाये हुए ७ प्रतिनिधियो को कमेटी मे रखने से इन्कार कर दिया। यह स्पष्ट था कि जबतक कमेटी मे प्रजामण्डल का बहुमत न हो उसे स्वीकार करने से कुछ लाभ न था। इसलिए फिर राज्य और प्रजा ने सघर्ष आरम्भ हुआ। सत्याग्रह शुरू होने की देर थी, लोग धडाधड जेल जाने लगे। सत्याग्रहियो तथा किसानो पर पुलिस के अमानुषिक अत्याचार की खबरे बराबर आ रही थी। राज्याधिकारियो का कहना था कि ये बाते झूठी है और राज्य को बदनाम करने के लिए फैलाई जाती है। इस बीच कस्तूर बा, मणिबेन पटेल इत्यादि भी जेल जा चुकी थी। गाधीजी ठाकुर के विश्वासघात को बहुत अधिक अनुभव कर रहे थे। अन्त मे उन्होने अत्याचार की बातो के विषय मे जाँच करने के लिए खुद राजकोट जाना निश्चय किया और इस बीच सत्याग्रह भी स्थगित करा दिया। गाधीजी ने राजकोट जाकर जॉच की और बहुत-से प्रमाण एकत्र किये।

इसके साथ ही वह यह भी सोच रहे थे कि कोई ऐसा उपाय निकल आवे जिससे सत्याग्रह आन्दोलन मे होनेवाले कष्टो एव राजा-प्रजा के बीच पैदा होनेवाली कटुता से राज्य को बचाया जा सके। उन्होने ठाकुर साहब को पत्र लिखकर अनुरोध किया कि आपको अपने वचनो का पालन करना चाहिए। पर ठाकुर साहब ने गाधीजी की सलाह मानने से इन्कार कर दिया। इसपर गाधीजी ने अन्तरात्मा की प्रेरणा से तबतक उपवास करने का निश्चय किया जबतक ठाकुर अपने वचनो को पूरा न

करे। २ मार्च से अनशन शुरू हुआ। गाधीजी का स्वास्थ्य पहले से ही खराब था इसलिए सारा देश उनके इस निश्चय से काँप गया। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने वायसराय को सूचित कर दिया कि जब गाधीजी का जीवन इस प्रकार खतरे मे है तब शासन-कार्य चलाना उनके लिए सभव न होगा। देश के कोने-कोने से वायसराय के पास हस्तक्षेप के लिए प्रार्थनाएँ आई। अन्त मे विषम परिस्थिति पैदा होते देख ७ मार्च को वायसराय ने गाधीजी को तार द्वारा निम्नलिखित पत्र भेजा —

"....मै आपकी स्थिति समझता हूँ। आप जो मुझे बताते है उससे स्पष्ट है कि इस मामले मे आप जिस बात को महत्व देते है वह आपकी यह भावना है कि वचन-भग हुआ है। मै महसूस करता हूँ कि ठाकुर साहब की उस विज्ञप्ति के अर्थ मे शकाएँ उपस्थित की जा सकती है जिसका कि उन्होने बाद मे सरदार पटेल के पत्र मे विस्तार किया। मुझे मालूम पड़ता है कि शका-निवारण के लिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि विज्ञप्ति के अर्थ के लिए देश के सबसे ऊँचे न्यायाधिकारी अर्थात् हिन्दुस्तान के चीफ जस्टिस से पूछा जाय। इसलिए मै यह तजवीज करूँगा कि ठाकुर साहब की राय से, जो मै समझता हूँ मिलती है, इस उच्चाधिकारी से यह सलाह ली जाय कि ठाकुर साहब की विज्ञप्ति और उक्त पत्र के अनुसार किस ढग से कमेटी की रचना हो। इसके बाद उस तरीके से कमेटी की रचना हो जायगी। अलावा इसके यह भी इन्तजाम किया जायगा कि कमेटी के सदस्यो मे विज्ञप्ति के किसी हिस्से पर या बातो मे, जिनपर कि उन्हे सिफारिशे करनी है, कोई मतभेद होगा, तो वह प्रश्न भी इसी उच्चाधिकारी के सामने पेश किया जायगा, और उसका निर्णय आखरी होगा। मुझे पूरा यकीन है कि यह और साथ मे ठाकुर साहब का यह आश्वासन कि विज्ञप्ति मे कहे गये वादो को वह पूरा

करेगे, और मेरा आश्वासन कि मै इसके लिए उनपर अपना प्रभाव डालूँगा कि वह ऐसा करे, आपके उन सब सन्देहो को दूर कर देगा जो आपके मनमे पैदा हुए है और आप मेरे साथ इस भावना मे सहयोग करेगे कि ईमानदारी के व्यवहार को निश्चित बनाने के लिए हरेक हिफाजत करदी गई है। विश्वास है कि आप अपने स्वास्थ्य पर डाले जानेवाले दबाव को छोडकर अपने मित्रो की चिन्ता दूर करेगे। जैसा कि मै आपसे कह चुका हूँ, मै आपको यहाँ देखकर और आपके साथ मसलो पर चर्चा करके, जिससे सभी गलतफहमियाँ दूर हो जायँ, बहुत प्रसन्न हूँगा।"

वायसराय के इस पत्र मे यद्यपि सब बाते नही आई पर गाधीजी ने इस सद्भावना और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की स्पिरिट को स्वीकार करके अनशन तोड़ने का निश्चय किया और वायसराय को, पश्चिमी भारत की रियासतो के एजेण्ट मि० गिब्सन के जरिये, तारद्वारा निम्न-लिखित उत्तर भेजा —

"मै आपके तत्काल उत्तर के लिए कृतज्ञ हूँ, जो मुझे आज पौने ग्यारह वजे दिया गया। यद्यपि स्वभावत. इसमे कई बातो पर कुछ नही कहा गया है, मै आपके कृपापूर्ण सन्देश को इसकी काफी गारण्टी समझता हूँ कि अपना अनशन तोड़ दूँ और उन लाखो की चिन्ता का अन्त करदूँ जो मेरे अनशन पर प्रार्थना कर रहे है और समझौते के जल्दी हो जाने की उनसे जितनी कोशिशे हो सकती है, कर रहे है। मेरे लिए यह कह देना ठीक ही होगा कि आपने अपने सन्देश मे जिन बातो का जिक्र नही किया है, उनका दावा मैने छोड नही दिया है। मुझे उनपर सन्तोष मिलने की आशा करनी चाहिए। उनपर आपके साथ चर्चा होने तक इतजारी की जासकती है। जैसे ही डाक्टर मुझे दिल्ली की यात्रा करने

की इजाज़त देगे, मै दिल्ली आऊँगा। मै एकबार आपको फिर धन्यवा दूँगा कि आपने इस मामले मे तत्परता और सहानुभूति से काम लिय जिसकी वजह से मुझे यह अनशन तोड़ना पडा है।"

अनशन तोड़ने के बाद गाधीजी इतने कमज़ोर होगये थे कि वह इच्छा करने, और लोगो के अनुरोध, पर भी काग्रेस के त्रिपुरी अधिवेश मे शरीक नही हो सके। १५ तारीख को प्रात काल गाधीजी दिल आये। उसी दिन, तथा अगले दिन भी, वायसराय से मिले। दिल्ली जे मे उपवास करनेवाले तीन राजवन्दियो से भेट की और उनसे उपव तोड़वाया। उन्होने गाधीजी के आश्वासन पर कि उनके सम्वन्ध भारत-सरकार से बातचीत की जायगी, उपवास तोड दिया। चार-प दिनो बाद गाधीजी के आश्वासन पर कि इन राजवन्दियो ने हिंसा अपने विश्वास का त्याग कर दिया है, ये छोड़ दिये गये। १९ तारी को एक सक्षिप्त वक्तव्य निकालकर गाधीजी ने जयपुर-राज्य मे होनेव सत्याग्रह के स्थगित कर देने की सलाह दी। यद्यपि तवतक ७०० आद जेल जा चुके थे और सत्याग्रह की गति और शक्ति दिन-दिन वढ जाती थी पर सत्याग्रह-समिति ने गाधीजी की सलाह मानकर सत्या स्थगित कर दिया।

ऐसा जान पडता है कि गाधीजी देशीराज्यो मे सत्याग्रह करने कोई विशेष विधि का आविष्कार करने के सम्वन्ध मे विचार कर रहे है। क्योकि सभी राज्यो मे होनेवाले आन्दोलनो को उन्होने कुछ काल के लिए वन्द कर दिया है। राजकोट के झगड़े पर भारत के चीफ जस्टिस सर मारिस गेयर का निर्णय अभी-अभी निकला है। यह निर्णय गाधीजी के सर्वथा अनुकूल है। इससे राजकोट के प्रजा-आन्दोलन को ही नही, सम्पूर्ण रियासतो की प्रजा को वल मिलेगा।

इस निर्णय मे चीफ जस्टिस ने तीन मुख्य बाते कही है :—

१ समझौते के अनुसार सरदार पटेल को कमेटी के सात सदस्यो को चुनने का अधिकार है। हाँ, ये सदस्य राज्य के पजाजनो या सेवको मे से होने चाहिएँ।

२. सरदार पटेल के द्वारा सुझाये हुए नामो के सम्बन्ध मे ठाकुर साहब को कुछ एतराज हो तो वह सरदार से इन नामो मे परिवर्तन की सिफारिश कर सकते है। पर सरदार की स्वीकृति के बिना उन्हे बदल नही सकते।

२ कमेटी का सभापति—कमेटी के दस सदस्यो मे से ही एक होना चाहिए, बाहर का नही। यह फैसला गाधीजी के सर्वथा अनुकूल है।

× × ×

दुर्भाग्यवश कांग्रेस मे आज अनुशासन की बडी कमी होती जा रही है। प्रमाद, असहिष्णुता तथा अनुचित उपायो का बोलबाला है। उग्रवादी एव समाजवादी लोग स्पष्टत. गाधीजी के नेतृत्व को कोसते है। सुभाषबाबू गाधीजी तथा देश के परखे हुए अनुभवी नेताओ की सलाह न मानकर चल रहे है। त्रिपुरी काँग्रेस के पूर्व सुभाष बाबू के निर्वाचन को गाधीवादियो की हार कहा जाता था। स्वय गाधीजी ने भी वैसा ही कहा था। पर त्रिपुरी काँग्रेस ने जबर्दस्त बहुमत से गाँधीजी के नेतृत्व मे चलना तै किया। सुभाष बाबू ने पुराने नेताओ पर जो छीटाकशी की थी उसकी निन्दा की और राष्ट्रपति गाँधीजी की सलाह से काग्रेस कार्य-कारिणी का निर्माण करे यह निश्चय किया। अभीतक सुभाष-पक्ष का रुख अनिश्चित है पर यह मानना पड़ेगा कि गाधीजी के पथ-प्रदर्शन से हीन होना देश का भीषण दुर्भाग्य होगा और उनके सिद्धान्तो को छोड़ने का परिणाम भारत के लिए खतरनाक और अकल्याणकर होगा।

की इजाज़त देगे, मैं दिल्ली आऊँगा । मैं एकवार आपको फिर धन्यवा दूँगा कि आपने इस मामले मे तत्परता और सहानुभूति से काम लिय जिसकी वजह से मुझे यह अनशन तोडना पडा है।"

अनशन तोडने के वाद गाधीजी इतने कमज़ोर होगये थे कि वह इच्छा करने, और लोगो के अनुरोध, पर भी काग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन मे शरीक नही हो सके। १५ तारीख को प्रात काल गाधीजी दिल्ली आये। उसी दिन, तथा अगले दिन भी, वायसराय से मिले। दिल्ली जेल मे उपवास करनेवाले तीन राजवन्दियो से भेट की और उनसे उपवास तोड़वाया। उन्होने गाधीजी के आश्वासन पर कि उनके सम्वन्ध में भारत-सरकार से वातचीत की जायगी, उपवास तोड दिया। चार-पाँच दिनो वाद गाधीजी के आश्वासन पर कि इन राजवन्दियो ने हिंसा में अपने विश्वास का त्याग कर दिया है, ये छोड दिये गये। १९ तारीख को एक सक्षिप्त वक्तव्य निकालकर गाधीजी ने जयपुर-राज्य मे होनेवाले सत्याग्रह के स्थगित कर देने की सलाह दी। यद्यपि तवतक ७०० आदमी जेल जा चुके थे और सत्याग्रह की गति और शक्ति दिन-दिन वढती जाती थी पर सत्याग्रह-समिति ने गाधीजी की सलाह मानकर सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

ऐसा जान पडता है कि गाधीजी देशीराज्यो में सत्याग्रह करने की कोई विशेष विधि का आविष्कार करने के सम्वन्ध मे विचार कर रहे है। क्योकि सभी राज्यो मे होनेवाले आन्दोलनो को उन्होने कुछ काल के लिए वन्द कर दिया है। राजकोट के झगड़े पर भारत के चीफ जस्टिस सर मारिस गेयर का निर्णय अभी-अभी निकला है। यह निर्णय गाधीजी के सर्वथा अनुकूल है। इससे राजकोट के प्रजा-आन्दोलन को ही नही, सम्पूर्ण रियासतो की प्रजा को वल मिलेगा।

इस निर्णय मे चीफ जस्टिस ने तीन मुख्य बाते कही है .—

१ समझौते के अनुसार सरदार पटेल को कमेटी के सात सदस्यो को चुनने का अधिकार है। हाँ, ये सदस्य राज्य के प्रजाजनो या सेवको मे से होने चाहिएँ।

२ सरदार पटेल के द्वारा सुझाये हुए नामों के सम्बन्ध मे ठाकुर साहब को कुछ एतराज हो तो वह सरदार से इन नामो मे परिवर्तन की सिफारिश कर सकते है। पर सरदार की स्वीकृति के बिना उन्हे बदल नही सकते।

२ कमेटी का सभापति—कमेटी के दस सदस्यो मे से ही एक होना चाहिए, बाहर का नही। यह फैसला गाधीजी के सर्वथा अनुकूल है।

× × ×

दुर्भाग्यवश कांग्रेस मे आज अनुशासन की बडी कमी होती जा रही है। प्रमाद, असहिष्णुता तथा अनुचित उपायो का बोलबाला है। उग्रवादी एव समाजवादी लोग स्पष्टत. गाधीजी के नेतृत्व को कोसते है। सुभाषबाबू गाधीजी तथा देश के परखे हुए अनुभवी नेताओ की सलाह न मानकर चल रहे है। त्रिपुरी कॉंग्रेस के पूर्व सुभाष बाबू के निर्वाचन को गाधीवादियो की हार कहा जाता था। स्वय गाधीजी ने भी वैसा ही कहा था। पर त्रिपुरी कॉंग्रेस ने जबर्दस्त बहुमत से गॉंधीजी के नेतृत्व मे चलना तै किया। सुभाष बाबू ने पुराने नेताओ पर जो छीटाकशी की थी उसकी निन्दा की और राष्ट्रपति गॉंधीजी की सलाह से कांग्रेस कार्यकारिणी का निर्माण करे यह निश्चय किया। अभीतक सुभाष-पक्ष का रुख अनिश्चित है पर यह मानना पड़ेगा कि गाधीजी के पथ-प्रदर्शन से हीन होना देश का भीषण दुर्भाग्य होगा और उनके सिद्धान्तो को छोड़ने का परिणाम भारत के लिए खतरनाक और अकल्याणकर होगा।

"You can not say, this is he, or that is he. All you can say with certainty is that he is here, he is here. Evreywhere his influence reigns, his authority rules, his elusive personality pervades. This must be so, for it is true of all great men that they are incalculable beyond definition."[1]

—H. POLAK.

—तीन—

जीवन का रहस्य

संसार की एक शक्ति

गाधी आज ससार की एक शक्ति है। शत्रु-मित्र, शासक और शासित सब इसे मानते है। कोई उसकी तुलना बुद्ध और ईसा से करता है, और कोई उसे असम्भव क्रान्तिकारी मानता है पर सब उसकी असाधारणता के कायल है। उसने भारत मे एक जीवन फूँक दिया है और प्रत्येक क्षेत्र मे चर्चा, अनुमान और कल्पना का विषय बन गया है। घोर जगली भील से लेकर, जिसने उसे देखा नही, सुना नही, ससार के महापण्डित एव तत्त्ववेत्ता तक उसे अपने-अपने ढग से देखते है और सब उसकी मानवता स्वीकार करते है—उससे मतभेद भले ही रखे।

१. "तुम यह नही कह सकते कि गांधी यह चीज है, वह चीज है। निश्चय के साथ तो तुम इतना ही कह सकते हो कि वह यहाँ है, वह यहाँ है। हर जगह उसका प्रभाव शासन करता, उसका अधिकार राज करता है; उसका व्यक्तित्व हर जगह फैल गया है। और ऐसा तो होना ही चाहिए क्योकि यह बात सभी महापुरुषों के लिए सत्य है कि वे परिभाषा के परे और अ-गण्य है।" —हेनरी पोलक

तव फिर वह क्या चीज़ है जिसने उसे ऐसे अजेय, ऐसे शक्तिमान रूप मे हमारे सामने ला खडा किया है ? यह एक प्रश्न है और गूढ प्रश्न है।

किसी महापुरुष की अन्त प्रेरणा का ऊहापोह करना खेल नही। वह बन्धन मे बँध नही सकता, वह सकुचित नही है, वह महान् है और जगत् के साधारण नाप से नापा नही जा सकता। फिर गाधी तो अनेक टेढी-मेढी लाइनो से वना है। और साधारण आदमी तो उसे सव ओर से पूरा का पूरा देख भी नही सकता।

फिर भी जव हम दुनिया की गति से, उसके ढग से गाधी का मिलान करते हैं तो वह अपने-आप चमक उठता है,—अधकार मे चन्द्रमा की भाँति। इस द्वेष और कलुष से भरे ससार मे, जहाँ भाई-भाई का गला काटने की तैयारी मे लगा है, जहाँ ससार के महान् कहे जानेवाले राष्ट्र, मुँह से शान्ति की मीठी-मीठी बाते करते हुए भी मौका पाते ही दूसरे को खा जाने की ताक मे है, वहाँ—उस दुर्वह अन्धकार मे गाधी अपने-आप चमकता है। वह दिखता है क्योकि **वह साधारण के वीच खड़ा हुआ असाधारण है।**

वह आप चमकता है !

× × × ×

पाश्चात्य सभ्यता ने जीवन को उन्माद से भर दिया है। लोग एक नशे मे जल-धारा के तिनके की भाँति बहे जा रहे है,—अपनी शक्ति से नही, एक प्रवल धारा से वेग से। मनुष्य मशीन बन गया है। उसने अपना आत्म-विश्वास, अपना ईश्वरत्व खो दिया है और असहाय-सा, अपनी इच्छा के विरुद्ध, न जाने कहाँ, जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता ने सबसे वडा

पाश्चात्य सभ्यता का विष

अकल्याण—जिसे पाप कहने में भी अत्युक्ति न होगी—जो किया है
यह कि उसने मनुष्य को बिलकुल अचेत कर दिया है और उसकी अ
दैवी सम्भावनाओ (Possibilities) को हर लिया है। आज कि
ब्रह्मचर्य की बाते करो, वह अविश्वास की हँसी हँस देगा—'यह ह
जैसे साधारण मनुष्य का काम नही।' जीवन-हीन, मूर्च्छना से भ
शब्द क्यो ? मनुष्य, जो जगत् का श्रेष्ठ उपादान है, जो भगवा
श्रेष्ठ विभूति है, उसके मुख से ऐसे दीनता, दुर्बलता और असहाय
शब्द क्यो ?

बात यह है कि जीवन की बाह्य गुलकारियो मे हम भूल
आधुनिक सभ्यता के विष ने, हमारे अन्दर जो दिव्य ईश्वरीय वि
थी उसे गदा मारकर चकनाचूर कर दिया है। उसने हमे रेलगाडियाँ दीं,
हवाई जहाज़ दिये; उसने घर मे बैठे हुए पृथ्वी के उस छोर तक हमारी
आवाज मिनटो—क्या सेकण्डो—मे पहुँचाई। उसने सुबह कलकत्ता में
और शाम को हमे बगदाद मे लेजाकर बैठाया। यह मायाविनी बिजली
मे चमकती है; वायुयानो पर हवा खाती है, मोटरो मे दौडती है, तोप
मे दहाडती और अट्टहास करती है। उसकी मुस्कराहट पर हम भूल
बैठे; उसके आलिगन ने हमारा विवेक हर लिया। हम उसकी सुविधाओं
का गान गाते है पर हम यह भूल गये कि हमारा जो कुछ परमतत्त्व था
हममे जो जीवित **मनुष्य** था वह निष्प्राण हो गया है। उसने हमे विश्व
के सग्रहालय मे—ससार की प्रदर्शनी मे—मोहक रूप मे सजाये मुर्दे
की भाँति रख छोडा है! सुविधाएँ बढी पर सुख न बढा, जीवन
बढा। हमारे दु ख बढ गये है; सारी मानसिक, नैतिक एवं शारीरिक
शक्तियाँ बरफ की भाँति गल गई हैं। मानवता दु ख, दभ, ईर्ष्या-द्वेष के
अन्धकार मे भटक रही है। करोड़ो गरीबों की हड्डियो पर बडे-बडे

साम्राज्य खडे किये गये है और उन्होने अपनी जगमगाहट और चकाचौध से हमारी दिव्य दृष्टि को धुंधला कर दिया है।

ऐसी दुनिया मे, आत्म-विश्वास खोकर बेसुध, दैन्य से भरे हुए ऐसे जन-समूह मे हम एक मनुष्य को देखते है जो असीम आत्म-विश्वास के

इस दैन्य के बीच

स्तभ की भाँति शान्ति के साथ खडा होकर हमें अगुली से मार्ग दिखा रहा है। वह हमे आकर्षित करता है—गरीब उसकी ओर त्राता की तरह देखते है, धनी और अधिकारी उसकी हिम्मत पर आश्चर्य करते है। यह कैसा आदमी है!—पर यही गाँधी है। आत्मा-विश्वास की मूर्ति, मानवता के दुख से दुखी और उसे अधकार से प्रकाश मे लाने को उद्यत!

पहली बात जो गाधी के जीवन मे प्रकाश-रेखा के समान चमकती है और जो उसके जीवन मे आदि से अन्त तक व्याप्त है, उसकी दिव्य

जीवन की साधना

साधना है। आरम्भ से लेकर अन्त तक उसका जीवन साधनामय है। वह उठता है, गिरता है, फिर उठता है और आगे बढता जाता है। और साधना किस की? सत्य की। अहिंसा उसकी नीति है, अन्तकरण उसकी कसौटी है, अपना निजी एव भारत का सार्वजनिक जीवन उसकी प्रयोगशाला है। इस दृष्टि से वह **राजनीतिक** नेता नही, साधक है जो सत्य के शोध मे चला जा रहा है। राजनीतिक प्रयोग इस साधना का एक अग है। गाधी भारत के राजनीतिक क्षेत्र मे इसलिए नही आया कि उसे स्वराज लेना है—स्वराज केवल स्थूल राजनीतिक अर्थ मे; बल्कि इसलिए कि उसने जिन सिद्धान्तो को, जिस साधना को अपने जीवन मे अपनाया है उसे विशाल जन-समूह के जीवन मे भी वह लाना चाहता है, यह इसलिए कि हमने, जीवन नीति-प्रधान होना चाहिए, इसे भुला दिया है। वह प्रत्येक ऐसे बन्धन

का विरोधी है जो आत्मा को मूर्छित करता है, जो अन्त करण कं आवाज को दवा देता है। वह पाश्चात्य सभ्यता का विरोधी है क्योंि वह जीवन मे कृत्रिमता लाती है, मनुष्य मे स्वार्थ को प्रवल करती है- फलत मानव-समाज मे शारीरिक--भौतिक--सुखो के लिए होड उत्प करती है और दूसरी ओर अन्त.करण को शून्य, शक्तिहीन और मृतप्रा कर देती है। गाधी भारत-सरकार के प्रति विद्रोह करता है इसलिए ि उसकी नीव मे लूट-खसोट के सिद्धान्त है, कोई नैतिक उद्देश्य नही। मतलव यह कि उसका व्यक्तियो से, शासन-प्रणालियो से कोई झगडा नही। उसके पास तो एक कसौटी है। जो नियम, जो सिद्धान्त, जो शासन-प्रणाली, जो समाज-व्यवस्था किसी नैतिक आधार पर स्थित है, जिससे आत्मिक शक्ति वढती है, अन्त.करण को वल मिलता है, उसका यह समर्थन करेगा और जो आत्मा को कुठित करेगी, मनुष्य को शरीर-सुख का, वासनाओ का गुलाम बनायगी, उसका विरोध करेगा।

इससे पहली और सवसे ज़रूरी बात तो यह निकलती है कि वह एक साधक है—समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ इत्यादि तो उस (साधक) के टुकडे है। प्रत्येक क्षेत्र मे उसका जीवन साधना का एक अविच्छिन्न प्रयत्न है। उसके जीवन को देखिए-

निरन्तर तैयारी

वह असीम संघर्षो का, सतत प्रयत्नशीलता का जीवन है। उसमें एक निरन्तर युद्ध है, एक निरन्तर तैयारी है। वहाँ कभी अकर्मण्यता नही, कही निराशा नही। जेल मे हो तो, वाहर हो तो, बीमार हो तो—प्रतिक्षण उसके जीवन की साधना, वायु के अविच्छिन्न प्रवाह की भाँति, चल रही है।

आत्म-साक्षात्कार इस साधना का उद्देश्य है। उसे वह सत्य के नाम से पुकारता है और अपनी अन्त.प्रेरणा को, अपनी भीतर की आवाज़ को उसने इस सत्य की, इस साधना की कसौटी वनाया है।

इस सतत साधना के लिए, उसने अहिंसा का मार्ग अपनाया है। उसकी अहिंसा इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि सृष्टि में जितने भी जीवन-मय, प्राणमय या चेतन पदार्थ है सब पवित्र है। यह भाव रखकर ही मनुष्य सृष्टि के सम्पूर्ण जीवन की अभिन्नता को देख एव ग्रहण कर सकता है। इस दृष्टि से अहिंसा विश्व की अभिन्नता, एकात्मरूपता की अनुभूति का आवश्यक उपादान है और इस अर्थ मे, एक प्रकार से, वह स्वय अपरिणत सत्य ही है। इसमे अपने एव दूसरे के जीवन-नाश की सबसे कम सभावना है। इससे शक्ति का क्षय नही होता, इससे आत्म-शक्ति जाग्रत करनेवाली भावनाओ को उत्तेजन मिलता है। इसलिए अहिंसा तात्विक एव व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से उसकी साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है।

अहिंसा का मर्म

इस अहिंसा को अपने सतत प्रयोगो से माँज-माँजकर उसने अत्यन्त दिव्य रूप मे हमारे सामने रखा है। उसने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण मे उसे प्रकाशित कर उसपर युग-युग से पडी काई को काट दिया है और उसे निर्मल बना दिया है। केवल जीव के नाश न करने मे ही उसकी अहिंसा का अन्त नही हो जाता, उसे किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक पीडा न देना, न देने की भावना करना, तथा उसके कल्याण की कामना एव चेष्टा करना भी, उसी मे आ जाता है। इस भाव की परिणति तबतक सम्भव नही है जबतक साधक मे ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, भय इत्यादि असात्त्विक—तामसिक भाव भरे हुए है। इसलिए सत्य का साधक जब अहिंसा-मार्ग का अवलम्ब लेता है तो स्वभावत उसे प्रारम्भ मे ही तमस् का त्याग कर देना पड़ता है। ज्यो-ज्यो उसकी अहिंसा शुद्ध एव निर्मल होती है त्यो-त्यो जीवन की अभिन्नता एव अविच्छिन्नता की अनुभूति के कारण सत्य उसके सामने स्पष्टतर होता जाता है। इस

अहिंसा को समाज के परिष्कार, सुधार और कल्याण के लिए गाधी ने सार्वजनिक—सामूहिक— रूप से सगठित किया है। इसके पह ऐसा कभी नही हुआ था।

× × × ×

बुद्ध के बाद जीवन मे नीति की प्रधानता पर इतना ज़ोर देनेवा दूसरा महापुरुष हमारे बीच नही आया। (कबीर की याद हमे है वह केवल आध्यात्मिक भक्ति मे व्यक्त होनेवा नीतिवाद के ही प्रवक्ता थे।) और यह स्पष्ट है कि

नीति का प्रवक्ता

जिसने जीवन को नीतिमय कर डाला है वह किसी एक क्षेत्र मे ही उसका उपयोग करके चुप नही रह सकता। **जीवन का प्रवाह अविच्छिन्न है। उसके टुकडे नहीं किये जा सकते। जब वह प्रत्येक क्षेत्र में एक-रस होकर प्रवाहित होता है तभी वह जीवन है।** गाधी ने अपने जीवन की साधना को विश्व के राज-मार्ग पर ला खडा किया है और प्रत्येक को उसे अपनाने का निमन्त्रण दिया है। **अप्रतिकार का, अहिंसा का यह व्यापक प्रयोग ही—जो आज वह भारतीय राजनीति के व्यापक क्षेत्र में कर रहा है—उसकी विश्व-राजनीति को सबसे बडी देन है।**

× × × ×

यहाँ इसे फिर से कहने की ज़रूरत है कि अन्त.करण की स्वीकृति ही उसके प्रत्येक कार्य की कसौटी है। इस आत्मिक स्वीकृति के सिवाय उसके कार्यो को नियमित करनेवाला कोई अधिकारी नही, कोई तन्त्र नही। और दूसरो से भी उसकी

'मारल बैरोमीटर'

यही आशा है कि अन्दर का आत्म-शासन ही सब माने। इसलिए जनता की सम्मति-असम्मति, यश-निंदा, लोक-प्रियता एव विरोध, सरकार की इच्छा-अनिच्छा का जीवन के विशेष अवसरो पर उसके निर्णय के बीच

स्थान नही। वह एक **नैतिक—आध्यात्मिक अराजकवादी है।** जनता ने विरोध किया, नेताओ ने बुरा-भला कहा पर उसने चौरीचौरा के वाद बारडोली-सत्याग्रह बन्द कर किया। लोग तिलमिलाकर, कुडवुडाकर रह गये पर उसने अन्त प्रेरणा के अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच अस्पृश्यता की समस्या लाकर खडी कर दी। उसके जीवन का, उसके प्रत्येक कार्य का निर्णायक उसका अन्त करण है। इस वातपर उसने इतनी प्रधानता दी है कि वह **हमारे समय का नैतिक—'मारल'—बैरोमीटर वन गया है।**

राजनीतिज्ञ नहीं; राजनीतिक तत्व-वेत्ता

इस साधना एव साधना की इस कसौटी के कारण ही राजनीति मे भी वह राजनीतिज्ञ के रूप मे नही, राजनीतिक तत्त्ववेत्ता ('पोलीटिकल फिलासफर') के रूप मे आया है। राजनीतिज्ञ जनता को सगठित करने का अधिक ध्यान रखता है, राजनीतिक तत्त्ववेत्ता या प्रवक्ता ('प्राफेट') अपने जीवन मे कुछ सिद्धान्तो को प्रकाशित कर राष्ट्र की आत्मा को चैतन्य करता है। उसका सम्वन्ध ऊपरी नही, गूढ वातो से है। जहाँ राजनीतिज्ञ केवल शासन-प्रणाली के परिवर्तन के उद्देश्य को लेकर चलता है वहाँ तत्त्ववेत्ता जीवन के ध्येय, जीवन तत्त्वज्ञान को—समाज एवं व्यक्ति दोनो मे—निर्मल एव विशुद्ध रूप मे प्रकट करना चाहता है।

गांधीजी की सारी हस्ती जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होनेवाले अन्तः-करणनाशक कार्यो के विरुद्ध एक स्थायी—अविच्छिन्न नैतिक विरोध है। जहाँ कानून मनुष्य की आत्मा के विकास की सुविधा नही देता, उलटे उसे धुंधला कर देता है वहाँ कानून का मानना पाप है, जहाँ 'धर्म' विवेक को छोड़ देता है, व्यक्ति एव समाज की **आत्मिक—नैतिक—**

उन्नति मे वाधक होता है वहाँ वह ताज्य है। इस प्रकार के अत्याचार को न सहन करना सत्य-शोधक का कर्तव्य है। और इस कर्तव्य में जो कष्ट दिये जायँ उसे शुद्ध हृदय से सहन कर लेना उसका धर्म है। यदि तुम ससार को प्रेम-द्वारा वदलना चाहते हो तो तुम्हे उसके द्वारा पीडित होने, घृणा किये जाने, वहिष्कृत होने को तैयार रहना चाहिए। इस विरोधाभास से अपने आप शुभ परिणाम निकल आते है। क्योंकि इस प्रकार का सत्याग्रही के विरुद्ध किया हुआ फैसला, अनजान मे, स्वय अपनी ही प्रणाली के दूषण को स्पष्ट करता है। एक गाधी का अपना अपराध स्वीकार करना ही वर्तमान समाज-व्यवस्था पर ज़वरदस्त टीका है। इसे देखकर दर्शक के मन मे यह विचार आये विना नही रह सकता कि जो समाज-व्यवस्था डायर के लिए पेशन का प्रवन्ध करती है और एक साधु पुरुष को छ वर्प के लिए जेल भेजकर उसका मुँह बद कर देती है, उसके मूल मे अवश्य कुछ दोप होगा।[१]

इस तरह प्रतिक्षण अपने जीवन से, अपने कष्ट-सहन से वह उस कभी न रुकनेवाले युद्ध को प्रकाशित करता है जो उसके अन्त करण और आत्मा को दवानेवाली, उसकी सत्ता की अवहेलना करनेवाली प्रत्येक शक्ति के साथ चल रहा है। जव शरीर-वल राज-शक्ति का स्थायी आधार मान लिया गया है तब वह अपनी, एव उसके द्वारा एक राष्ट्र की, आत्मा-शक्ति को

अपूर्व युद्ध : विश्व को देन

१ When a Gandhi pleads guilty, it is the existing political system that seems to be condemned Men feel in the depths of their souls that there is surely something inherently wrong with a social arrangement which continues to pay a pension to Dyre but silences a saint for six years"

—Conscience of A Nation Gagan Vihari Mehta Page 6

जाग्रत करके शरीर-वल पर अधिष्ठित ससार के सवसे शक्तिशाली एव साधन-सम्पन्न राष्ट्र को चुनौती देता है। वर्तमान समय का यह अद्भुत युद्ध, जिसका ससार के इतिहास मे दूसरा उदाहरण नही मिलता, विश्व के लिए और गहरी सैनिकता के वोझ से जिसकी हड्डियाँ टूट रही है, उस पीडित मानवता के लिए एक आशा, एक प्रकाश है। **यह गाधी की, और उसके द्वारा भारत की, मनुष्यजाति को सबसे वडी देन है।**

और इस युद्ध ने ही ससार का ध्यान उसकी ओर आकर्षित कर दिया है—और इसके कारण ही इस समय ससार की प्रयोगशाला मे उसके साथ वैठाया जा सके, ऐसा दूसरा आदमी दिखाई नही पड़ता।

× × ×

सरकार को भय क्यो : महाराष्ट्र को आकर्षण क्यो ?

एक दुवला-पतला बूढा आदमी, जिसके रूप मे कोई आकर्षण नही और जिसका शरीर जीवन के युद्ध मे खोखला-सा होगया है; जिसके प्रेम के आगे साँप भी निर्भय होकर, उसके आश्रम में विचर सकता है,—इस डेढ हड्डी-पसली के आदमी के अगुली उठाते ही सरकार काँप उठती है और भारत मे एक कोने से दूसरे कोने तक अद्भुत कम्पन होता है। ऐसा क्यो ? इस जरा-से आदमी से, जिसने अपने प्राण लेने-वाले शत्रु को भी निर्भय कर दिया है, इतना डर क्यो ? और दूसरी ओर एक महान् राष्ट्र का इतना गहरा आकर्षण क्यो ?

पहले प्रश्न का जवाव दूसरे प्रश्न मे अपने-आप प्रकाशित है। इस शरीर से दुर्बल, वाहर से आकर्षण-हीन पुरुष ने एक विशाल राष्ट्र की सारी चेतना और श्रद्धा अपने अन्दर केन्द्रित कर ली है। ब्रिटिश सरकार चाहे जितना इन्कार करती जाय पर अपनी खण्डनात्मक अगणित विज्ञ-प्तियो के रहते हुए भी वह जानती है कि गाधी मे भारत की शक्ति

केन्द्रित है। भारत मे जो-कुछ सूक्ष्म, रहस्यमय और विशाल है औ जिससे लोहा लेने का कोई साधन यूरोप के पास नहीं है, उन सब प्रतीक रूप मे वह विश्व क्षितिज पर उदय हुआ है। उसने भूले हुए शे को शेर वना दिया है, उसने राष्ट्र की कमजोरी के उस मूल मे आघात किया है जिसके कारण सब प्रकार की पराधीनता का उस जन्म होता है।

फिर उसने अपने युद्ध का अस्त्र—अहिंसा—ऐसा निकाला जिसके प्रयोग की सर्वोत्तम विधि वही जानता है। विरोधी को इस अस्त्र का कुछ ज्ञान नहीं। फिर हिंसात्मक प्रवृत्तियो को लेकर लडनेवाला अहिंसा और प्रेम के सामने, युद्ध मे भी, नगण्य-सा हो जाता है। उसका भौतिक वल इस नैतिक अस्त्र के सामने तुच्छ है अत. हिंसक के लिए अहिंसक वडा भयप्रद प्रतिद्वद्वी है। सारा रोमन-साम्राज्य एक अहिंसक ईसा की फूँक मे उड़ गया, उसके रक्त की बूँदो से वह ज्वाला निकली जिसमे **विरोधी** जल गया, विरोधी के अन्दर जो **प्रेमी** था, जो सत्य था, वह भर रह गया।

दूसरा प्रश्न : भारत का इस पुरुष मे इतना आकर्षण क्यो ? उससे वडे मेधावी हमने देखे, उससे कही श्रेष्ठ वक्ताओ के शब्द आज भी हमारे कानो मे गूँज रहे हैं; उससे कुशल राजनीतिज्ञ अपनी दाँव-पेच की अद्भुत कला की स्मृतियाँ हमारे पास छोड गये है। फिर इसमे ऐसी क्या वात, जिसने सब की स्मृति को धुँधला कर दिया है ?

इसका यदि हो सके तो एक-मात्र यही उत्तर हो सकता है कि उसने

भारत की आत्मा का प्रतिष्ठापक

भारत की आत्मा को पहचाना है, उसने भारत के हृदय की मूर्च्छित शक्ति को चैतन्य किया है; उसने हमारी मनुष्यता की मरहम-पट्टी करके उसे सचेत किया है—वह हमारे हृदय के अत्यन्त रहस्यमय खण्डो को समझकर

उनको उवार सका है। औरो ने जहाँ राष्ट्र के शरीर के रोगो को दूर करने का प्रयत्न किया वहाँ उसने उसके हृदय की व्यथा को समझा है। और उसके युग-युग से सचित सस्कार मे जो-कुछ सर्व-श्रेष्ठ है उसे निकाल—मथकर उस मथन को ही उसके उद्धार का साधन वनाया है। बहुत-से लोग जिन्होने गाधी के टुकडे देखे है पर गांधी को पूरा-का-पूरा देख नही पाये है, धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे उसके हस्तक्षेप पर उत्तेजित है पर गाधी का अध भक्त न होकर भी मैने सव तरफ से उसे देख-देखकर और अत्यन्त निर्दय कसौटियो पर उसे कस-कसकर पाया है कि उलटे राजनीति की अपेक्षा इन क्षेत्रो मे हस्तक्षेप करने के वह अधिक योग्य अत अधिक अधिकारी है। क्योकि **तत्वतः वह भारत का राजनीतिक नेता नही, संस्कृतिक नेता है**। हमारी सस्कृति की 'स्पिरिट' को जितनी गहराई से उसने समझा है, कदाचित् ही किसी दूसरे भारतीय ने समझा हो। **वह हमारी पगु हिन्दू सस्कृति का पंख है**। उसने उसे उडाकर फिर विश्व की सभ्यताओ की दौड मे ला खडा किया है।

इसीलिए वह, जाति के—**राष्ट्र के हृदय में पैठकर भारतीय मजूर को, भारतीय किसान को पहचान सका है**; इसीलिए भारतीय नारी का तात्त्विक महत्त्व उसने समझा है और इसीलिए वह हमारी सभ्यता की इन महत्वपूर्ण इकाइयो को, पूँजीपतियो, राजाओ, व्यापारियो तथा शिक्षित एव 'प्रतिष्ठित' लोगो से, जो फालतू श्रृंगार के रूप मे आ गये है, अधिक महत्व देना चाहता है—अपने जीवन मे तो देता भी है। और यही कारण है कि विना देखे-सुने काठियावाड का भील, मध्यप्रात का गोड और आसाम के वन्य मनुष्य ने भी अपना जीवन उसके जीवन से जोड लिया है।

गाधी की सफलता का दूसरा कारण यह कि उसके अन्दर आदर्श-

वादी और व्यवहारवादी मिलकर एक हो गया है। वीसवी शताब्दी के

आदर्श और व्यवहार

ससार ने रोम्याँरोलाँ से आदर्शवादी और स्व
लेनिन से अद्‌भुत कर्मनिष्ठ महापुरुष को देखा है
पर गाँधी से उनकी भी तुलना नही की जा सकती-
क्योकि गॉधी, रोम्यॉ रोलॉ की भाति, प्रथम श्रेणी का आदर्शवादी है
जहॉ मानव-जीवन के उच्चतम आदर्श को उसने जीवन का ध्रुवतार
वनाया है तहॉ वह कर्म मे स्वय ओत-प्रोत हो गया है। इस विपय मे—
आदर्श और व्यवहार की एकता मे—वह वर्तमान ससार मे वेजोड़ है
और निश्चय ही ससार के महत्तम कर्मयोगियो मे उसे स्थान मिलेगा।

और इसका कारण है। वह जीवन को उसकी सम्पूर्णता मे ग्रह
करता है। हम लोगो की तरह जीवन के खण्ड-खण्ड करके उन्हे नह

एक कारण

अपनाता। इसीलिए हम लोगो मे से जहॉ को
राजनीतिज्ञ, कोई समाज-सेवक, कोई आदर्शवा
और कोई व्यावहारिक वनकर बैठता है तहॉ वह राजनीतिज्ञ, समाज
सेवक, आदर्शवादी और व्यावहारिक सव एक मे ही है। जीवन के इ
प्रकार टुकडे नही किये जा सकते कि जो उच्च सिद्धान्त एक क्षेत्र मे ठी
हो वही दूसरे मे अनुचित,—अभी तक तो ऐसा ही रहा है पर अप
दिव्य प्रयत्नो-द्वारा वह सभी क्षेत्रो का मेल मिला रहा है। पह
राजनीति मे धर्म को स्थान न था पर अब उसकी सतेज वाणी कहती है-
"वह कौनसा क्षेत्र है जहॉ धर्म को स्थान नही ?" जीवन के भि
दृष्टिकोणो के कारण ही यह सकुचितता पैदा होती है। यदि हम ए
प्रश्न को चारो ओर से देख सके तो यह सकुचितता कैसे रहे ? जं
गाँधीजी के लिए राजनीति सर्वसाधारण के कल्याण का साधन है। इ
कल्याण का स्थूल तात्पर्य तो सवके लिए रोटी और कपडे की समुचि

व्यवस्था होना है। अब इस रोटी और कपडे को ही ले तो राष्ट्र या राज्य की दृष्टि से यह समाज मे धन के न्यायपूर्ण बँटवारा और उचित समाज-व्यवस्था का प्रश्न है और मानवता की दृष्टि से नीतिशास्त्र, तत्त्वज्ञान एव धर्म का प्रश्न है। इसीलिए इन अलग-अलग दृष्टि-कोणो से विचार करनेवाले, इन क्षेत्रो को अलग-अलग लेकर चलने वाले, जहाँ उसे एक सकुचित रूप मे ग्रहण करते है वहाँ गाँधी उसे धर्म भी मानता है, राजनीति भी मानता है और समाज-सुधार भी। इन तीनो को मिलाकर वह एक में—उस प्रश्न की परिपूर्णता मे—उसे देखता है। **इसीलिए गाँधी वर्तमान संसार में अपने ढंग का अकेला ही आदमी है।** और इसीलिए अमेरिका के पादरी होम्स के शब्दो मे कहना चाहे तो कहा जा सकता है—"जब मैं रोलाँ का खयाल करता हूँ तो मुझे टाल्स-टाय का ध्यान आता है। जब मै लेनिन की बात सोचता हूँ तो नेपोलियन का खयाल आता है पर जब मै गाँधी का ध्यान करता हूँ तो मुझे क्राइस्ट का ध्यान आता है।"

भारतीय समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब

जन्म से बनिया, आदर्श से ब्राह्मण गाधी मे भारतीय समाज की व्यवस्था पूर्णत प्रतिम्बित है। धर्म और आदर्श की प्रतिष्ठा मे लगनेवाला उसका त्याग और तपस्या का जीवन आदर्श **'ब्राह्मण'** का जीवन है। इस आदर्श को कर्म-मय बनाने में उसका उत्साह, उसका युद्ध, उसकी लगन एक आदर्श **'क्षत्रिय'** को प्रकाशित करती है। उसकी सहिष्णुता, उसका परिश्रम, उसकी समझौते की व्यावहारिक बुद्धि, उसके श्रेष्ठ **वैश्यत्व** का उदाहरण है और मजदूर के प्रति, अछूत के प्रति उसका असीम प्रेम, उसका निरन्तर सेवामय जीवन, उसका अपने को 'भगी' कहने की उत्सुकता और किसान-मजूर जैसा स्वच्छ सीधा-सादा परिश्रमी जीवन विताने

की भावना उसे श्रेष्ठ शूद्र के रूप मे हमारे सामने लाती है। इस प्र
वह भारतीय सभ्यता का शुद्ध समीकरण एव समन्वय है।

वह जीवन के साधारण उपकरण—'स्टफ'—को लेकर धीरे-धीरे
गया है। एक श्रेष्ठ मूर्तिकार जिस पत्थर से अत्यन्त श्रेष्ठ मूर्ति का नि
करता है—जिसमे जीवन बोलता हो, उसी से
साधारण सगतराश टेढी-मेढी आकृतियाँ ही
पाता है। गाधी ने अपने आत्मिक उपकरणो

सतत् प्रयत्न से गढ़ा हुआ महापुरुष

तराश-तराश कर उसे अपने सतत् निरीक्षण-परीक्षण से आज एक
रूप दे दिया है। महापुरुषो की भी दो श्रेणियाँ होती है। एक वे जो
सचित दिव्य सस्कारो के कारण एकाएक हमारे सामने ज्योतिर्मय रु
प्रकट होते है। उनका निर्माण आरम्भ से ही कुछ असाधारण होता
स्वामी रामतीर्थ ऐसे ही एक महापुरुप थे। दूसरे वे जो निरन्तर की सा
एव प्रयत्नो से तिल-तिल करके गढे जाते है, जो साधारण मनुष्य के उप
लेकर गिरते-पडते-उठते आगे बढते जाते है और अन्त मे अपने अन्द
कमजोरियो को दूर कर दिव्य रूप मे हमारे सामने आते है। वे धीरे
गढे जाते है। गाँधी ऐसा ही महापुरुष है। **सब न रामतीर्थ हो सक
न गांधी पर सब जहां गांधी का अनुकरण कर सकते है वहा सब राम
के पथ पर नही चल सकते।** इस दृष्टि से भी वर्तमान युग मे गाधी
अनुकरण के लिए सर्वोत्तम महापुरुष है। वह प्रत्येक क्षेत्र मे काम क
वाले ईमानदार कार्यकर्ता के लिए ध्रुवतारा के समान मार्ग-दर्शक है

× × ×

आज जब हिंसा का दैत्य मानवजाति, को निगलने के लिए अ
भयावना मुख फैलाता जा रहा है, जब मानवता की पीडा पर राष्ट्र
झूठी समृद्धि के महल खडे किये जा रहे है; जब दुनिया के श्रेष्ठ पर ग

मनुष्य प्राणी के दैन्यमय जीवन को विछाकर उस पर विलास सतत् (ताण्डव) नृत्य कर रहा है, जव घायल, पीडित, अपमानित एव दर्द से कराहती हुई मनुष्यता सर्वग्राही अधकार मे छटापटा रही है तव उसकी एक-मात्र आशा गाधी के रूप मे क्षितिज पर फूट रही है। इस दुवले पर अत्यन्त शक्तिमान महापुरुष मे विश्व की आशा और मानव-जाति का निकट भविष्य, वडी दूर तक,केन्द्रित है। इसीलिए यदि उसका अहिसा का व्यापक प्रयोग असफल हुआ तो ससार के लिए वडी भयप्रद वात होगी।

इस समय तो वह हमारी आशा का पंख है। वह हमारी जीवन-निशा का दीपक है। वह विश्व की आध्यात्मिक साहसिकता का प्रतीक है। इस घोर अंधकार में उसकी डेढ़ हड्डी-पसली की मूर्ति ध्रुवतारे की तरह चमक रही है!

O White Innocence!
That thou shouldst wear the mask of guilt to hide
Thine awful and serenest countenance
From those who know thee not! —SHELLY.

—चार—

तपस्वी गांधी

गाधी के सारे जीवन मे ही साधना और तपस्या ओत-प्रोत है। ज्यो-ज्यो उसमे सत्य की प्रेरणा निश्चित एव स्पष्ट रूप पकडती गई त्यो-

निर्दय आत्म-परीक्षक

त्यो जीवन मे सादगी, कष्ट-सहन और अपरिग्रह को उसने वढाया है। ब्रह्मचर्य, अस्वाद और अपरिग्रह को, जो एक तपस्वी जीवन की आधार-शिला है, उसने सम्पूर्ण आग्रह से अपना लिया है और वार-वार अपने हृदय को

उलट-पुलट कर देखा करता है—उसे कसौटी पर कसा करता है कि कहं
उसमे शिथिलता तो नही आ रही है—कही भूल तो नही हो रही है
इस विषय मे वह अत्यन्त निर्दय परीक्षक है,—ऐसा निर्दय जिसकी निः
यता की मिसाल नही ।

खाने के लिए वकरी का दूव और चद चीजे, जो गरीवो के घर मे भ
मिल सके, उसके लिए वस है । उसमे भी मिर्च नही, मसाले नही, स्वा

अनावृत जीवन

के नाम पर कुछ-न-जैसा है । कपडे के नाम पर ए
लँगोटी और एक चादर ! रेल मे सैकडो मील ल
सफर तीसरे दर्जे मे करता है । पाखाना साफ करने और जूता वनाने
लेकर वायसराय के वरावर वैठकर वातें करनेवाले इस अद्भुत पुरुष
विधवा की निस्पृह सरलता और तपस्या-वृत्ति को जीवन मे अपना लि
है । वह सदा जागरूक रहता है । ईर्ष्या-द्वेष, दंभ एव क्रोध को उर
अपने मन से निकाल फेका है । फिर भी अपनी अपूर्णताओ पर, पश्च
त्ताप-दग्ध प्रेमी की भाँति उसका हृदय जल रहा है ।

× × ×

१९१५ ई० की वात है । गाधी ने गोखले के एक चित्र का उद्घाटन
किया था । उद्घाटन के पहले एक भजन गाया गया । जब उद्घाटन

जन-सेवा की गहरी भावना

करने के लिए गाधी खडे हुए तो भजन का उल्लेख
करते हुए कहा—"मैने भजन मे पाया कि प्रभु उनके
साथ है जिनके वस्त्र फटे एव धूल-धूसरित है । मेरा
ध्यान तुरन्त अपने वस्त्र के निचले भाग पर गया । मैने देखा कि वह
धूल-धूसरित नही है और जीर्ण-शीर्ण भी नही है । वह विना एक धब्बे
के—विलकुल साफ है । ईश्वर मुझ मे नही है !" इस भापण मे गाधी
की तपस्या की भित्ति स्पष्ट दीख पडती है । उसका हृदय सदा दीन-

दुखियो एव गरीबो के बीच रहता है। वह सदा उनकी सेवा, उनकी रक्षा, उनकी सहायता मे लगा रहना चाहता है। इस सम्बन्ध मे सतत जागरूक रहने के लिए वह अपने को (और अपने द्वारा सब ईमानदार कार्यकर्ताओ को) पुकारकर कहता है—"दीन-दुखियो की निष्काम सेवा से बढकर पवित्र और प्रभु को प्रिय कोई पूजा नही है।" और—"ईश्वर इन्ही गरीबो के बीच रहता है क्योकि वे उसे अपनी एक मात्र शरण एव रक्षक के रूप मे अगीकार करते है। इसलिए उनकी सेवा करना ईश्वर की सेवा करना है।" उसने दरिद्रनारायण के साथ अपना जीवन मिला दिया है।

उसने गरीबी को सूम के धन की तरह अपना लिया है और इसीलिए वह गरीब को अपने अन्दर देख सका—पा सका है और इसीलिए गरीब भी उसे पा सके है। एक पैसे की फजूलखर्ची उसे चोरी करने के समान मालूम पडती है। एक बार की बात है कि साबरमती आश्रम के उनके कमरे मे एक मोखे से धूप आती थी और उनके मुख पर पडती थी। इससे उनको तकलीफ होती थी इसलिए उन्होने उसे बन्द करने की इच्छा प्रकट की। एक आदमी बढई को बुला लाया और उससे 'शटर' (बन्द करने और खुलनेवाला रोशनदान) लगवा लिया। गाधीजी की सम्मति से ही यह काम हुआ पर उस समय अन्य कामो मे लगे रहने के कारण उन्होने बारीकी से इस प्रश्न पर विचार नही किया था। बाद मे जब विचार किया तो उन्हे मालूम हुआ कि मैने पैसे का अपव्यय और दुरुपयोग किया है और यह काम एक दफ्ती या कपडे का टुकडा कीलो द्वारा लगा देने से भी हो सकता था। उस दिन शाम की प्रार्थना मे पश्चात्ताप-दग्ध वाणी मे उन्होने अपनी दुर्बलता स्वीकार की।

दाँडी-यात्रा के समय भी साथियो-द्वारा कुछ अपव्यय होने पर उन्होने बडे दु ख के साथ कहा था—"आह ! हम ईश्वर के नाम पर यह यात्रा

कर रहे है और भूखो, नगो एव वेकारो के नाम पर कार्य करते व
दावा करते है ।"

पर यह गरीवी,—यह अपरिग्रह ही तपस्या का सब-कुछ नही है
उसमे सयम का प्रकाश होना चाहिए। गाधी ने इस पर वहुत ध्या
दिया है। ब्रह्मचर्य का निरन्तर अभ्यास उनके जीव
मे चल रहा है। शरीर, मन और जिह्वा (अस्वा

संमय का प्रकाश

व्रत द्वारा) पर विजय प्राप्त करने की साधना उसके जीवन का स्था
अग वन गई है। इसने जीवन मे त्याग को महत्व दिया है और उ
त्याग से महिमामय बना दिया है।

पर तपस्या के कटकाकीर्ण पथ का पथिक इतने ही से सफल नही
सकता। मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ है, अनेक प्रलोभन है। हिसक वा
नाएँ उसे निगलने को तैयार। दोनो ओर खाई है,
जरा फिसले और नीचे गिरे। इसलिए तपस्वी

प्रभु में अगाध श्रद्धा

अपने और अपने प्रभु मे पूर्ण विश्वास होना चाहिए। गाधी को
विश्वास असीम मात्रा मे प्राप्त हुआ है। **यह श्रद्धा ही उसकी लाठी है;
यही उसका कवच है। यह श्रद्धा पहाड़ की तरह अचल है, आंधी जिसे
हिला नहीं सकती और तूफानी बादल जिससे टकराकर स्वयं चूर-चूर
हो जाते हैं।** उसके ये शब्द अविश्वास के अधकार और कोहरे को भेद
कर वायु की सतह पर तैर रहे है—"अपनी छाती पर हाथ रखकर मै
कह सकता हूँ कि अपने जीवन के एक क्षण मे भी मै ईश्वर को नही
भूलता। इन २० से भी अधिक वर्षो मे मैने जितने भी कार्य किये है सव
इस तरह किये है मानो ईश्वर के सामने हूँ।"

भगवान् ने अपनी चिर-सत्यवाणी—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज'

मे आत्मार्पण का जो आदेश किया है उसे इस बूढे दुबले-पतले तपस्वी ने सम्पूर्ण सच्चाई के साथ ग्रहण कर लिया है। सर्वस्वार्पणकारी को भगवान् ने जो आश्वासन—

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।

दिया था, उसके अनुसार ही उसने इस तपस्वी भक्त को अपना लिया है। फिर भी उसकी नम्रता, उसकी गरीवी देखो, जो वह व्यथित वाणी मे, रह-रहकर पुकार उठता है—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी !'

यह सतत् आत्म-निरीक्षण, अन्त व्यथा और प्रायश्चित्त भी उसकी तपस्या के अग हैं। वह पूर्णत देव पर चढा हुआ जीवन है। वह सेवा, त्याग एव नि स्वार्थता का एक उपदेश है। उपवास और प्रार्थना उसके दो पहरेदार है। उसका जीवन सतत उपासना का जीवन है जिसको प्रार्थना ने, विनय ने मॉज-माजकर उज्ज्वल बना दिया है। यह प्रार्थना भी कैसी—"भिक्षा नही, आत्मा की आकुलता, अपनी दुर्बलताओ की दैनिक स्वीकृति अपने कर्तार के साथ मिलकर एक हो जाने की हृदय-विह्वलता।" यह प्रार्थना उसकी शक्ति है और इसके बल पर वह तपस्या का कण्टकाकीर्ण पथ अद्भुत शान्ति से तै कर रहा है।

—पाँच—

तत्वज्ञानी के रूप में

अपने सत्य-अहिंसा (सत्याग्रह) के जीवन-व्यापी प्रयोग कर-करके गाधी ने उसे एक सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान के रूप मे परिणत कर दिया है। उसका जीवन आदि से अन्त तक सत्य की एक चिर-साधना है। उसके कार्य-क्रम वदलते रहे है, उसका क्षेत्र वदलता रहा है, उसके वाह्य आचार

उतार-चढाव होते रहे है पर इन सवके वीच गाधी की दिशा ज्यो-की त्यो—एक—रही है ।

जैसा कि सत्यालोक के प्रत्येक दर्शन मे होता है, गाँवी का जीवन-सत्य भी किसी देश या जाति की सीमा मे वँधा नही है । वह स्वय कहते है—

नीति की प्रधानता

"मेरे धर्म मे कोई भौगोलिक वन्धन नही है ।" गाँधी का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान नीति-प्रधान है । आत्मानुभव की दृष्टि से जो सदाचरण आवश्यक है उन्हे ही वह धर्म मानते है और इसीलिए नीति और धर्म मे अन्तर नही देखते । जीवन के प्रत्येक पग पर वह शुद्ध नैतिकता पर जोर देते है । वस्तुत उनका तत्त्वज्ञान ही आध्यात्मिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है । नैतिकता से स्वय आध्यात्मिकता का जन्म होता है, यह उनके जीवन से ही स्पष्ट है । उनका धर्म व्यावहारिक आदर्शवाद पर निर्भर है । **शुद्ध निःस्वार्थ सेवा इस धर्म का साधन है; सार्वदेशिक प्रेम इस सेवा का साध्य है ।**

सत्य गाधी के तत्त्वज्ञान का ध्रुवतारा है और वही उसका लक्ष्य भी है । अहिंसा इस सत्य की सिद्धि का साधन है । अहिंसा का विकसित और

तत्त्वज्ञान का ध्रुवतारा

परिणत रूप प्रेम है । उच्च प्रेम से सव कुछ सभव है, इस आधार को लेकर ही गाधी चलता है । ऐसी अहिंसा—प्रेम—एक प्रकार का अपरिणत सत्य ही है । वह विरोधी का प्रहार हँसते-हँसते सहन करती है और तवतक सहन करती है जवतक उसका क्रोध हार नही जाता । इस प्रकार अक्रोध से क्रोध को जीतकर अहिसा का प्रयोक्ता अपना और विरोधी दोनो का कल्याण करता है । और फलत दोनो के बीच प्रेरणा की एकता (आत्मैक्य की भावना) आती है । इसके अवलम्व से इर्ष्या-द्वेष-भय-लोभ इत्यादि का—तमस् का—लोप होता है और ज्यो-ज्यो अहिसा पूर्णतर

प्रेम मे परिणत होती है त्यो-त्यो सत्य का अनुभव अधिक स्पष्ट होता है। तमस् एव रजस के क्रमिक लोप और सत् के क्रमिक विकास के साथ स्वभावत आध्यात्मिक अनुभूति का जन्म होता है। ज्यो-ज्यो साधक मे सत्यानुभव की अधिक शक्ति आती है त्यो-त्यो उसके आत्म-दर्शन की क्षमता बढती है। वह जगत् को आत्ममय देखने लगता है। यह सर्वात्म-भाव ही विश्वात्मानुभव की कुजी है।

इस प्रकार सत्य और अहिंसा दोनो सामान्य एव सर्वश्रुत शब्दो को गाधी ने अपने जीवन की साधना मे अत्यन्त दिव्य तात्त्विक रूप दे दिया है। उनके लिए जो सत्य है वही परमेश्वर है। यह सत्य सर्व-व्यापक है—उसके बिना किसी चीज़ की स्थिति नही। अत उसका प्रयोग प्रत्येक क्षेत्र मे किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे गाँधी मानव-जीवन के विकास की अधिक से अधिक सुविधा देता है। क्योकि सत्य के साथ अहिंसा मिली रहने से, जहाँ एक आदमी अपने आत्मिक विकास की सुविधा पाता है, वहाँ उसका उपयोग करने मे उसे दूसरो के विकास के लिए भी सुविधाओ का खयाल रखना पडता है। अहिसा के बिना सामूहिक रूप से मनुष्य का विकास रुक जाता है और अन्त मे इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति और समाज दोनो सच्चे विकास एव सुख की सुविधा से वचित रह जाते है। इस प्रकार भारतीय और यूरोपीय तत्त्वज्ञान के दो दृष्टि-विन्दुओ को उन्होने मिला दिया है। और आत्म-शोध एव समाज-सेवा का अद्भुत समन्वय अपने जीवन एव तत्त्वज्ञान मे किया है।

गाँधी फिलासफी कैसे चलती है ?

लक्ष्य के विषय मे प्रमाद न हो इसलिए उन्होने सत्य को जहाँ लक्ष्य बनाया और अहिंसा को उसका साधन, वहाँ साधक की पवित्रता की रक्षा और उसे प्रलोभनो से बचाने के लिए कुछ और शर्तें भी उन्होने लगा

दी हैं। इनमे अपरिग्रह मुख्य है। उनकी फिलासफी मे, समाज की दृष्टि से भी, इसका वडा महत्त्व है। जितनी चीजो के विना जीवन-यात्रा चल ही न सके उतनी ही चीजे ग्रहण करने का व्यक्ति को अधिकार है। इसलिए अपरिग्रही देश-सेवक के लिए यह डर नही है कि वह देश-प्रेम के उन्माद मे विश्व को भुला देगा। फिर इस अपरिग्रह के पहरेदार के रूप मे उन्होने अस्तेय और अस्वाद को लगा दिया है। उनके साधना मार्ग मे ब्रह्मचर्य सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण शर्त्त है। आत्यन्तिक रूप मे ब्रह्मचर्य सत्य से अभिन्नता का आचरण है, ब्रह्म मे विचरण करना है। स्थूल रूप से उनका अस्वाद उनके ब्रह्मचर्य मे भी आ जाता है। धार्मिक प्रमाद भी साधक के पथ मे वडी वाधा है इसलिए सर्वधर्मो के प्रति आदर भाव रखना भी उनकी 'फिलासफी' मे एक ज़रूरी शर्त है।

अपरिग्रह

अपरिग्रह के दो पहरेदार

—छः—

समाज-परिष्कारक गांधी

यो गाँधी के सारे कार्यो ने ही समाज पर असर डाला है और उसके दोपो का दूर तक परिष्कार किया है, किन्तु इसके अलावा और भी काम उसने किये हैं जिनके द्वारा सीधे-सीधे समाज-सुधार का प्रश्न हल हुआ है। इसमे अस्पृश्यता-निवारण, स्त्रियो का जागरण एव खान-पान मे जातीय भेद का निवारण मुख्य है। अस्पृश्यता-निवारण के कार्य को तो उसने अपने जीवन का मुख्य कार्यक्रम वना लिया है। जो आत्म-साक्षात्कार के लिए विकल है और जो सर्वात्म-भाव को लेकर जीवन मे सत्य की साधना कर रहा है उसके लिए यह

अस्पृश्यता-निवारण

सभव ही कैसे हो सकता है कि वह मनुष्य-मनुष्य के वीच घृणा फैलाने वाली अस्पृश्यता की कुत्सित प्रथा का समर्थन करे ? इसीलिए उसकी दृष्टि मे 'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का कलक है ।' और 'हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यता को स्वीकार कर पाप किया है। और हमे साम्राज्य मे अछूत वना दिया है ।' गाँधी चाहता है कि यदि उसका दूसरा जन्म हो तो भगी के घर हो, जिससे यह उनके वीच रहकर, उन्ही का होकर उनकी सेवा कर सके । १९२१ मे उसने अपने एक व्याख्यान मे कहा था कि जिन दो आकाक्षाओ ने मुझे जीवित रखा है उनमे एक अस्पृश्यता-निवारण है और दूसरी गो-रक्षा । जीवन के आरभ से ही हम देखते है कि अस्पृश्यता को उसके हृदय ने कभी कबूल नही किया । दक्षिण-अफ्रीका मे उसने इसे क्रियात्मक रूप दिया और इसके कारण कुटुम्ब मे जो तूफान उठे, उनका सामना किया । जब कोचरव मे सत्याग्रह-आश्रम खुला तव अस्पृश्यता-निवारण के कार्य को उसने अपने जीवन मे स्थायी रूप से ग्रहण किया और तव से लक्ष्मी (एक अछूत कन्या, जिसका विवाह १९३३ ई० मे हुआ) उनकी पुत्री के रूप मे आश्रम मे पलती रही है । १९२४ से काग्रेस कार्यक्रम मे भी उसने अस्पृश्यता-निवारण को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया । हिन्दू दृष्टि-कोण छोड दे, तो मनुष्यता की दृष्टि से भी, और राष्ट्रीय दृष्टि से भी, अस्पृश्यता भारत के लिए एक बडा ख़तरा है । इसलिए काग्रेस के विधायक कार्यक्रम मे उसका मुख्य स्थान है । और अव तो इस समस्या के लिए तीन वार वह अपने जीवन की वाज़ी भी लगा चुका है । दो वार प्रभु से लडाई लड़ी है । उसका उपवास एकाएक हमारे सामने आया और सोते हुए हिन्दू अन्त करण को उसने झकझोरकर जगा दिया । जिस राक्षस ने हमारे सुधारको को युगो तक तग किया, जो हमारे सव प्रयत्नो पर सदा उपेक्षापूर्ण अट्टहास करता रहा, जिसने

हमे विदेशी बाजारो मे—'मेयो' इत्यादि की किताबो मे—अपमानित किया वह आज इस असाधारण पुरुष के प्रहारो से दम तोड रहा है।

एक दिन जो मन्दिर स्वच्छता और पवित्रता के केन्द्र थे, जहाँ से हमे आत्मिक प्रकाश मिलता था और ससार-यात्रा मे थके, निराश जनो को जहाँ श्रद्धा जीवन देती थी वहाँ आज अस्पृश्यता ने मानव-धर्म को बलिदान कर दिया है, वे जोर-जबर्दस्ती के अड्डे हो रहे हैं। लोग यह भूल गये है कि धर्म आत्माओ को नियोजित करता है, पृथक् नही। और जो मिलाता है, वृद्धि करता है, विकसित करता है, वही सत्य है—वही धर्म है। श्रद्धा अन्ध-विश्वास नही है, वह मानवी अन्त करण का पक्ष है, वह आत्मिक सत्यो को ग्रहण करनेवाली मानव-हृदय की उदार भावना है। धर्म के नाम पर आज जो हो रहा है, वह कितना व्यथाकारी है ? वस्तुत अस्पृश्यता की समस्या तो सामाजिक समस्या है, धर्म से उसका कुछ सम्बन्ध नही, गाँधी ने इस अमानुषिक प्रथा को दूर करने के लिए अपने सत्याग्रह से, अपनी तपस्या से कार्य-शक्ति की एक लहर हिन्दू समाज के अन्दर उत्पन्न कर दी हैं। और आशा की जाती है कि हिन्दू समाज इस चिर-सचित गदगी को इस लहर मे धो डालेगा।

स्त्रियो का जागरण

स्त्रियो के अभूतपूर्व जागरण मे गाँधी एक मुख्य कडी हैं। उसने सत्याग्रह-आन्दोलन का सचालन इस ढग से किया कि जो बाते दो साल पहले अनहोनी समझी जाती थी, वे सभव हो गईं। शत-शत बहनो ने परदे को तोडकर मातृभूमि की वेदी पर अपनी पूजा, अपनी भेट अर्पित की है और इन बहनो के त्याग, कष्ट-सहन और वीरता की गाथाएँ हमारे इतिहास के उज्ज्वलतम पृष्ठो मे स्थान पावेगी। दो वर्ष के इस युद्ध मे भारतीय नारी ने अपनी शक्ति, अपनी असीम संभावनाओ को अच्छी तरह पहचान लिया है। वह जान

गई है कि वह न केवल अपने बच्चो की माता और अपने पति की चिरसगिनी है, वह न केवल कुटुम्ब को अपने चिर-स्नेह के अमृत से सीच सकती है वरन् देश और समाज के भविष्य-निर्माण के कार्य मे भी किसी से पीछे नही है। अभी तक अबला, दुर्बल, शिथिल, दबी और दबाई हुई तथा दयनीय इत्यादि अनेक अनुपयुक्त विशेषणो से पुकारी जानेवाली भारतीय नारी का अत्यन्त दिव्य और तेजस्वी रूप सत्याग्रह-युद्ध मे प्रकट हुआ। इसका श्रेय, बहुत बडी मात्रा मे, गाँधी को है।

पर गाधी की भारतीय नारी आखो मे चश्मा, हाथ मे बैग लेकर आफिस जानेवाली नारी नही है, न वह पाउडर–भूषित मुख और 'लिपस्टिक'—रजित ओष्ठो तथा बार-बार 'वैनिटी बाक्स' के उपयोग द्वारा लोगो का ध्यान अपनी ओर—अपने रूप की ओर आकर्षित करने-वाली **रमणी** है। वह नारीत्व के प्रकाश और मातृत्व की दिव्य आभा से चमकती हुई, पुरुष की सच्ची सहचरी है। उसके हृदय मे सहानुभूति है, दया है। वह अन्नपूर्णा है, वह कुटुम्ब को स्नेह-दान करनेवाली है और वही उसका असली क्षेत्र है। जगद्धात्री की प्रतिनिधि-रूपा यह भारतीय नारी, जिसमे श्रद्धा है, विश्वास है, तेज है, सेवा है, धर्म है, गाधी की आदर्श नारी है।

परदा-प्रथा हटाने, विवाह-प्रथा को शुद्ध धार्मिक सस्कार का रूप देने और उसमे आदर्श सादगी लाने का प्रयत्न गाधी की ओर से बराबर होता रहा है।

अन्य सुधार

खान-पान मे असाधारण स्वच्छता और पवित्रता का पालन करते हुए उसने जातिगत छूत-छात को दूर भगाने का काम भी, एक सीमा तक, किया है। आश्रम मे शुरू से विभिन्न देशो, वर्णों एव जातियो के भाई-बहन साथ बैठकर खाते है तथा दूसरे हज़ारो राष्ट्रीय एव सामाजिक कार्यकर्ता इस पद्धति का पालन अपने जीवन मे करते है।

इस प्रकार गाँधी ने समाज-सुधारक के रूप मे भी इतना काम किय है, जिससे उसका नाम हमारे सर्वश्रेष्ठ समाज-सुधारको के साथ लिय जा सकता है।

—सात—

लेखक और कलाकार गांधी

बहुत कम लोग इस बात को जानते है कि गुजराती साहित्य व उसके वर्तमान रूप मे लाने का कितना श्रेय गाँधीजी को है। गुजरात भाषा, आज जो, एक नूतन विचार-प्रवाह का साधन बन गई है, आ उसमे जो शक्ति हम पाते है, आज उसमे जो एक नूतन प्राणोन्मेष है वह मुख्यत गाँधी की देन है। पर गुजराती ही क्या अंग्रेजी भाषा प भी उसकी छाप पड रही है। क्या गुजराती मे, क्या अँग्रेजी मे गाँधीजी की लेखन-शैली एक उच्चकोटि के कलावन्त की शैली है। एक शब्द भी व्यर्थ नही; नपे-तुले शब्द अपने-अपने स्थान पर ठीक। आडम्बर नही, श्रृंगार नही। फिर भी वह इस सादगी मे शैली का अद्भुत सौन्दर्य विकीर्ण करते है। कभी-कभी छोटे-छोटे वाक्यो मे वह असीम भाव-सौन्दर्य भर देते है।

शैली और भाव के राजा

गो पर, विधवा पर, भारतीय नारी पर लिखे हुए उनके वाक्य उच्चश्रेणी के गद्यकाव्य-से लगते है। "गाय दया की एक कविता है" इस छोटे वाक्य में इस प्राणी के जीवन को उन्होने थोडे मे कह डाला है और उस कहने मे कितना भावोद्रेक, कितनी कला है। इसी प्रकार "घृणा सदैव घातक होती है, प्रेम कभी नही मरता" या "सख्या-बल आलसियो या कायरो का आनन्द है। आत्मवीर अकेले लडने मे आनन्द पाता है"

या "विवाह वह बाड है जो धर्म की रक्षा करती है" या 'प्रेम वोलता नही, जो वोले वह प्रेम नही।'

उनकी लिखी पुस्तके, उनके लिखे लेख और 'नवजीवन' 'यग इण्डिया' और 'हरिजन' मे उनकी कलम से निकली अजस्र विचार-धारा से भाषा पर उनके अधिकार का पता चलता है। अनेक अग्रेज यात्रियो एव लेखको ने उनकी अग्रेजी की प्रशसा की है। बात यह है कि उनकी विचार-शक्ति बहुत सूक्ष्म और तीव्र है, इसलिए भाषा अपने-आप उनके दिव्य विचारो का अनुसरण करती है।

एक सदेह काव्य

पर जब हम उन्हे कलाकार कहते है तब हमारा यह अभिप्राय नही कि उन्होने कोई सुन्दर चित्र बनाया है, या कविता लिखी है, या सुन्दर गायक वा वादक है। जब उन्हे कलाकार कहते है तो हम कला को उसके अत्यन्त विकसित रूप मे लेते है। उनका सारा जीवन ही श्रेष्ठ कला का नमूना है। वह एक सदेह काव्य है। उनकी आत्मा सतत झकृत वीणा है जिससे आत्मार्पण की रागिनी निकलती है और जो उनके कभी न रुकनेवाले कर्ममय जीवन के मृदग पर उछल-उछलकर जगत् को उत्साहित करती है। गाँधीजी एक श्रेष्ठ कर्म-कलाविद् (Artist in action) है। वह कहते है—"भूखा जन-समूह केवल एक कविता चाहता है—प्राणदायक भोजन।" उन्होने काव्य को क्रियात्मक मानवी करुणा से ओतप्रोत कर दिया है। दाडी-यात्रा की योजना सिवाय गाँधी के दूसरा न बना सकता था। इस योजना पर ही एक श्रेष्ठ कलाकार की छाप है। एक कवि के अतिरिक्त कौन इसे कर सकता था ?

गाँधीजी 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के समर्थक नही, वह वर्डस्वर्थ की भाँति कला की नैतिक कीमत के पूजक है। वह कला को नैतिक

प्रेरणाओ, नैतिक शक्तियो का विकासक मानते है। उनके मत से प्र

प्रकृति-सौन्दर्य का पुजारी

प्रकार की कला आत्मा की—मनुष्य की आन्तरि दिव्यता को प्रकट करती है और इस प्रकार आत्म नुभव मे सहायक होती है। वर्डस्वर्थ की भाँति गाँधीजी भी प्रकृति मे अनन्त रमणीयता—अनन्त सौन्दर्य देखते है। प्रकृ के इस सौन्दर्य मे नहाकर उनकी मानसिक क्लान्ति दूर हो जाती है औ आत्मा का तेज शरच्चन्द्र की निर्मलता के साथ प्रकट होता है। वह स्व कहते है—"जब मै सूर्यास्त की सुषमा या चन्द्रमा के सौन्दर्य को देखत हूँ तो मेरा अन्त करण प्रभु की पूजा मे फैल जाता है।" वह उस श्रेणी क कवि है जो एक हँसती कली को देखकर मुग्ध हो जाता है और उस भगवान् की मुस्कराहट को प्रत्यक्ष देखता है। एक दिन रात को ज मीरा वहन (मिस मेडलीन स्लेड) धुनकी के काम मे लाने के लिए वबू की पत्तियो का एक गुच्छा तोडकर लाईं तो गाँधीजी ने देखा कि प्रत्ये पत्ती सिमटी हुई गहरी नीद मे पड़ी है। दु खभरी आँखो से मीरा वहन क ओर देखकर कवि वोला—"वृक्ष हमारी ही तरह प्राणी है। उनमे जीव है, वे साँस लेते है, वे खाते-पीते है और हमारी ही तरह उनको नीं की जरूरत होती है। इसलिए रात के समय, जब वृक्ष सो रहे ह पत्तियों को तोडना निर्दयता है।......निश्चय ही कल की सभा मे मे भाषण तुमने सुना होगा जिसमे मै बेचारे फूलो के बारे मे बोला था कि लोग मेरे ऊपर फेकने या गले मे डालने के लिए हलकी-हलकी कोम कलियो के गुच्छे तोडकर लाते है, उससे मुझे कितना दु ख होता है हमे अपने एव शेष प्राणिजगत् के बीच जीवित सम्बन्ध का अनु करना चाहिए।"

× × ×

शुद्ध सगीत के वह अनन्य प्रेमी है और उन्होने इसे आश्रम की वस्था मे स्यान भी दिया है। उनके ही शब्दो मे देखे तो उनका कहना है—"सगीत ने मुझे शान्ति दी है। ····सगीत ने मेरे क्रोध पर विजय पाने मे सहायता की है। ऐसे अनेक

सगीत के प्रेमी

वसर मै याद कर सकता हूँ जब एक भजन मेरे अन्त करण मे पैठ गया, जब वे ही भाव गद्य मे मुझे स्पर्श करने मे असफल रहे।" एक बार व० द्विजेन्द्रलाल राय के सुपुत्र गायक दिलीपकुमार राय से गाँधीजी ने हा था—"मै सगीत के विरुद्ध हो ही कैसे सकता हूँ ? मै तो सगीत ना भारत के धार्मिक जीवन के विकास का खयाल ही नही कर कता। मै तो सगीत की तरह तमाम कलाओ का प्रेमी हूँ। हॉ, कला ाम से आजकल अनेक चीजो का परिचय कराया जाता है, उनके खिलाफ जरूर हूँ। कला के लिए हृदय चाहिए, इसका रहस्य समझने लिए शिक्षा और ज्ञान की जरूरत नही।" ····"**तपस्या जीवन में सबसे ड़ी कला है। जीवन समस्त कलाओ से श्रेष्ठ है।** मै तो समझता हूँ कि **ो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है।** उत्तम जीवन ी भूमिका बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है ? कला के ूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। **जीवन ही कला है। कला ीवन की दासी है।** और उसका काम यही है कि वह जीवन की सेवा रे। कला विश्व के प्रति जाग्रत होनी चाहिए।"

उनके विचार से सत्य मे अद्भुत सौन्दर्य समाहित है। और सत्य के ारा ही सच्चा सौन्दर्य-दर्शन हो सकता है। सुन्दर मे सत्य और शिव ोजने की जगह वह सत्य मे ही सुन्दर और शिव खोजते है। इस प्रकार ाह एक नैतिक (एव उपयोगितावादी) कलावन्त है। उनका सारा जीवन ात्म-सौन्दर्य से जाग्रत है और श्रेष्ठ कला का एक सुन्दर प्रतीक है।

—आठ—

दीनबंधु गांधी

गाँधी दीनो की लाठी है। उसने इनकी सेवा मे ही अपनी सार्थ
मानी है। वह इनकी सेवा को ईश्वरोपासना का सर्वोत्कृष्ट रूप मा
है। उसने दरिद्र को **नारायण** बना दिया है। उसे रात-दिन इस दरि
नारायण का ध्यान रहता है और उसने अपने को उनमे मिला दिया

—और इन दीनो ने भी उसे समझा है और हम शिक्षितो से अ
उसे अपनाया है। वे उसका नाम सुनकर उसी प्रकार चमत्कृत हो
जैसे तुलसीदास का नाम सुनकर। उनके लिए वह कोई असाधा
पुरुष है, कोई सन्त-महात्मा है।

—और गाँधी ने निश्चित रूप मे भी उनके लिए क्या कुछ
किया है? अछूतो के लिए प्राण देनेवाला यह महापुरुष उनको खूब स
झता है और उनकी हित-चिन्ता मे उसने ब्रिटिश-साम्राज्य की दृढ दीवा
को हिला दिया है। इसी प्रकार भारत की गरीबी की मूर्ति— से, चा
ओर से दुरदुराये हुए, हमारे अभागे किसान को उसने धनियो
'**अन्नदाता**' कहकर घोषित किया। उनके पल्ले दो पैसे पडे, इसके लि
उसने भारत के गाँवो मे चर्खा ला खडा किया है और उसकी मन्द गति
से उनमे आत्म-विश्वास का अद्भुत बल पैदा कर रहा है। यह चरख
जो भारतीय उद्योग का प्रतिबिम्ब है, धीरे-धीरे उनके जीवन मे स्था
पा रहा है। शहरातियो मे से भी बहुतो को उसने सादगी और स्वा
प्रदान की है।

यह चरखा गाँधी का सहचर है। यात्रा मे, जेल मे, सर्वत्र 'भार

'लिए विष्णु-रूप' यह चरखा उपस्थित है। चरखे के पीछे वह पागल है
योकि इसमे वह भारतीय किसान का उद्धार देखता है। उसे खादी मे
ारत की स्वतन्त्रता के, भारतीय नारी के शील के, स्वराज्य और सत-
ग की स्थापना के दर्शन होते है। यह वात सुनकर कोई सोचने लगता
, कोई हँसता है, कोई विमूढ हो उसकी ओर ताकता है पर उसका
र्खा तो इन सबके बीच अवाध गति से चल रहा है।

यह चरखा न केवल भारतीय किसान का सहारा है वरन् पश्चिम
ी यात्रिक औद्योगिकता के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। वह उद्योग एव
ीवन मे सादगी लाता है जिसे हम ग्रहण करले तो यात्रिक उद्योगवाद
उत्पन्न श्रेणी-युद्ध (पूँजीपति और मजूर के झगडे) से वच सकते है।
स दृष्टि से देखे तो चरखे का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व कुछ कम नही है और
व गाँधीजी ने कहा था कि अमेरिका के प्रति भी यह चर्खा ही हमारा
न्देश है तो उनका ध्यान इसी वात पर था। यह चरखा पश्चिम की
औद्योगिकता से उत्पन्न होड और कलह के बीच शान्ति की सन्देश-वाहक
ताका की भाँति खडा है और सच्चे रास्ते का निर्देश करता है।

× × × ×

इन रूपो के अतिरक्त देश-भक्त, विद्रोही, श्रमिक अनेक रूपो मे
हम गाँधी को देखते है पर इन रूपो से जनता इतनी जानकारी रखती है
कि उनके वर्णन एव विवरण की यहाँ आवश्यकता नही। वह मनुष्यो का
प्रेमी है। उसकी विनोद-वृत्ति (sense of humour) और उसका मुक्त
हास्य सार्वजनिक क्षेत्र मे अफवाह की भाँति प्रसिद्ध है। इस विनोद-वृत्ति
के कारण ही वह इतनी कठिनाइयो, दु खो के वीच भी जीवित रह सका
है। इस विनोद-वृत्ति मे विरोधी के विरोध का विष वह जाता है और
इस साधक को वच्चे की भाँति निर्दोष कर जाता है। जब उसके हृदय

मे आँधी चल रही हो तो वह हँस सकता है। जो कोई उसके सा
आता है, उसे वह प्रेम की शक्ति से अपना लेता है। उसने प्रेम को
कला बना दिया है। शिष्टाचार इस कला का सब से उपयोगी
आवश्यक अग है।

इस प्रकार अपने विविध रूपो मे प्रकट होकर मोह-निशा मे ज्ञान
प्रकाश-स्तभ की भाँति वह हमे मार्ग दिखा रहा है।

—नव—

कतिपय स्मरणीय प्रसग

गाँधीजी का जीवन उनके विशेष गुणो को व्यक्त करनेवाले प्रसगो
से भरा पडा है। जो व्यक्ति प्रति क्षण अपने सिद्धान्तो के अनुसार चलने में
सचेष्ट है, उसके जीवन मे ऐसे प्रसगो की कमी क्या ? वे सब लोग, जो
उनके सम्पर्क मे आये है, दो-चार उदाहरण अवश्य बता सकेगे। यहाँ
कतिपय स्मरणीय प्रसगो का उल्लेख किया जाता है।

दक्षिण-अफ्रीका का गाँधीजी का जीवन एक तेजी से बन रहे साधक
का जीवन था। उस साधना मे अद्भुत भावावेश भी था। और यह
उनके पवित्र भावावेश तथा साधना का ही परिणाम
था कि उस समय सब धर्मो, जातियो एव देशो के
ईमानदार साथी उन्हे मिले थे। यह उनके सत्याग्रह

"शीश चढा चुका हूँ!"

का ही प्रभाव था कि कई यूरोपियन ईसाई बन्धुओ ने भी भारतीयो का
साथ दिया और यातनाएँ सहन की थी। इस सत्याग्रह ने प्रवासी भार
तीय स्त्रियो मे भी त्याग की लौ जलाई थी। उन्होने अपने कष्टो को
उदाहरणीय वीरता के साथ सहन किया था। पर गाधीजी तो उनके
दु खो का कारण भी अपने को ही समझते थे और उनके कष्टो को अपनी

...त्मिक सहानुभूति से दूर करते थे। २२ दिसम्बर १९१३ का दिन ...क्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह मे महत्वपूर्ण था। डरबन मे पारसी रुस्तमजी ...ा मकान भारतीयो से भर गया था। सैकडो सत्याग्रही अपने स्त्री-बच्चो ...हित बैठे थे। इनमे वे लोग भी थे जिन्हे गोलियाँ लगी थी। शहीदो की ...वधवा स्त्रियाँ अपने बच्चो को गोद मे लिए बैठी हुई थी। सध्या समय, ...गभग ४ बजे, गाँधीजी वहाँ आये। दो ही दिन पहले वह जेल से छूट-...र आये थे। वह उस तरफ गये जहाँ परलोक-गत सुजाई और सेलवनी (ये सत्याग्रह-युद्ध मे गोली से शहीद हुए थे) की विधवाएँ बैठी थी। ...ाँधीजी को देख उन्होने आँखो मे आँसू भरकर उनके चरणो पर सिर रख दिया। गाँधीजी ने बडी कठिनाई से सिर हटाया और एक विधवा बहन के कन्धे पर हाथ रखकर एक टक उसकी ओर देखने लगे। विधवा की आँखे भरी हुई थी और गाँधीजी के हृदय मे भी व्यथा-राशि उमड रही थी। गाँधीजी को ऐसा मालूम हो रहा था, मानो भारत-माता ही उस विधवा बहन के दीन वेश मे सामने खडी है। ये बहने तमिल थी। अत उन्होने एक तमिल दुभाषिये को बुलाकर उसके द्वारा इन बहनो से कहा—

"माता तुम चुप रहो; रोओ मत। तुम्हारा रोना सुनकर मुझसे रहा नही जाता। तुम्हारा पति अत्याचारियो के हाथ मारा गया है। आज वह भगवान् की गोद मे बैठा हुआ है। उसने देश के लिए अपना शरीर दिया। वह अमर हो गया। यदि वह किसी रोग से मरा होता तो मै आज इस तरह तुम्हारे सामने खडा न होता। ससार को उसकी मृत्यु की खबर भी न होती। यह उसके लिए बडे भाग्य की बात है कि उसको इस अच्छे काम मे मौत मिली। जिस दिन तुम्हारी तरह हजारो माताएँ और बहने विधवा बनेगी उसी दिन भारत-माता का उद्धार होगा। मै

अपना सिर भारत-माता के चरणों पर चढा चुका हूँ। अगर जुल्मी सर
कार उसे धड से अलग कर दे और तुम्हारी तरह मेरी स्त्री भी ए
निराश्रित विधवा हो जाय, तो मैं समझूँगा कि मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई।
तभी मेरी अन्तरात्मा को शान्ति मिलेगी। माता, तुम दु खित न हो।
मैं अपना सिर तुम्हारी गोद मे देता हूँ। तुम्हारे विधवा होने का कार
मैं ही हूँ। मुझे क्षमा करो और शान्त हो।"

इतना कहने के बाद गाधीजी ने एक बार फिर प्रणाम किया औ
वहाँ से चले गये। जो लोग वहा मौजूद थे, गाँधीजी की ये स्नेहपूर्ण बा
सुनकर रोने लगे। बहुतो से दिल हिला देनेवाली यह घटना देखी न ग
तो वहाँ से चले गये। हमारे अन्य नेताओ मे इतना स्नेह कहाँ दिखा
पडता है ?

× × × ×

अभय

शरीर के सम्बन्ध मे ज़रा भी भय करना गाँधीजी को नास्तिकता
प्रतीत होती है। जिसने अपना जीवन जन-सेवा में अर्पित कर दिया है
और जो प्रभु की शरण मे जा चुका उसे मृत्यु का
भय क्या ? वह मरे तो, जिये तो, उसका शरीर प्रभु
का सदेश-वाहक है। वह तो हथेली पर सिर लेकर घूमता है। गाँधीजी
की निर्भयता और अहिंसा का एक उदाहरण लीजिए —

गाधीजी के एक मित्र एव सहयोगी श्री केलेनबैक थे। यह जर्मन थे
और दक्षिण-अफ्रीका मे एक प्रसिद्ध इजीनियर थे। गाँधीजी के साथ रह
कर उनका जीवन भी बिलकुल बदल गया था, वह भी साधु प्रकृति के
हो गये थे। वह प्राय गाँधीजी के साथ रहते थे। जब उन्हे मालूम हुआ
कि कुछ लोग गाँधीजी को मारने की ताक मे है तो वह सदा परछाई की
तरह गाँधीजी के साथ रहने लगे। कुछ दिन बाद गाँधीजी को उनके

ऊपर सन्देह हुआ और अनुमान से उन्होने सब बाते जान ली। एक दिन उन्होने केलेनबैक की जेब मे हाथ डाला तो उसमे एक तमचा मिला। उन्होने कडकर पूछा—"है! क्या महात्मा टाल्सटाय के शिष्य भी शस्त्र साथ रखते है?"

केलेनबैक ने धीरे से कहा—"जरूरत होने पर रखना ही पडता है।"

गाँधीजी ने और कडककर पूछा—"तमचा साथ रखने की कौन-सी आवश्यकता आ पडी है?"

केलेनबैक ने कुछ घबराहट के साथ उत्तर दिया—"मुझे समाचार मिला है कि कुछ लोग आप पर आक्रमण करनेवाले है, इसी से मै तमचा रखता हूँ।"

गाँधीजी ने कहा—"मेरी रक्षा की जिम्मेदारी तुमने अपने ऊपर ले रखी है! क्या इस तमचे से तुम मेरी रक्षा करोगे?"

केलेनबैक चुप रहे। गाँधीजी बोले—"और यदि इस तमचे से ही मेरी रक्षा होती हो तो मै अभी इसी से अपने शरीर के टुकडे कर डालता हूँ। तब तुम क्या करोगे? मेरे मित्र, यदि तुम मेरे सच्चे स्नेही होते तो इस शरीर पर तुम्हारा इतना मोह होना सम्भव ही नही था। स्नेह केवल शरीर की ही रक्षा नही करता, आत्मा की भी रक्षा करता है। शरीर आज नही तो कल अवश्य नष्ट हो जायगा। स्नेह के लिए क्षण-भगुर वस्तु पर आसक्ति रखना अनुचित है। उसे अमरत्व की अभिलाषा रखनी चाहिए। यदि तुम मेरे सच्चे मित्र हो तो तमचे से मेरी रक्षा करने का विचार छोड़कर इसे फेक दो।"

उस दिन से केलेनबैक ने तमचे को छुआ तक नही।

सत्याग्रह की अन्तिम लड़ाई मे गाँधीजी डरबन से जोहान्सबर्ग जाने वाले थे। तब यह बात मालूम हुई कि कुछ लोगो ने मार्ग मे उनकी

हत्या करने का षड्यन्त्र रचा है। एक सत्याग्रही ने सब बातें गाँधीजी

और उदाहरण

से कहीं और प्रार्थना की कि जोहान्सवर्ग न होकर बाहर-बाहर नेटाल जायें।

इस पर गाँधीजी ने कहा—"यदि मरने के भय से जोहान्सवर्ग न जाऊँ तो मैं सचमुच ही जीवित रहने के योग्य नहीं। मैं वहाँ जाऊँ और मारनेवालों की योजना सफल हो जाय तो मुझे सन्तोष होगा। शायद ईश्वर की यही इच्छा हो कि मैं अपना काम पूरा कर चुका और अब बुला लिया जाऊँ।"

केलेनवैक इस अवसर पर जोहान्सवर्ग में ही थे। उन्होंने यह बात सुनी तो उस आदमी से, जिसने उन्हें यह बात सुनाई थी, कहा—"हम लोगों की अपेक्षा गाँधीजी ज्यादा अच्छी तरह अपनी रक्षा करने में समर्थ हैं। और उनसे भी ज्यादा ईश्वर उनकी रक्षा करता है।"

गाँधीजी जोहान्सवर्ग गये। वहाँ लोगों ने उनका खूब स्वागत किया। १९०८ में जिन चार पठानों ने गाँधीजी पर आक्रमण किया था उनमें से एक—जिसका नाम मीर था—यहाँ उपस्थित था। उसे जब इस षड्यन्त्र की खबर मिली तो उसने गाँधीजी की रक्षा की जिम्मेदारी ली और उनके पहुँचते ही उनके चरणों पर लोटने लगा!

अभय और आत्म-बल की यह महिमा है! इनसे क्या नहीं होसकता?

× × × ×

एक बार गांधीजी के सबसे छोटे लडके देवदास ने आठ दिन तक अलोना भोजन करने की आज्ञा मागी। आज्ञा मिल गई। इसके दो-तीन

बाल-हठ पर विजय

दिन बाद की बात है; कस्तूरबा सबको नियमानुसार भोजन परस रही थी। बढिया नमकीन तरकारी देखकर देवदास के मुँह मे पानी भर आया। पर व्रत-भग होगा इसलिए

तरकारी उसे नही दी गई। तब उसने कोई अलोनी चीज खाने को नही ली और रोने लगा। गाँधीजी ने भी भोजन नही किया और प्रतिज्ञा की कि 'जब देवदास मुझसे कहेगा कि पिताजी, मै भोजन करता हूँ, आप भी कीजिए, तभी मै करूँगा।' बात अड गई। एक तरफ बाल-हठ, दूसरी तरफ आत्म-बल। उस समय सगी-साथियो ने बहुत समझाया पर देवदास अड गया। पर सध्या होते-होते उसे अपने कार्य के अनौचित्य का बोध हुआ। वह पिता के पास पहुँचा और नम्रतापूर्वक बोला—"पिताजी, मै अलोना ही भोजन करता हूँ, आप भी कीजिए।" तब पिता-पुत्र ने साथ बैठ भोजन किया।

व्रत और प्रतिज्ञा का निर्वाह कठिनाइयो एव प्रलोभनो की परवा न करके करना ही चाहिए, यह शिक्षा इस प्रसग से मिलती है।

परिश्रम और सेवा

जीवन-कथा मे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि १९१० ई० मे ट्रासवाल-सरकार ने वहाँ के बहुत-से भारतीय सत्याग्रहियो को निर्वासित किया। वे भारत लाकर छोड दिये गये। इनका जन्म अफ्रीका मे ही हुआ था और भारत मे उनका सगा-सम्बन्धी कोई न था। इसलिए उन्हे बडा कष्ट भोगना पडा। १०४,६० और १२६ के तीन दल भारत लाकर छोडे गये। पहले दो मद्रास ओर तीसरा बम्बई मे। पीछे आन्दोलन करने पर इस प्रकार का निर्वासन बन्द हुआ। इनके स्त्री-बच्चे दक्षिण-अफ्रीका मे ही थे। पर गाँधीजी पर उनका ऐसा विश्वास था कि उनके सम्बन्ध मे वे बिलकुल निश्चिन्त थे। गाधीजी ने भी उनके स्त्री-बच्चो की सेवा अद्भुत लगन से की। ये लोग 'टालस्टाय फार्म' मे रहते थे। उस समय गाधीजी का परिश्रम और उनकी सेवा देखने योग्य थी। बडे तडके उठते, उठकर विद्यार्थियो को पढाते थे। फिर अपने ही हाथो स्त्रियो के पाखाने साफ

करते थे । इसके बाद वह स्त्रियो के स्थान पर जाकर पूछते—"क्या आप लोगो के पास मैले कपडे है ?" "कृपया औरो के मैले कपडे भी ला दीजिए मै उन्हे धो लाऊँ ।" सब मैले कपडे उनके हवाले किये जाते । वह पास के नाले से उन्हे धो लाते और सुखाकर सबके कपडे दे देते । वह उन लोगो का इतना ध्यान रखते कि अपने निर्वासित पतियो एव पिताओ की उनको याद भी बहुत कम आती थी ।

हिन्दी-प्रेम

राष्ट्र भाषा के प्रचार और समुत्थान मे गाधीजी का जितना हाथ है उतना और किसी का नही । उनके हिन्दी व्याख्यानो को सुनने के लिए सैकड़ो ने हिन्दी सीखी । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के दो-दो बार वह अध्यक्ष बन चुके है ।

स्व० लोकमान्य तिलक, आरम्भ मे, हिन्दी के प्रेमी न थे, न उनकी तार्किक युक्तियो के आगे कोई उनसे हिन्दी के लिए कहने की हिम्मत करता था । एक बार की बात है कि कलकत्ता की एक बडी सभा मे देश के अनेक नेता उपस्थित थे । गाधीजी भी मौजूद थे । लोकमान्य का व्याख्यान होनेवाला था । लोकमान्य उठे और उन्होने अग्रेजी मे व्याख्यान दिया । व्याख्यान समाप्त होने पर गाँधीजी उठे और श्रोताओ से बोले—"आप लोगो मे से जिस-जिसने लोकमान्य का व्याख्यान समझा हो, हाथ उठावे ।" बहुत थोडे आदमियो ने हाथ उठाया । गाँधीजी ने फिर कहा—"अब वे लोग हाथ उठावे जिन्होने व्याख्यान नही समझा ।" बहुत लोगो ने हाथ उठाया । तब गाँधीजी ने हाथ जोड़कर लोकमान्य से कहा—"इसीलिए हिन्दी सीखने की आवश्यकता है । यदि लोकमान्य आज हिन्दी मे बोले होते तो हमारे अधिक भाई उनके व्याख्यान का लाभ उठाने से वचित न रह जाते । अग्रेज को समझाने के लिए हमे अपनी मातृभाषा छोड़कर अग्रेजी सीखने की ज़रूरत नही । अगर उसे हमारी बात समझने

की गरज होगी तो वह खुद हिन्दी पढेगा या दुभापिया रक्खेगा। लोग कहते है कि लोकमान्य पर इस बात का इतना असर पडा कि उन्होने उसी समय प्रतिज्ञा की कि "मैं दो महीने मे हिन्दी सीख लूँगा।"

आत्म-संयम

फीनिक्स मे रहते समय एक दिन सवेरे ९ बजे एक तार आया। डाक (जिसमे तार भी था) रावजी भाई नाम के एक सज्जन के हाथ मे थी। वह उसे गाँधीजी के पास ले जा रहे थे कि रास्ते मे गाँधीजी के द्वितीय पुत्र मणिलाल मिले। उन्होने तार हाथ मे ले लिया। कुछ ही दिन पहले गाधीजी के बडे भाई की हालत खराब होने का समाचार मिला था। इसलिए मणिलाल तार का समाचार जानने को उत्सुक थे। उन्होने तार खोला और पढकर बन्द करके उसी तरह चुपचाप रख दिया। उसमे उनके चचा की मृत्यु का ही समाचार था। सारी डाक महात्माजी के सामने आई। सब लोग समझते थे कि तार पढ गाँधीजी पाठशाला के बाहर आ जायँगे पर वैसा कुछ न हुआ। दिन भर सब काम, रोज की तरह ही, शान्ति-पूर्वक हुए। शाम की प्रार्थना समाप्त होने पर उनके चेहरे पर दु ख के चिन्ह दिखाई पडे। उस समय उन्होने लोगो को यह समाचार बताया और कहा—"नित्य के कामो मे रुकावट न पडे, इसलिए मैने हृदय का वेग दबाकर सब काम यथाक्रम होने दिया। निश्चत कार्य-क्रम मे गडबड करने का मुझे क्या अधिकार है ? अतएव मैने निश्चित किया कि मुझे अपना मन इस प्रकार स्थिर रखना चाहिए जिससे किसी को ज़रा भी सन्देह न हो।"

कैसा आत्म-सयम है ? और फिर यह घटना लगभग २६ वर्ष की पुरानी है। तब से तो वह इस पथ पर बहुत आगे बढे गये है। दिन-दिन स्थितप्रज्ञ की अवस्था के निकट पहुँचते जा रहे है।

× × ×

गाँधीजी जहाँ कर्तव्य मे अत्यन्त निष्ठुर है वहा अपने सहकारियो के प्रति उनका स्नेह भी अद्भुत ही होता है। उनके आश्रमवासियो को उनके वात्सल्य का अनुभव तो सदा ही होता रहा है उनकी उपस्थिति से रोगी को ऐसा मालूम होता है मानो माँ की गोद मे बैठे है। उनमे स्त्रियोचित गुणो की प्रधानता है इसीलिए हिन्दू नारी की नाईं जहाँ उनमे असीम त्याग, कष्ट-सहन और कर्तव्य-पालन का उदाहरण मिलता है वहाँ उसके स्नेह से भी उनका हृदय भरा है। एक आश्रमवासी ने १९२२ की एक घटना का ज़िक्र किया है जिससे उनके अद्भुत वात्सल्य का परिचय मिलता है—

अद्भुत वात्सल्य

"बापूजी के गिरफ्तार होने के कोई चार मास पहले एक आश्रवासी को खेत मे झोपडी बनाकर एकान्तवास करने की इच्छा हुई। बापूजी ने उसे समझाया कि ऐसा न करो, पर उसने न माना। अन्त को उन्होंने इजाजत दे दी। पर शर्त रखी—मै जब चाहूँ तब मिल सकूँ। उस भाई को एकान्त-सेवन की इच्छा इतनी तीव्र हो गई थी कि अत्यन्त सकोच के साथ उसने इसे स्वीकार किया। उसने यह भी सोचा कि यह ठहरे बहु-धधी आदमी, कौन बार-बार मिलने आवेंगे ? पर जबतक उस भाई ने उनसे मिलने की छुट्टी रखी तबतक कभी ऐसा नही हुआ कि बापूजी आश्रम मे रहे हो और उससे मिलने न गये हो। चाहे अपना मौन दिन हो, उपवास-दिवस हो, कितने ही लोग दूर से आकर बैठे हो, सब बातो को एक ओर रखकर लकडी के सहारे अपने इस पुत्र से मिलने के लिए चल देते। एक बार अनेक कार्यों मे लगे रहने के कारण ११-१२ बजे तक वह न जा पाये। न तो स्नान ही कर पाये और न भोजन ही फिर भी पहले वहाँ जाकर अपने उस पुत्र से मिले और आकर बाद मे भोजन किया। जब मिलकर आते तब उन्हे ऐसा आनन्द मालूम होता

मानो कोई महान् कार्य सफल हुआ हो । प्रार्थना के स्थान पर इस भाई के विषय मे सब आश्रमवासियो को समाचार सुनाते । "उसे नीद अच्छी तरह पडी थी, उसका चित्त शान्त था ।" ऐसी-ऐसी बाते कहकर एक पुत्र—दीवानी माता के वात्सल्य का परिचय देते । यात्रा से लौटते ही पहले उसके समाचार पूछते । जेल मे जो लोग उनसे मिलने के लिए जाते थे उनसे उसकी ख़बर सबसे पहले पूछना वह नही भूलते । महासभा की धूम-धाम के समय आप 'खादी नगर' मे रहते थे और उस भाई की इच्छानुसार मिलना बद रखा था । तो भी वह उसके हाल-चाल पूछना भूलते न थे । बारडोली मे सविनय-भग की शुरूआत करने के लिए गये थे, अनेक महत्वपूर्ण कार्यो मे जी लगा हुआ था, महासभा-समिति की बैठक की गडबडी थी । उन्हे ख़बर लगी कि उस आश्रम-वासी की भाभी कही नजदीक ही है । बस तुरन्त उनके देवर की ख़बर देने को उत्सुक हो गये । मानो सारा रचनात्मक कार्यक्रम उस भाई के आरोग्य और मानसिक शान्ति पर ही अवलम्बित हो, इस तरह सब बातो को अलग रखकर उसकी भाभी को बुलाया और समाचार सुनाने लगे ।"[1]

प्रलोभन-'प्रूफ'

जब गॉधी-इर्विन समझौते की बाते चल रही थी और गॉधीजी तथा अन्य नेता दिल्ली मे डा० असारी के यहॉ ठहरे हुए थे तब एक दिन एक अमेरिकन पत्रकार ने गाधीजी से पूछा—"क्या आप निकट भविष्य मे अमेरिका जायँगे ?"

गाधीजी ने कहा—"तबतक नही जबतक इससे मेरे देश का कोई विशेष हित न हो ।"

पत्रकार फिर अपने अमेरिकनशाही ढग पर बोला—"यदि दस लाख डालर (लगभग तीस लाख रुपये) की सहायता मिले तो भी नही ?"

१. 'हिन्दी नवजीवन' (जयन्ति-अंक) से ।

गाधीजी ने विना उत्तेजना के शाति-पूर्वक उत्तर दिया—"नही।"

यह सुनकर उस अमेरिकन की आँखें कपार पर चढ गई। वेचारे को क्या मालूम था कि जिस दुवले-पतले व्यक्ति से वह वात कर रहा है उसके लिए, उसकी आध्यात्मिक साधना के सामने, तीस लाख रुपये क्या समस्त पृथ्वी का वैभव तुच्छ है।

ये तो थोडे से प्रसग है; वैसे उनके जीवन का प्रत्येक दिवस स्मरणीय प्रसगो से भरा हुआ है। इन प्रसगो मे उनका रूप रह-रहकर हमारे सामने प्रकाशित हो उठता है।

जीवन-तालिका

१८६९	२ अक्तूबर	गाधीजी का जन्म(पोरवन्दर)मे। प्रारभिक शिक्षा घरपर तथा एक मामूली पाठशाला मे हुई।
१८७६	·	पिता एव परिवार के साथ राजकोट आये। वहॉ एक वर्नाक्यूलर स्कूल मे भरती।
१८७९	··	काठियावाड हाईस्कूल मे प्रवेश।
१८८३	··	विवाह।
१८८५		पिता का शरीरान्त।
१८८६	·	मैट्रिक परीक्षा मे पास हुए।
१८८७		भावनगर के श्यामलदास कालेज मे प्रवेश।
१८८८	४ सितम्बर	बैरिस्टरी की शिक्षा के लिए इग्लैण्ड-यात्रा।
१८९१	१० जून	बैरिस्टरी की परीक्षा पास की।
	१२ जून	बैरिस्टर होकर भारत लौटे।
१८९३	अप्रैल	दक्षिण अफ्रिका की यात्रा।
१८९४	मई	'नेटाल इडियन कॉग्रेस' की स्थापना।
१८९६	···	भारत लौटे।
	·	फिर दक्षिण-अफ्रिका की यात्रा।
१८९७-९९	··	अग्रेज-बोअर युद्ध, उसमे सेवा-शुश्रूषा।
१९०१	···	भारत-आगमन।
१९०२	·	दक्षिण-अफ्रिका को रवाना हुए।
	··	श्री चेम्बरलेन को अर्जी (मेमोरियल) दी।

१९०३	.	'ट्रासवाल ब्रिटिश इण्डियन असोसिएशन' स्था पित किया।
	...	'इण्डियन ओपीनियन' निकाला।
१९०४	...	जोहान्सवर्ग मे प्लेग फैला, उसमे वडी सेवा की
१९०५	२२ नवम्बर	लार्ड सेलवर्न के पास डेपुटेशन ले गये।
१९०६	...	नेटाल मे 'जुलू'–विद्रोह के समय घायलो क ढोने और शुश्रूपा का काम किया।
१९०७	१ अगस्त	'एण्टी एशियाटिक ला' के विरुद्ध निष्क्रिय प्रति रोध' आन्दोलन करने की प्रतिज्ञा ली।
१९०७	२६ दिसम्बर	प्रवास कानून (एमीग्रेशन ऐक्ट) पर सम्रा की स्वीकृति।
	..	जोहान्सवर्ग मे एमीग्रेशन कानून के विरुद्ध स की और भाषण दिया। गिरफ्तारी।
१९०८	फरवरी	जेल मे जेनरल स्मट्स से समझौता। रिहाई, स्वेच्छा-पूर्वक परवाने लेने का समर्थन। पठाना द्वारा पीटे गये।
	...	लन्दन गये।
१९१२	...	गोखले को दक्षिण-अफ्रीका वुलाया।
१९१३	सितम्बर	३ पौड का टैक्स, सत्याग्रह-आन्दोलन का पुनरारभ।
	. .	स्मट्स-गाधी समझौता।
१९१४	जनवरी	दक्षिण-अफ्रीका की सरकार से सन्धि।
	३० जून	सत्याग्रह का अन्त।
	जुलाई	'इण्डियन रिलीफ ऐक्ट' पास हुआ।

वर्ष	तिथि	घटना
	६ अगस्त	गोखले से मिलने लन्दन पहुँचे। वहाँ महायुद्ध मे ब्रिटेन की सहायतार्थ 'भारतीय स्वयसेवक दल' का सगठन किया।
१९१५	जनवरी	भारत लौटे। सरकार ने 'कैसरे हिन्द' पदक प्रदान किया।
	२५ मई	अहमदाबाद (कोचरब) मे सत्याग्रह-आश्रम स्थापित किया।
१९१६	४ फरवरी	हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के समय व्याख्यान। उसमे उपस्थित राजाओ को उनकी वेश-भूषा और विलासिता के लिए फटकारा।
१९१७	अप्रैल	चम्पारन मे गिरफ्तारी।
	..	कॉंग्रेस-लीग योजना का समर्थन।
	१७ सितम्बर	'बम्बे को-आपरेटिव कान्फ्रेन्स' की अध्यक्षता।
	३ नवम्बर	गुजरात राजनीतिक सम्मेलन की अध्यक्षता।
१९१८	.	अहमदाबाद मिल मजूरो की हडताल, उस सम्बन्ध मे उपवास और उसका सफल अन्त।
	अप्रैल	दिल्ली युद्ध-सम्मेलन मे उपस्थिति।
१९१९	फरवरी	रोलट ऐक्ट जारी हुआ।
	२८ फरवरी	रोलट ऐक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह की प्रतिज्ञा।
	१० अप्रैल	दिल्ली जाते हुए गिरफ्तारी। बम्बई ले जाकर छोड दिये गये।
	१८ अप्रैल	सत्याग्रह स्थगित कर दिया। उपवास।
१९१८-१९	..	खिलाफत और पजाब के अन्यायो के विरुद्ध आन्दोलन।
१९१९	नवम्बर	रावर्टमन कमीशन (दक्षिण-अफ्रीका)।

१९२० १४ जून लार्ड चेम्सफर्ड (वायसराय) को पत्र लिखा
१ अगस्त 'कैसरे हिन्द' मेडल लौटा दिया। असहयोग का आरम्भ।
सितम्बर कलकत्ता मे कॉग्रेस का विशेष अधिवेशन।
दिसम्बर नागपुर कॉग्रेस। असहयोग का कार्यक्रम पास हुआ।

१९२१ फरवरी ड्यूक ऑव् कनाट के नाम खुली चिट्ठी।
मई नये वायसराय लार्ड रीडिग से मुलाकात।
सितम्बर अली-बन्धुओ की गिरफ्तारी।
नवम्बर 'प्रिंस ऑव् वेल्स' का बम्बई मे आगमन।
दिसम्बर लार्ड रीडिग से मालवीय-डेपूटेशन मिला।

१९२२ १४ जनवरी बम्बई मे नेताओ का सम्मेलन।
जनवरी लार्ड रीडिंग को चुनौती (अल्टिमेटम)।
१४ फरवरी चौरीचौरा-काण्ड।
१० मार्च अहमदाबाद मे (गाधीजी की) गिरफ्तारी।
१८ मार्च ६ वर्ष की सजा।

१९२४ फरवरी जेल मे मुक्ति।
१७ सितम्बर दिल्ली मे २१ दिन का उपवास। दिल्ली सम्मेलन
दिसम्बर बेलगॉव-कॉग्रेस की अध्यक्षता।

१९२७ दिसम्बर मद्रास कॉग्रेस ने पूर्ण स्वतत्रता को लक्ष्य बनाया

१९२८ दिसम्बर कलकत्ता कॉग्रेस मे सरकार को राष्ट्रीय मा[illegible] स्वीकार करने के लिए एक वर्ष का समय दि[illegible] गया।

१९२९

मार्च	कलकत्ता मे कपडो की होली। उस सम्बन्ध मे गाधीजी पर जुर्माना।
मई	ब्रिटेन मे पार्लमेण्ट का चुनाव। मजूर दल की विजय।
३१ अक्तूबर	वायसराय की घोषणा।
”	नेताओ की घोषणा।
२३ दिसम्बर	वायसराय से मुलाकात।
३१ दिसम्बर	लाहौर कॉंग्रेस ने पूर्ण स्वतत्रता का प्रस्ताव पास किया।

१९३०

२६ जनवरी	सारे देश मे स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया।
१५ फरवरी	भारतीय कॉंग्रेस कमिटी ने गाधीजी को डिक्टेटर नियत किया और सत्याग्रह-आन्दोलन के सम्बन्ध मे उन्हे सर्वाधिकार दिये।
४ मार्च	लार्ड इरविन के नाम पत्र।
१२ मार्च	दॉंडी-यात्रा।
६ अप्रैल	दॉंडी मे नमक-कानून भग किया।
१७ अप्रैल	वायसराय ने प्रेस आर्डिनेन्स जारी किया।
२५ अप्रैल	श्री विट्ठलभाई पटेल ने असेम्बली की अध्यक्षता से इस्तीफा दिया।
५ मई	गाधीजी की गिरफ्तारी। ८२७ के रेगूलेशन २५ के अनुसार यरवदा जेल मे नजरबन्द।
१६ मई	कॉंग्रेस कार्य-कारिणी की बैठक।
२० मई	यरवदा जेल मे श्री स्लोकाम्ब की गॉंधीजी से मुलाकात।
२१ मई	धरासणा पर धावा।

२३ मई	श्रीमती सरोजिनी नायडू की गिरफ्तारी और सज़ा।
२४ मई	वडाला की नमक की क्यारियों पर सार्वजनिक धावा।
२७ मई	मालवीयजी की गिरफ्तारी और रिहाई।
१० जून	साइमन-कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई।
२० जून	स्लोकाम्ब की मोतीलालजी से मुलाकात।
३० जून	मोतीलालजी की गिरफ्तारी और सजा।
४ जुलाई	मालवीयजी भारतीय कांग्रेस-कमेटी के सदस्य नामज़द हुए
२० जुलाई	जयकर-सप्रू और वायसराय मे समझौते की बातचीत का आरभ।
२३ जुलाई	जयकर-सप्रू जेल मे गाधीजी से मिले।
३१ जुलाई	वायसराय ने मोतीलालजी एवं जवाहरलालजी को जेल में गाधीजी से मिलकर सुलह के बारे मे सलाह-मशविरा करने की आज्ञा दी।
३ अगस्त	बम्बई मे वल्लभभाई और मालवीयजी की गिरफ्तारी।
७ अगस्त	मौ० अबुलकलाम आजाद स्थानापन्न कॉग्रेस-अध्यक्ष हुए।
९ अगस्त	मालवीयजी की रिहाई।
१३ अगस्त	यरवदा मे जयकर-सप्रू की उपस्थिति मे नेहरू-द्वय की गाधीजी और सरोजिनी देवी से मुलाकात।
२१ अगस्त	मौलाना आज़ाद की गिरफ्तारी और सजा।
२६ अगस्त	कॉग्रेस कार्य-कारिणी गैर-कानूनी घोषित की गई।
१९३०	
२७ अगस्त	गाधीजी के प्रस्तावों को लेकर जयकर-सप्रू वायसराय (लार्ड इर्विन) से मिले।
२८ अगस्त	काग्रेस कार्य-कारिणी की बैठक। मालवीयजी, विट्ठल भाई और डा० अन्सारी की गिरफ्तारी।

५ सितम्बर समझौते की बातचीत भग। पत्र-व्यवहार प्रकाशित।

१९३१

२५ जनवरी वायसराय की घोषणा।

२६ जनवरी घोषणा के अनुसार कार्य-कारिणी के सदस्य जेलो से छोड दिये गये। कॉंग्रेस सस्थाओ को गैर-कानूनी करार देने की आज्ञा हटाली गई।

१६ फरवरी से ४ मार्च तक गाधीजी और वायसराय के बीच समझौते की बाते।

५ मार्च भारत-सरकार और कॉंग्रेस के बीच समझौता। सत्याग्रह आन्दोलन बन्द। आर्डिनेन्स उठा लिये गये और कैदी छोड दिये गये।

२८ मार्च करॉंची मे काग्रेस का अधिवेशन।

२९ अगस्त गोलमेज-सम्मेलन मे शामिल होने के लिए गाधीजी की इग्लैण्ड-यात्रा।

१२ सितम्बर लँदन पहुँचे।

५ दिसम्बर लदन से फ्रास के लिए प्रस्थान।

६ दिसम्बर रोम्यॉरोलॉं से मुलाकात।

६ से ११ तक रोम्यॉरोलॉं के साथ रहे।

१३ दिसम्बर मुसोलिनी से मुलाकात।

१४ दिसम्बर ब्रिडसी से बम्बई के लिए प्रस्थान।

२८ दिसम्बर बम्बई पहुँचे।

१९३२

२८ दिसम्बर वायसराय लार्ड वेलिंगटन से तार-द्वारा पत्र-व्यवहार।

१९३१ से ४ ज १९३२ तक वायसराय का रूखा व्यवहार। कॉंग्रेस कार्य-कारिणी की बैठक। सत्याग्रह का आरम्भ।

११ मार्च	सर सैमुएल होर को, आवश्यकता होने पर आमरण उपवास-द्वारा अछूतो का जातिगत प्रतिनिधित्व मिटाने के सम्बन्ध मे पत्र लिखा ।
अगस्त	प्रधान मन्त्री-द्वारा जातिगत प्रतिनिधित्व-सम्बन्धी निर्णय की घोपणा ।
१८ अगस्त	प्रधान मन्त्री को उपवास की सूचना ।
२१ सितम्बर	आमरण उपवास का आरम्भ ।
२६ सितम्बर	पूना का समझौता और सरकार द्वारा उसकी स्वीकृति ।
अक्तूबर	भारतीय अस्पृश्यता निवारण सघ (वाद मे हरिजन सेवक सघ) का सगठन ।
१९३३	
८ मई	२१ दिन के, किसी शर्त्त पर भग न होनेवाले, उपवास का आरम्भ ।
९ मई	गाधीजी विना शर्त्त छोड दिये गये । स्थानापन्न राष्ट्रपति श्री अणे द्वारा छ सप्ताह के लिए सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित ।
१७ जून	फिर छ सप्ताह—३१ जुलाई तक के लिए आन्दोलन स्थगित ।
१२-१३ जुलाई	पूना मे नेता-सम्मेलन ।
१५ जुलाई	गाधीजी, ने मिलकर, समझौते के सम्बन्ध मे वात करने के लिए वायसराय से तार-द्वारा आज्ञा माँगी ।
१७ जुलाई	वायसराय ने मिलने से इन्कार कर दिया ।
जुलाई	स्थानापन्न राष्ट्रपति श्री अणे की घोषणा ।
२५ जुलाई	सत्याग्रह-आश्रम तोडने का निश्चय किया गया ।
३० जुलाई	गाधीजी ने १६ स्त्री एव १६ पुरुष सदस्यो-द्वारा १ अगस्त को 'रास'—यात्रा का निश्चय किया ।

१ जुलाई रात को डेढ बजे गाधीजी, कस्तूर बा तथा अन्य सत्याग्रहियो की गिरफ्तारी ।

४ अगस्त यरवदा जेल से गाधीजी छोडे गये और उनको आज्ञा दी गई कि तुरन्त पूना शहर मे चले जाओ । गाधीजी ने आज्ञा अमान्य की, गिरफ्तार हुए । एक साल की सजा । 'ए' क्लास मे रखे गये ।

६ अगस्त सरकार ने पूर्ववत् हरिजन-आन्दोलन की सुविधा न दी । इससे उन्होने आमरण उपवास शुरू किया ।

० अगस्त गाधीजी जेल से सासून अस्पताल ले जाये गये ।

१ अगस्त कस्तूर वा जेल से बिना किसी शर्त्त रिहा करदी गई और गॉधीजी की सेवा-सुश्रूषा की आज्ञा उन्हे मिली ।

३ अगस्त शाम को, ३-४५ पर, गॉधीजी बिना किसी शर्त्त छोड दिये गये ।

१ नवम्बर हरिजन-दौरे का आरभ ।

१९३४

३१ मार्च कौसिल-प्रवेश का निश्चय ।

७ अप्रैल सत्याग्रह स्थगित ।

१७ सितम्बर काग्रेस से अलग होने के सम्बन्ध मे लम्बे वक्तव्य का प्रकाशन ।

२६-२७-२८ अक्तूबर बम्बई कॉग्रेस । अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ की स्थापना ।

१९३५

२०-२४ अप्रैल हिन्दी साहित्य-सम्मेलन इन्दौर का सभापतित्व ।

२२ मई कमला नेहरू से मिलने बम्बई प्रस्थान ।

१९३६

दिल्ली मे विश्राम। लखनऊ कांग्रेस में खादी प्रदर्शनी उद्घाटन। सेगांव मे रहने का निश्चय।

१९३७

फैजपुर कॉंग्रेस प्रदर्शिनी का उद्घाटन। (मार्च) पद ग्रहण की स्वीकृति। त्रावणकोर यात्रा, वायसराय से मुलाकात। कलकत्ता मे बगाल सरकार के साथ राजवन्दियो की रिहाई के बारे मे बातचीत। गवर्नर से मुलाकात (नवम्बर) लौटने पर बीमार। (दिसम्बर) स्वास्थ्य सुधार के लिए जुहू-निवास।

१९३८

जुहू से सेगॉव वापिस (८ जनवरी)। हरिपुरा कॉंग्रेस प्रदर्शिनी का उद्घाटन (फरवरी)। युक्तप्रान्त—बिहार मे वैधानिक सकट। सरकार को चेतावनी। बगाल के राजवन्दियो की रिहाई के लिए बगाल सरकार से बातचीत। वायसराय से मुलाकात। जिन्ना से भेट। सीमान्त की यात्रा। खरे-प्रकरण (जुलाई)। अनिश्चित काल के लिए मौन। दिल्ली मे कार्यसमिति की बैठक। सीमान्त यात्रा।

१९३९

बारडोली-निवास। राजकोट-प्रकरण और उस सम्बन्ध में प्रायोपवेशन। वायसराय का आश्वासन। अनशन-भग। दिल्ली-आगमन। वायसराय से अनेक बार मुलाकात। देशी राज्यो के प्रश्न पर बातचीत। भारत के चीफ जस्टिस सर मारिस गेयर द्वारा गाधीजी के अनुकूल राजकोट का निर्णय। राजकोट-प्रस्थान।

सस्ता साहित्य मण्डल

'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

—दिव्य जीवन ।=)
—जीवन-साहित्य १।)
—तामिल वेद ।।।)
—व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
—सामाजिक कुरीतियाँ (जब्त) ।।।)
—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग) ३)
—अनोखा (अप्राप्य) १।=)
—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।=)
—यूरोप का इतिहास २)
—समाज-विज्ञान १।।)
—खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र (अप्राप्य) ।।।≡)
२—गोरो का-प्रभुत्व ।।।)
३—(अप्राप्य)
४— दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह १।)
५—चीन की आवाज़(अप्राप्य)।-)
६—अनीति की राह पर ।।=)
७—सीता की अग्नि-परीक्षा ।-)
८—कन्या शिक्षा ।)
९—कर्मयोग ।=)
०—कलवार की करतूत =)
१—व्यावहारिक सभ्यता ।।)
२—अंधेरे मे उजाला ।।)
२३—स्वामीजी का लिदान (अप्राप्य) ।-)
२४—हमारे जमाने की गुलामी (जब्त) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरो की सफाई ।=)
२७—क्या करे ? १।।)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ।।-)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ।।।-
३१—जब अंग्रेज नही आये थे ।)
३२—गंगा गोविंदसिंह(अप्राप्य)।।=)
३३—श्रीराम चरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिंदी मराठी कोष(अप्राप्य)२)
३६—स्वाधीनता का सिद्धान्त (अप्राप्य) ।।)
३७—महान् मातृत्व की ओर ।।।=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरंगित हृदय ।।)
४०—नरमेध १।।)
४१—दुखी दुनिया ।=)
४२—ज़िन्दा लाश ।।)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) १।।)

भावी योजनायें

लोक साहित्य माला

हम 'लोक साहित्य माला' नाम की एक पुस्तक माला प्रकाशित कर हे है। इस माला मे डबल क्राउन सोलह पेजी आकार की दो-ढाई सौ पृष्ठो की लगभग दो सौ पुस्तके देने का हमारा विचार है। पुस्तके साधारणत जन-साधारण की समझ मे आने लायक सरल भाषा मे, अपने विषयो के सुयोग्य विद्वानो और नामी-नामी लेखको-द्वारा लिखाई जायँगी। पुस्तको के विषयो मे जनसाधारण से सम्बन्ध रखनेवाले तमाम विषयो—जैसे ग्राम उद्योग, ग्राम-सगठन, पशु-पालन, सफाई, सामाजिक बुराइयाँ, विज्ञान, साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनैतिक, सामान्य जानकारी देशभक्ती की कहानियाँ महाभारत-रामायण की कहानियाँ, चरित्रबल बढानेवाली कहानियाँ खेती, बागवानी, आदि का समावेश होगा। सक्षेप मे हमारा इरादा यह है कि हम लगभग दो सौ पुस्तको की एक ऐसी छोटी-सी ऐसी लाइब्रेरी बना दे, जो साधारण पढे लिखे लोगो के अन्दर आजकल के सारे विषयो को तथा उनको ऊँचा उठानेवाले युग परिवर्तनकारी विचारो को सरल-से-सरल भाषा मे रख दे और उसके बाद उन्हे फिर किसी विषय की खोज मे—उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए—कही बाहर न जाना पड़े।

इस प्रकार लगभग दो-ढाई सौ पृष्ठो की पुस्तक माला की पुस्तको का दाम हम सस्ते-से-सस्ता यानी ।।) रखना चाहते है। कागज छपाई आदि बहुत बढिया होगी।

गांधी साहित्य-माला

'मण्डल' का यह सौभाग्य रहा है कि महात्माजी की पुस्तको
हिन्दी मे प्रकाशित करने की स्वीकृति और सुविधा महात्माजी की
से उसे मिली है। और हिन्दी मे गाधीजी की पुस्तके मण्डल ने ही
सख्या मे निकाली भी है। 'मण्डल' का सर्वप्रथम प्रकाशन महात्माजी
लिखा 'दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह', 'अनीति की राह पर',
'हमारा कलक' आदि हमने प्रकाशित किये। लेकिन फिर भी अब
हम एक बात नही कर पाये। बहुत दिनो से हमारी इच्छा थी
महात्माजी के सारे लेखो और भाषणो का विषय-वार सुसपादित सत्
निकाला जाय। अब पाठको को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस
हम इस काम को प्रधानरूप से हाथ मे ले रहे है और महात्माजी के
हुए खास-खास लेखो को १५–२० भागो मे उपरोक्त माला के रू
निकाल रहे है। **'स्वदेशी और ग्रामोद्योग' इस माला की** पहली पु
है। इस माला के प्रत्येक भाग की पृष्ठ सख्या २०० और दाम ।।) हो

नवजीवन माला

श्री महावीरप्रसाद पोद्दार सन १९३०–३१ मे कलकत्ता मे
खादी भण्डार' सचालन का काम करते थे। वहाँ से उन्होने 'नवजी
माला' नाम की एक पुस्तकमाला निकाली थी। उसका उद्देश्य, कर
हिन्दी भाषी गरीब लोगो मे महात्मा गाधी और ससार के दूसरे सत्पु
के नवजीवनदायी विचारो को सस्ते-से-सस्ते मूल्य मे फैलाना और उ
भारत की आज़ादी के महायज्ञ के लिए तैयार करना था। इस माल
कलकत्ते से लगभग ३० छोटी-छोटी पुस्तके निकली थी। उसका
प्रचार हुआ और महात्मा गाधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और

नालाल बजाज आदि ने इन पुस्तको की बहुत प्रशसा की । बाद में पोद्दारजी दूसरे कामो मे लग गये और माला का प्रकाशन बन्द गया । अब श्री पोद्दारजी ने इस माला का प्रकाशन 'सस्ता साहित्य डल' के सिपुर्द कर दिया है और यह माला, पुरानी पुस्तको के क्रम मे छ हेर-फेर के साथ, मण्डल से नियमित रूप मे प्रकाशित होती रहेगी । नकी पुरानी पुस्तके जो प्राप्य होगी वे भी मण्डल से मिल सकेगी ।

'मण्डल' से इस माला मे निम्नलिखित पुस्तके प्रकाशित होगई है । नका क्रम तथा परिचय इस प्रकार है —

१ गीताबोध	(गांधीजी)	-)॥
२. मगलप्रभात	,,	-)॥
३. अनासक्तियोग (गाधीजी) =) : श्लोकसहित ≡) सजिल्द		।)
४ सर्वोदय	(गांधीजी)	-)
५. नवयुवको से दो बाते	(क्रोपाटकिन)	-)
६. हिन्द स्वराज्य	(गांधीजी)	≡)
७. छूतछात की माया	(आनन्द कौसल्यायन)	-)
८ किसानो का सवाल	(डा० अहमद)	=)
९. ग्राम सेवा	(गांधीजी)	-)
१०. खादी-गादी की लडाई	(विनोबा)	=)

आगे होनेवाले प्रकाशन

१. जीवन शोधन—किशोरलाल मशरूवाला
२. समाजवाद : पूँजीवाद—
३. फेसिस्टवाद
४. नया शासन विधान—(फेडरेशन)
५. स्वदेशी और ग्रामोद्योग—(गांधीजी)
६. हमारी आज़ादी की लड़ाई (२ भाग)—(हरिभाऊ उपाध्याय
७. सरल विज्ञान—१ (चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय)
८. सुगम चिकित्सा—(चतुरसेन वैद्य)
९. गांधी साहित्य माला—(इसमे गाधीजी के चुने हुए लेखो
सग्रह होगा—इस माला मे २० पुस्तके निकलेगी। प्रत्येक
दाम ॥) होगा। पृष्ठ स० २००–२५०)
१०. टाल्स्टाय ग्रन्थावलि—(टाल्स्टाय के चुने हुए निबन्ध
लेखो और कहानियो का सग्रह। यह १५ भागो में होगा
प्रत्येक का मूल्य ॥), पृष्ठ संख्या २००–२५०)
११. बाल साहित्य माला—(बालोपयोगी पुस्तके)
१२. लोक साहित्य माला—(इसमे भिन्न-भिन्न विषयो पर २
पुस्तके निकलेगी। मल्य प्रत्येक का ॥) होगा और पृष्ठ स
२००–२५० होगी। इमकी ५ पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं।)
१३. नवराष्ट्र माला—इसमे ससार के प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र
निर्माताओ और राष्ट्रो का परिचय है। इस माला की पुस्तकें
२००-२५० पृष्ठो की और सचित्र होगी। मूल्य ॥)
१४. नवजीवनमाला— छोटी-छोटी नवजीवनदायी पुस्तके।

छात्रहितकारी पुस्तकमाला सं०—२८

पुण्य स्मृतियाँ

(देशी तथा विदेशी महात्माओं के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ)

लेखक

महात्मा गाँधी

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग।

प्रथम संस्करण १५००] [illegible] [illegible]

प्रकाशक—

बाबू केदारनाथ गुप्त, एम० ए०

प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग।

मुद्रक—

श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा,

नागरी प्रेस, दारागंज,

प्रयाग।

विषय सूची

पृ० सं०

पुण्य स्मृतियाँ

भगवान बुद्ध

आपको शायद पता नहीं है कि मेरे बड़े लड़के ने मुझपर बौद्ध होने का इल्जाम लगाया था और मेरे कुछ हिन्दू देशवासी भी यह कहने मे नहीं हिचकते कि मै सनातन हिन्दू धर्म के भेस मे बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहा हूँ। मेरे लड़के के अभियोग से और हिन्दू मित्रों के इल्जाम से मेरी सहानुभूति है और कभी कभी मैं बुद्ध का अनुयायी होने के इल्जाम में ही, गर्व का अनुभव करता हूँ और इस सभा में मुझे आज यह कहने में जरा भी हिचक नही है कि मैंने बुद्ध भगवान के जीवन से बहुत कुछ पाया है। कलकत्ते के नये बौद्ध मन्दिर मे किसी वार्षिकोत्सव पर मैंने यही ख्याल ज़ाहिर किये थे। उस सभा के नेता थे अनागरिक धर्मपाल। वे इस बात पर रो रहे थे कि उनके प्रिय कार्य की ओर लोग मुतवज्जह नहीं होते और इस रोने के लिए मैंने उन्हें बुरा भला कहा था। मैंने श्रोताओं से कहा कि बौद्ध धर्म के नामवाली चीज़ भले ही हिन्दुस्तान से दूर हो गई होवे, मगर बुद्ध भगवान्

का जीवन और उनकी शिक्षाएँ तो हिन्दुस्तान से दूर नहीं हुई है। यह बात तीन साल पहले की है और अब भी मैं उसमें कोई फेर बदल करने की वजह नहीं देखता। मेरी यह सम्मति गहरे विचार के बाद हुई है कि बुद्ध के शिक्षाओं का प्रधान अंग हिन्दू धर्म के आज अटूट अंग हो रहे हैं। आज हिन्दू संसार के लिए गौतम किये सुधारों के पीछे पग हटाना असंभव है। अपने महान त्या वैराग्य और निर्मल पवित्रता से गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म पर अ छाप डाली है और हिन्दू धर्म उस महान शिक्षक से कभी उऋ नहीं हो सकता और अगर आप मुझे क्षमा करें और कहने दे तो मैं कहूँगा कि हिन्दू धर्म ने आज के बौद्ध धर्म का जो अ नहीं लिया है, वह बुद्ध के जीवन और शिक्षाओं का मुख्य अ ही नहीं था।

हिन्दू और बौद्ध धर्म

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि बौद्ध धर्म या बल्कि बुद्ध शिक्षाओं को हिन्दुस्तान मे ही पूरी सफलता मिली, और दूस कुछ हो भी नहीं सकता था क्योंकि गौतम भी तो स्वयं सच्चे सच्चे हिन्दुओं में से ही एक थे। उनकी नस नस मे हिन्दू ध की खूबियाँ भरी पड़ी थीं। उस समय वेदों की बेकार बातों नीचे गड़ी हुई कुछ खास शिक्षाओं मे उन्होंने जान डाल दी उनकी हिन्दू भावना ने बेमानी मतलब के शब्दों के जंगल दबे हुए वेदों के अनमोल सत्यों को जाहिर किया। उन्होंने वे के कुछ शब्दों से ऐसे अर्थ निकाले जिनसे उस युग के लोग वि

महात्मा बुद्ध

गोस्वामी तुलसीदास

कुल अपरिचित थे और उन्हे हिन्दुस्तान में सबसे अच्छा क्षेत्र मिला। जहाँ कहीं बुद्ध भगवान् गये उनकी चारों ओर अहिन्दू नहीं, बल्कि वेदों की भावना को अपनी नस नस में भरे हुए हिन्दू विद्वान् ही घिरे रहते थे। मगर उनके दिल के जैसा उनकी शिक्षा भी अत्यन्त विस्तृत थी और इसीलिये उनके मरने के बाद भी वह बनी रही, पृथ्वी के एक किनारे से दूसरे तक छा गयी, और बुद्ध का अनुयायी कहे जाने का खतरा होते हुए भी मैं इसे हिन्दू धर्म की ही विजय कहता हूँ। उन्होंने हिन्दू धर्म को कभी इन्कार नहीं किया, केवल उसका आधार विस्तृत कर दिया। बुद्ध भगवान् ने इसमे एक नयी जान फूँक दी, इसको एक नया ही रूप दे दिया। मगर अब आगे जो कुछ मैं कहूँगा उसके लिए आप क्षमा करेंगे। मै आपसे यही कहना चाहता हूँ कि बुद्ध की शिक्षाएँ पूरी पूरी किसी देश के जीवन मे, चाहे तिब्बत, सिलोन और बर्मा कोई देश क्यो न हो जज्ब नहीं हुई। मै अपनी मर्यादा जानता हूँ। मै बौद्ध धर्म के पांडित्य का दावा नही रखता। बौद्ध धर्म पर प्रश्नोत्तर मे शायद नालंद विद्यालय का एक छोटा लड़का भी मुझे हरा देगा। मै जानता हूँ कि यहाँ मै बहुत बड़े विद्वान् भिक्षुओं और गृहस्थों के सामने बोल रहा हूँ मगर मैं आपके सामने और अपनी अन्तरात्मा के सामने झूठा ठहरूँगा अगर मैं अपने दिल का विश्वास आपसे न कहूँ।

आस्तिकता

आप लोगों और हिन्दुस्तान के बाहर के बौद्धो ने बेशक

बुद्ध की बहुत सी शिक्षाएँ ग्रहण की हैं। मगर जब मैं आपके जीवन की जाँच करता हूँ और सिलोन, बर्मा, चीन या तिब्बत के भी मित्रों से प्रश्न पूछता हूँ तो मैं आपके जीवन मे, और बुद्ध के जीवन का जो मैं मुख्य भाग समझता हूँ उसमे अन्तर देख कर फेर में पड़ जाता हूँ। अगर मेरी बातें आपको थका न देती हों तो मैं आपके सामने तीन खास बातें रखना चाहूँगा। पहली चीज है सर्व्वान्तर्यामी सर्वशक्तिशाली नियति में विश्वास करना। मैंने यह बात अनगिनत बार सुनी है और बौद्ध धर्म के भाव को प्रकट करने का दावा करनेवाली किताबों मे पढ़ी है कि गौतम बुद्ध परमात्मा में विश्वास नहीं करते थे। मेरी नम्र सम्मति मे बुद्ध की शिक्षाओं के मुख्य बात के यह बिलकुल विरुद्ध है। मेरी नम्र सम्मति मे यह भ्रान्ति इस बात से फैली कि गौतम बुद्ध ने अपने ज़माने में ईश्वर के नाम से गिनी जानेवाली सभी मामूली चीज़ों को इन्कार किया था और यह उचित ही किया था। उन्होंने बेशक ही, इस ख़याल को इनकार किया कि ईश्वर नाम का कोई जानवर है जो द्वेष-विकार से विचलित होता हो, जो अपने कामो के लिये पछताता हो, जो दुनियावी राजों महाराजों जैसा घूस लेता हो, जो लालची हो, या जिसे कुछ खास मनुष्य ही प्रिय हों। उनकी आत्मा इस विश्वास के विरुद्ध जोरों से जाग उठी कि कोई ईश्वर नाम का जीवधारी है जो अपनी ही सृष्टि पशुओं का खून पीकर खुश होता है। इसलिये उन्होंने परमात्मा को उनके सच्चे आसन पर बिठाया

और उस आसन पर बैठे हुए लुटेरे को गिरा दिया। उन्होंने इस संसार के शाश्वत और अटल नैतिक नियमों पर ज़ोर दिया, और उसकी घोषणा फिर फिर से की। उन्होंने बिना किसी हिचक के कहा है कि नियम ही परमात्मा है।

बुद्ध का सबसे बड़ा काम

तीसरी बात यह नीचा ख़याल है कि नीची श्रेणी के जीवधारियों के जीवन का महत्व हिन्दुस्तान के बाहर ही समझा गया है। परमात्मा को उनके शाश्वत आसन पर पहुँचाने में बुद्ध की जो बड़ी भारी सेवा थी,—उससे भी उनकी बड़ी सेवा मैं यह मानता हूँ कि उन्होंने मनुष्यों के ही बराबर दूसरे प्राणियों के भी जीवन। का आदर करना सिखलाया, चाहे वे कितने ही छोटे क्यों न हों मैं जानता हूँ कि उनका अपना भारतवर्ष उस हद तक ऊँचे नहीं चढ़ा, जो देखकर उन्हें खुशी होती, मगर जब उनकी शिक्षाएँ दूसरे देशों में बौद्ध धर्म के नाम से पहुँचीं, तब उनका यह अर्थ लगने लगा कि पशुओं के जीवन की वही कीमत नहीं है जो मनुष्यों के जीवन की है। मुझे सिलोन के बौद्ध धर्म के रिवाजों का ठीक पता नहीं है मगर मैं जानता हूँ कि चीन और बर्मा में उसने कौनसा रूप धारण किया है। खासकर बर्मा में कोई बौद्ध एक भी जानवर नहीं मारेगा, मगर, दूसरे लोग उसे मार और पकाकर लावें तो उसे खाने मे कोई झिझक नहीं होगी। संसार मे अगर किसी शिक्षक ने यह सिखलाया है कि हर एक कार्य का फल अनिवार्य रूप से मिलता है तो गौतम बुद्ध ने ही,

मगर तौ भी, आज हिन्दुस्तान के बाहर के बौद्ध अपने कामों के फलों से बचने की कोशिश करते हैं। मगर मुझे आपका धैर्य न नहीं करना चाहिये। मैंने कुछ बातों का थोड़ा ज़िक्र भर किया है जिन्हे आपके सामने लाना मैं अपना कर्त्तव्य समझता था और मै बड़ी नम्रता के साथ आपसे आग्रहपूर्वक उनपर ध्यान विचार करने की प्रार्थना करता हूँ।

निर्वाण क्या ?

परमात्मा के नियम शाश्वत और अटल हैं। वे परमात्मा अलग नहीं किये जा सकते। उनकी सम्पूर्णता की यह शर्त अनि वार्य है। इसलिए यह भ्रान्ति फैली कि गौतम-बुद्ध का परमात्मा मे विश्वास नहीं था और वे सिर्फ नैतिक नियमों में ही विश्वास करते थे और ईश्वर के बारे मे यह भ्रान्ति फैलने से ही, 'निर्वाण' के बारे में भी मति भ्रम हुआ है। निर्वाण का अर्थ 'सम्पूर्ण रूप से अनस्तित्व' तो बेशक नहीं है। 'बुद्ध' के जीवन की एक मुख्य बात जो मैं समझ सका हूँ, वह यह है कि निर्वाण का अर्थ है, हमसे सभी बुराइयों का बिलकुल नष्ट हो जाना, सभी विकारों का नेस्तनाबूद हो जाना, जो कुछ कि भ्रष्ट है या भ्रष्ट हो सकता है उसकी हस्ती मिट जानी। निर्वाण कब्र की मृत शान्ति नहीं है बल्कि वह तो है उस आत्मा की जीवन शान्ति, जीवन सुख जिसने अपने आपको पहचान लिया हो, अनन्त के भीतर अपना निवास ढूँढ़ निकाला हो।*

---

* लंका में बौद्धों द्वारा दिये मान-पत्र के उत्तर मे दिया हुआ गांधी जी का भाषण।

सुक़रात

उच्चकोटि का नीतिज्ञ और वीर महापुरुष सुकरात ईस्वी सन् से ४७१ वर्ष पूर्व युनान देश में उत्पन्न हुआ था। उसका जीवन, नीति और परोपकार के कामों के करने में ही बीता था। उसके गुणों को कुछ अकारणद्वेषी मनुष्य नहीं देख सके— इसलिए उन्होंने उस पर अनेक झूँठे अपराध लगाने शुरू किये। सुकरात ईश्वर से खूब डरकर चलनेवाला था। इसीलिए उसे उन मनुष्यों की टीका-टिप्पणी की विशेष परवाह नहीं थी। उसे मौत का बिल्कुल डर नहीं था। वह स्वयं सुधारक था, और यूनान की राजधानी एथेन्स के लोगों में जो बुराइयाँ थीं, उनको भी निकालने के लिये वह प्रयत्न करता था। इस काम में उसे बहुत आदमियो से वादविवाद करने का काम पड़ता था। नवयुवकों के मन पर उसकी बातों का बहुत असर होता था। इसलिए वे टोलियाँ बाँधकर उसके पीछे-पीछे फिरा करते थे। इसमे कुछ लुटेरों को लूट करने मे और उन मनुष्यों की, जिनका धंधा औरों का काम बिगाड़ना ही था, कमाई में बहुत हानि पहुँचने लगी।

एथेन्स मे ऐसा कायदा था कि, जो लोग वहाँ के निश्चित किये हुए धर्म्म के अनुसार नहीं चलते थे और दूसरों को उस धर्म्म के विरुद्ध आचरण करना सिखाते थे, वे अपराधी गिने जाते थे। अपराधी साबित हो जाने पर उनको मौत की सजा दी जाती थी। सुकरात यद्यपि स्वयं राजधर्म्म के अनुसार

चलता था, तथापि उसमें जो पाखण्ड घुस गया था, उसको नष्ट करने को शिक्षा वह निर्भय होकर देता था, और स्वयं भी उस पाखण्ड से अलग रहता था।

एथेन्स के कायदे के अनुसार उस प्रकार के अपराधियों की जाँच पंचों के सामने होती थी। सुकरात के ऊपर राज्य-धर्म को तोड़ने और दूसरों से उसे तुड़वाने का अपराध लगाया गया था। उसकी भी जाँच पंचों के सामने हुई थी। पंचों में से बहुतों को सुकरात के उपदेशों से नुकसान पहुँचा था, इसलिये वे पहले से ही उस पर जले हुए थे। उन्होंने अन्याय-पूर्वक सुकरात को अपराधी ठहराया और उसे जहर पीकर मरने की सजा दी। उस समय किसी को जब मौत की सजा दी जाती थी, तब उसके शरीर के नाश के लिये वे लोग ऐसे ही उपायों को काम में लाते थे।

वह वीर पुरुष अपने हाथ से जहर पीकर मरा था। जिस दिन उसके जहर पीने के लिये निश्चित किया गया था, उस दिन उसने शरीर की नश्वरता और जीव की अमरता पर अपने मित्रों और शिष्यों के सामने एक व्याख्यान दिया था। कहा जाता है कि, जहर पीते समय भी सॉक्रेटीज बिल्कुल निर्भय और खुश था। उसे जो व्याख्यान देना था, उसके अन्तिम वाक्य को पूरा करके उसने हँसते हुए शर्बत के प्याले की तरह, उस जहर के प्याले को पी लिया था।

आज दुनिया सुकरात को याद करती है। उसके उपदेशों

से लाखों आदमी लाभ उठाते हैं। उसपर अपराध लगानेवालों और उसे सजा देनेवालों की आज सारा संसार बुराई करता है। परन्तु सुकरात सदा के लिये अमर हो चुका है। उसके जैसे महात्मा के नाम से युनान देश का सिर आज भी ऊँचा है।

सुकरात ने अपनी सफाई में जो भाषण दिया था, उसे उसके प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो ने लिपिबद्ध कर लिया था। उसका अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुका है। सफाई का वह व्याख्यान बहुत ही रसभरा और नीतिपूर्ण है।

समग्र भारतवर्ष में अभी हमें बहुत से ऐसे काम करने हैं, जिनसे देश की सारी आफतें दूर हो जायँ। हमें सुकरात की तरह जीना और मरना सीखना चाहिए। सुकरात एक बड़ा भारी सत्याग्रही था। उसने अपने देश की प्रजा के विरुद्ध सत्याग्रह किया, इसीसे युनानी लोग उन्नत हुए। हम कायर बनकर अपने सन्मान और अपनी जिन्दगी के भय से अपनी त्रुटियों की जाँच नहीं करते या उन्हे जानते हुए भी उनकी तरफ लोगों का ध्यान नही खीचते। जब तक हम निर्भय होकर सत्याग्रह नहीं करेंगे, तब तक सैकड़ों दिखाऊ उपाय करने पर, कांग्रेसों के भरते रहने पर, गरम दलवाले बने रहने पर और असहयोगियो मे नाम लिखा लेने पर भी हम हिन्दुस्तान का भला नहीं कर सकेंगे। इन सब कामों से उसका भला नही होगा। असली रोग को पहचान कर और उसे प्रकट करके योग्य उपायो को काम मे लाने पर ही हिन्दुस्तान के शरीर के बाहरी

और भीतरी दोनों भाग पूरे निरोग हो सकेंगे। तभी अंग्रेज या किसी और के द्वारा किये हुए ज़ुलमरूपी रोगजन्तु उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकेंगे। परन्तु यदि शरीर स्वयं ही सड़ा हुआ होगा, तो एक प्रकार के रोगजन्तु को नष्ट करने पर उसके स्थान पर दूसरी तरह का कोई रोगजन्तु घुस बैठेगा; और भारत-महा-शरीर को बरबाद कर देगा।

इन विचारों को ध्यान में लेकर सुकरात के समान महात्मा के वाक्यों को अमृत समझ कर उनकी घूँटें हमारे पाठक पीवें, और उससे अपने अन्तरात्मा के रोगों को नष्ट करके दूसरों को उनके रोग नष्ट करने में सहायता दें।

२—तुलसीदास जी

भिन्न भिन्न मित्र पूछते हैं :—

"रामायण को आप सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते हैं, परन्तु समझ में नहीं आता क्यों? देखिये तुलसीदास जी ने स्त्री-जाति की कितनी निन्दा की है। वालि-वध का कैसा समर्थन किया है। विभीषण के देश-द्रोह की किस क़दर प्रशंसा की है। सीता जी पर घोर अन्याय करनेवाले राम को अवतार बताया है। ऐसे ग्रन्थ में आप कौन सौन्दर्य देख पाते हैं? तुलसीदास जी के काव्य-चातुर्य के लिये तो, शायद, आप रामायण को सर्वोत्तम ग्रन्थ नहीं समझते होंगे? यदि ऐसा ही है तो, कहना पड़ेगा कि आपको काव्य-परीक्षा का कोई अधिकार ही नहीं।"

उपरोक्त सब सवाल एक ही मित्र के नहीं हैं, परन्तु भिन्न भिन्न मित्रों ने भिन्न समय पर जो कुछ कहा है और लिखा है, उसका यह सार है। यदि ऐसी एक टोका को लेकर देखें तो सारी की सारी रामायण दोषमय सिद्ध को जा सकती है। सन्तोष यही है कि इस तरह प्रत्येक ग्रन्थ और प्रत्येक मनुष्य दोषमय सिद्ध किया जा सकता है। एक चित्रकार ने अपने टीकाकारों को उत्तर देने के लिये अपने चित्र को प्रदर्शिनी में रखा और नींचे इस तरह लिखा 'इस चित्र मे जिसको जिस जगह दोष प्रतीत हों, वह उस जगह अपनी क़लम से चिह्न कर दे। परिणाम यह हुआ कि चित्र के अंग-प्रत्यङ्ग दोषपूर्ण बताये गये। मगर वस्तुस्थिति यह थी कि वह चित्र अत्यन्त कलायुक्त था। टीकाकारों ने तो वेद, बायवल और कुरान में भी बहुतेरे दोष बताये हैं परन्तु उन ग्रन्थों के भक्त उनमें दोषों का अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रन्थ की परीक्षा पूरे ग्रन्थ के रहस्य को देखकर ही की जानी चाहिये। यह वाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकों पर ग्रन्थ विशेष का क्या असर हुआ है यह देख कर ही ग्रन्थ की आन्तरिक परीक्षा की जाती है। और किसी भी साधन से क्यों न देखा जाय रामायण की श्रेष्टता ही सिद्ध होती है। ग्रन्थ को सर्वोत्तम कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमे एक भी दोष नही है। परन्तु रामचरितमानस के लिये यह दावा अवश्य है कि उसमें लाखों मनुष्यो को शान्ति मिली है। जो लोग ईश्वर-विमुख थे वे ईश्वर के सम्मुख गये हैं और आज भी जा

रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभव-जन्य ज्ञान का भंडार है।

यह बात ठीक है कि पापी अपने पाप का समर्थन करने के लिये रामचरितमानस का सहारा लेते हैं, इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे लोग रामचरितमानस में से अकेले पाप का ही पाठ सीखते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि तुलसीदासजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है। इसमें और ऐसी ही अन्य बातों में तुलसीदासजी अपने युग की प्रचलित मान्यताओं से परे नहीं जा सकते थे। अर्थात् तुलसीदासजी सुधारक नहीं, बल्कि भक्तशिरोमणि थे। इसमें हम तुलसीदासजी के दोषों का नहीं परन्तु उनके युग के दोषों का दर्शन अवश्य करते हैं।

ऐसी दशा मे सुधारक क्या करें? क्या उनको तुलसीदासजी से कुछ सहायता नही मिल सकती? अवश्य मिल सकती है। रामचरितमानस में स्त्री-जाति की काफी निन्दा मिलती है परन्तु उसी ग्रन्थ द्वारा सीताजी के पुनीत चरित का भी परिचय मिलता है। बिना सीता के राम कैसे? राम का यश सीताजी पर निर्भर है। सीताजी का रामजी पर नही। कौशल्या, सुमित्रा आदि भी मानस के पूजनीय पात्र हैं। शबरी और अहल्या की भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस था, मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र भण्डार में से मिल सकते हैं। मेरे विचार में इन सब दृष्टान्तो से यही सिद्ध होता है

तुलसीदास जो ज्ञान-पूर्वक स्त्री-जाति के निन्दक नहीं थे, ज्ञान-पूर्वक तो स्त्री-जाति के पुजारी ही थे। यह तो स्त्रियों की बात हुई। परन्तु बालिबधादि के बारे में भी दो मतों की गुन्जाइश है। विभीषण में तो मैं कोई दोष नहीं पाता हूँ। विभीषण ने अपने भाई के साथ सत्याग्रह किया था। विभीषण का दृष्टान्त हमें यह सिखाता है कि अपने देश या अपने शासक के दोषो के प्रति सहानुभूति रखना या उन्हे छिपाना देशभक्ति के नाम को लजाना है। इसके विपरीत देश के दोषों का विरोध करना सच्ची देशभक्ति है। विभीषण ने रामजी की सहायता करके देश का भला ही किया था। सीताजी के प्रति रामचन्द्रजी के बर्ताव में निर्दयता नही थी, उसमे राजधर्म या पतिप्रेम का द्वन्द्वयुद्ध था।

जिसके दिल में इस सम्बन्ध मे शंकायें शुद्ध भाव से उठे, उन्हे मेरी सलाह है कि मेरे तथा किसी और के अर्थ को यंत्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषय में हृदय शंकित है उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादि की विरोधिनी किसी वस्तु को स्वीकार न करें। रामचन्द्र ने छल किया था। इसलिये हम भी छल करें यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामादि कभी छल नही कर सकते हम पूर्णपुरुष का ही ध्यान करें और पूर्णग्रन्थ का ही पठन-पाठन करें। परन्तु 'सर्वारंभाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं यह समझ कर हंसवत् दोषरूपी नीर को निकाल फेंकें और गुण-रूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्ण में सम्पूर्ण की प्रतिष्ठा करना गुण-दोष

का पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगों को परिस्थिति पर निर्भर रहेगा। स्वतंत्र संपूर्णता केवल ईश्वर में ही है और वह अकथनीय है।

३—टॉलस्टॉय शताब्दि

[गत १० सितंबर सन् १९२८ को रूसी महर्षि टॉलस्टॉय की जन्म शताब्दि थी। उस अवसर पर अहमदाबाद युवक संघ के निवेदन पर गान्धी जी ने सत्याग्रहाश्रम में जो व्याख्यान दिया था उसका सारांश नीचे दिया जा रहा है। गान्धी जी से व्याख्यान देने के लिए प्रार्थना करते हुए युवक संघ के प्रमुख डॉ० हरिप्रसाद ने कहा था :—टॉलस्टॉय के भाई ने उन्हें जिस अनेक सद्‌गुणोंवाली हरी छड़ी को खोजने को कहा था उसे वे आजीवन खोजते ही रहे किन्तु प्राप्त न कर सके, अर्थात् वे जिस सिद्धि की तलाश में थे वह उन्हें न मिली।' इस छड़ी के विषय में गान्धी जी ने अपने व्याख्यान में उल्लेख किया है।]

पूर्वजों का श्राद्ध

मेरी वर्तमान मानसिक दशा ऐसी नहीं है कि मैं एक भी पर्व-पुण्यतिथि या एक भी उत्सव मनाने के योग्य रहा होऊँ। कुछ दिनों पहिले 'नवजीवन' या 'यंग इंडिया' के किसी पाठक ने मुझसे प्रश्न पूछा था :—'आप श्राद्ध के विषय में लिखें
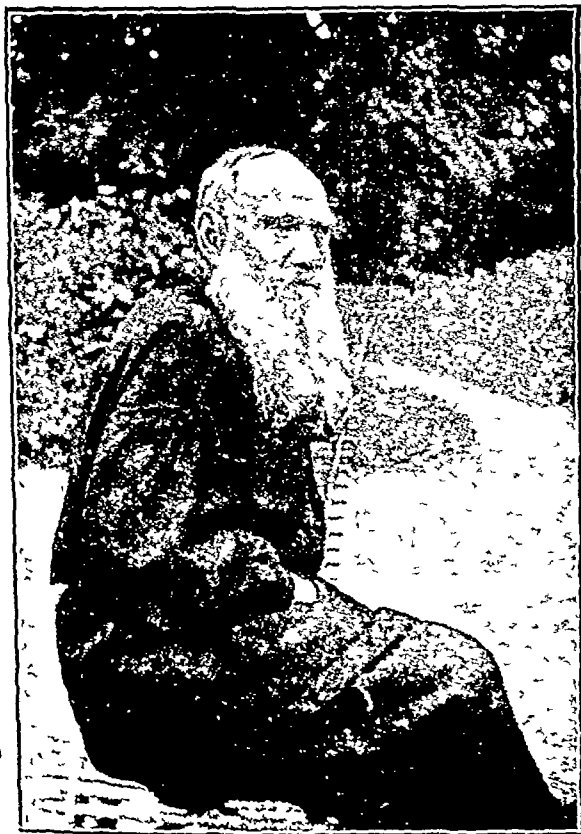
महात्मा टाल्सटाय

दादाभाई नौरोजी

हुए कह चुके हैं कि पुरखों का सच्चा श्राद्ध उनकी पुण्यतिथि के दिवस उनके गुणों का स्मरण करने से और उन्हे अपने जीवन मे श्रोतप्रोत कर लेने से हो सकता है। इसीसे मैं पूछता हूँ कि आप खुद अपने पुरखों की श्राद्धतिथि कैसे मानते हैं ?' पुरखों की श्राद्धतिथि जब मै जवान था तब, मनाया करता था। परन्तु मै अभी तुम्हें यह कहने में शर्माता नहीं हूँ कि मुझे अपने पूज्य पिता जी की श्राद्धतिथि का स्मरण तक नहीं है। कई वर्ष व्यतीत हो चुके। एक भी श्राद्धतिथि मनाने की याद मुझे नहीं है। यहाँ तक कि मेरी कठिन स्थिति या कहिये कि सुन्दर स्थिति है, अथवा जैसा कि कई एक मित्र मानते हैं मोह की स्थिति है, कि जिस कार्य को सिर पर लिया हो उसीमें चौबीसों घण्टे लगे रहना, उसे मनन करना, और जहाँ तक बन पड़े उसे सुव्यवस्थित रूप से करने में ही सब कुछ आ जाता है। उसी में पुरखों की श्राद्धतिथि का मनाना भी आ जाता है, टॉलस्टॉय जैसों के उत्सव भी आ जाते हैं। यदि डाक्टर हरिप्रसाद ने मुझे जाल में न फँसाया होता तो बिलकुल संभव था कि इस १०वीं तारीख का उत्सव मै किसी भाँति आश्रम मे न मनाया होता। संभव है कि मैं भूल ही गया होता। तीन महीने पहिले एलमर मॉड एवं टॉलस्टॉय का साहित्य इकट्ठा करने वाले दूसरे सज्जनों के पत्र आये थे कि इस शताब्दि के अवसर पर मैं भी कुछ लिख भेजूँ, और इस दिन की याद हिन्दुस्तान मे दिलाऊँ। एलमर माड के पत्र का सारांश या सारा

पत्र तुमने मेरे अखबारों मे देखा होगा। उसके बाद मैं यह बात बिलकुल भूल गया था। यह प्रसंग मेरे लिए एक शुभ अवसर है। फिर भी मैं भूल गया होता तो पश्चात्ताप नहीं करता। परन्तु युवक-संघ के सदस्यों ने यह पुण्यतिथि मनाने का यहाँ जो अवसर दिया यह मेरे लिए आदरणीय है।

मैं धर्मगुरु खोजता हूँ

'दत्तात्रेय की तरह मैने जगत् मे बहुत गुरु किये हैं।' यह कहना मुझे अच्छा लगता अगर अपने बारे मे मैं ऐसा कह सकता, किन्तु मेरे विषय में यह बात नहीं है। मैंने तो इससे उलटा ही कहा है कि मैं धर्मगुरु की खोज के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ। मेरी यह धारणा है कि धर्मगुरु प्राप्त करने के लिये बहुत बड़ी योग्यता की जरूरत है और यह धारणा दिनों दिन दृढ़ होती जाती है। जो यह योग्यता प्राप्त कर लेता है उसके समीप गुरु चल कर आते हैं। मुझमें यह योग्यता नहीं है। गोखले को मैंने अपना राजनीतिक गुरु कहा है। उन्होंने मुझे उस क्षेत्र के सम्बन्ध में पूरा संतोष दिया था। उनके कहने के विषय में या उनकी आज्ञा के विषय में मुझे कभी तर्कवितर्क नहीं होते थे। किसी धर्मगुरु के विषय में मेरी यह हालत नहीं है।

टॉलस्टॉय का प्रभाव

फिर भी मैं इतना कह सकता हूँ कि तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला है। उसमे पहला स्थान

मैं राजचन्द्र कवि को देता हूँ, दूसरा टॉलस्टॉय को, और तीसरा रस्किन को। टॉलस्टॉय और रस्किन के दरम्यान स्पर्धा खड़ी हो और दोनों के जीवन के विषय में मैं अधिक बातें जान लूँ, तो नहीं जानता कि उस हालत मे प्रथम स्थान मैं किसे दूँगा। परन्तु अभी तो दूसरा स्थान टॉलस्टॉय को देता हूँ। टॉलस्टॉय के जीवन के विषय में बहुतेरों ने जितना पढ़ा होगा उतना मैने नहीं पढ़ा है, ऐसा भी कह सकते हैं कि उनके लिखे हुए ग्रन्थों का वाचन भी मेरा बहुत कम है। उनकी पुस्तको में से जिस किताब का प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा उसका नाम है 'Kingdom of Heaven is Within You.' उसका अर्थ यह है कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है, उसे बाहर खोजने जाओगे तो वह कहीं न मिलेगा। इसे मैंने चालीस वर्ष पहले पढ़ा था। उस वक्त मेरे विचार कई एक बातो मे शंकाशील थे; कई मर्तबा मुझे नास्तिकता के विचार भी आते थे। विलायत जाने के समय तो मैं हिंसक था, हिंसा पर मेरी श्रद्धा थी और अहिंसा पर अश्रद्धा। यह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरी यह अश्रद्धा चली गयी। फिर मैंने उनके दूसरे कई एक ग्रन्थ पढ़े। उनमे से प्रत्येक का क्या प्रभाव पड़ा सो मै नहीं कह सकता, परन्तु उनके समग्र जीवन का क्या प्रभाव पडा वह तो कह सकता हूँ।

सत्य और अहिंसा की मूर्त्ति

उनके जीवन मे से मैं अपने लिए दो बातें भारी समझता

हूँ। वे जैसा कहते थे वैसा ही करने वाले पुरुष थे। उनकी सादगी अद्‌भुत थी, वाह्य सादगी तो थी ही। वे अमीर वर्ग के मनुष्य थे, इस जगत के छप्पन भोग उन्होंने भोगे थे। धन-दौलत के विषय में मनुष्य जितनी इच्छा रख सकता है उतना उन्हे मिला था। फिर भी उन्होने भरी जवानी मे अपना ध्येय बदला। दुनिया के विविध रंग देखने पर भी, उनके स्वाद चखने पर भी, जब उन्हें प्रतीत हुआ कि इसमें कुछ नहीं है तो उससे मुँह मोड़ लिया, और अन्त तक अपने विचारों पर पक्के रहे। इसीसे मैंने एक जगह लिखा है कि टॉलस्टॉय इस युग की सत्य की मूर्ति थे। उन्होंने सत्य को जैसा माना वैसा ही पालने का उग्र प्रयत्न किया; सत्य को छिपाने या कमजोर करने का प्रयत्न नहीं किया। लोगों को दुःख होगा या अच्छा लगेगा कि नहीं इसका विचार किये विना ही उन्हें जिस भांति जो वस्तु दिखाई दी उसी भॉति कह सुनाई। टॉलस्टॉय अपने युग के लिये अहिसा के बड़े भारी प्रवर्तक थे। अहिसा के विषय मे पश्चिम के लिये जितना साहित्य टॉलस्टॉय ने लिखा है—जहाँ तक मैं जानता हूँ—उतना हृदय स्पर्शी साहित्य दूसरे किसी ने नहीं लिखा है। उससे भी आगे जा कर कहता हूँ कि अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन जितना टॉलस्टॉय ने किया था और उसका पालन करने का जितना प्रयत्न टॉलस्टॉय ने किया था उतना प्रयत्न करने वाला, आज हिन्दुस्तान में कोई है ऐसे किसी आदमी को मैं नहीं जानता।

अहिंसा के मानी प्रेमसागर

मेरे लिये यह दशा दुःखदायक है, मुझे यह भाती नहीं है। हिन्दुस्तान कर्मभूमि है। हिन्दुस्तान में ऋषिमुनियों ने अहिंसा के क्षेत्र में बड़ी से बड़ी खोजें की हैं। परन्तु हम केवल बुजुर्गों की हो प्राप्त की हुई पूँजी पर नहीं निभ सकते। उसमें यदि वृद्धि न की जाय तो हम उसे खा जाते हैं। इस विषय में न्याय-मूर्ति रानडे ने हमें सावधान कर दिया है। वेदादि साहित्य में से या जैन साहित्य में से हम बड़ो बड़ी बातें चाहे जितनी करते रहें अथवा सिद्धांतो के विषय में चाहे जितने प्रमाण देते रहें और दुनिया को आश्चर्यमग्न करते रहें फिर भी दुनिया हमें सच्चा नहीं मान सकती। इसीलिए रानडे ने हमारा धर्म यह बताया है कि हम इस मूलधन मे वृद्धि करते जावें। दूसरे धर्म-विचारकों ने जो लिखा हो, उसके साथ मुकाबिला करें, ऐसा करने मे कुछ नया मिल जाय या नया प्रकाश मिलना हो तो उसका तिरस्कार न करना चाहिये। किन्तु हमने ऐसा नहीं किया। हमारे धर्माध्यक्षों ने एक पक्ष का ही विचार किया है। उनके पठन, कथन और वर्त्तन में समानता भी नहीं है। प्रजा को अच्छा लगे या नहीं, जिस समाज में वे स्वयं काम करते थे उस समाज को भला लगे या बुरा, फिर भी टॉलस्टॉय के मानिन्द खरी खरी सुना देनेवाले हमारे यहाँ नहीं मिलते। हमारे इस अहिंसा-प्रधान मुल्क की ऐसी दशा दया-जनक है!

हमारी अहिंसा की निंदा ही योग्य है। खटमल, मच्छर, बिच्छू पक्षी और पशुओं को हर किसी तरह से निभाने में ही मानों हमारी अहिंसा पूर्ण हो जाती है। वे प्राणी कष्ट में तड़पते हों, तो उसकी हम परवा नहीं करते; दुःखी होने में यदि स्वयं हिस्सा देते हों तो उसकी भी हमे चिन्ता नहीं। परन्तु दुःखी प्राणी को कोई प्राणमुक्त करे अथवा हम उसमें शरीक हों तो उसमे घोर पाप मानते हैं। ऐसा मैं लिख चुका हूँ कि यह अहिंसा नहीं है। टॉलस्टॉय का स्मरण करते हुए फिर कहता हूँ कि अहिंसा का यह अर्थ नहीं है। अहिंसा के मानी हैं प्रेम का समुद्र; अहिंसा के मानी हैं वैर भाव का सर्वथा त्याग। अहिंसा में दीनता, भीरुता न हो, डर डर के भागना भी न हो। अहिंसा मे दृढ़ता, वीरता, निश्चलता होनी चाहिए।

महापुरुष कैसे मापे जाँय ?

यह अहिंसा हिन्दुस्तान मे शिक्षित समाज में दिखाई नहीं देती। उनके लिए टॉलस्टॉय का जीवन प्रेरक है। उन्होंने जो वस्तु मान ली, उसका पालन करने मे भारी प्रयत्न किया, और उससे कभी डिगे तक नहीं। मै यह नही मानता कि उन्हे वह हरी छड़ी न मिली हो। 'नहीं मिली' यह तो उन्होंने स्वयं कहा है। ऐसा कहना उनको सुहाता था। परन्तु यह मैं नहीं मानता हूँ कि उन्हे वह छड़ी न मिली हो जैसा कि उनके टीकाकार लिखते हैं। मैं यह मान सकता हूँ, यदि कोई कहे कि उन्होने सब तरह से उस अहिंसा का पालन नहीं किया

जिसका उन्हें दर्शन हुआ था। इस जगत में ऐसा पुरुष कौन है कि जो अपने सिद्धांतों का पूरा अमल कर सका हो? मेरी धारणा है कि देहधारी के लिए संपूर्ण अहिंसा का पालन अशक्य है। जब तक शरीर है तब तक कुछ भी तो अहंभाव रहता ही है। जब तक अहंभाव है शरीर को भी तभी तक धारण करना है ही। इसलिए शरीर के साथ हिंसा भी लगी हुई है। टॉलस्टॉय ने स्वयं कहा है कि जो अपने को आदर्श तक पहुँचा हुआ समझता है उसे नष्टप्राय ही समझना चाहिये। बस यहीं से उसकी अधोगति शुरू होती है। ज्यों ज्यों हम आदर्श के समीप पहुँचते हैं आदर्श दूर भागता जाता है। जैसे जैसे हम उसकी खोज मे अग्रसर होते हैं यह मालूम होता है कि अभी तो एक मंज़िल और बाकी है। कोई भी जल्दी से मंज़िलें तय नहीं कर सकता। ऐसा मानने में हीनता नहीं है, निराशा नहीं है, किन्तु नम्रता अवश्य है। इसीसे हमारे ऋषियों ने कहा है कि मोक्ष तो शून्यता है। मोक्ष चाहने वाले को शून्यता प्राप्त करना है। यह ईश्वर-प्रसाद के बिना नहीं मिल सकती। यह शून्यता जब तक शरीर है आदर्शरूप ही रहती है। इस बात को टॉलस्टॉय ने साफ देख लिया, उसे बुद्धि मे अंकित किया, उसकी ओर दो डग आगे बढ़े और उसी वक्त उन्हे वह हरी छड़ी मिल गयी। उस छड़ी का वे ध्यान नहीं कर सकते, सिर्फ मिली इतना ही कह सकते हैं। फिर भी अगर कहा होता कि मिली तो उनका जीवन समाप्त हो जाता।

टॉलस्टॉय के जीवन मे जो विरोधाभास दीखता है वह टॉलस्टॉय का कलंक या कमजोरी नही है किन्तु देखनेवालों की त्रुटि है। एमर्सन ने कहा है कि अविरोध तो छोटे से आदमी का पिशाच है। हमारे जीवन में कभी विरोध आने वाला ही नहीं—अगर यह हम दिखलाना चाहे तो हमे मरा ही समझो। ऐसा करने में अगर कल के कार्य को याद रख कर उसके साथ आज के कार्य का मेल करना पड़े तो कृत्रिम मेल में असत्याचरण हो सकता है। सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना चाहिये। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो जाती हो तो हमारे कार्यों मे दूसरों को विरोध दीखे ही तो उससे हमे क्या संबन्ध? सच तो यह है कि वह हमारा विरोध नहीं है, हमारी उन्नति है। उसी तरह टॉलस्टॉय के जीवन मे जो विरोध दीखता है वह विरोध नहीं है किन्तु हमारे मन का विरोधाभास है। मनुष्य अपने हृदय मे कितने प्रयत्न करता होगा, राम रावण के युद्ध मे कितनी विजयें प्राप्त करता होगा। उनका ज्ञान उसे स्वयं नही होता, देखनेवालों को तो हो ही नहीं सकता। यदि वह कुछ फिसला तो वह जगत् की निगाह में कुछ भी नही है, ऐसा प्रतीत होना अच्छा ही है। उसके लिए दुनिया निंदा की पात्र नहीं है। इसीसे तो संतों ने कहा है कि जगत जब हमारी निंदा करे तब हमें आनन्द मानना चाहिए और स्तुति करे तब काँप उठना चाहिए। जगत दूसरा नहीं करता; उसे तो जहाँ

गैल दीखा कि वह उसकी निंदा ही करेगा। परंतु महापुरुष के जीवन को देखने बैठें तो मेरी कही हुई बात याद रखनी चाहिए। उसने हृदय में कितने युद्ध किये होंगे और कितनी जीतें प्राप्त की होंगी, इसका गवाह तो प्रभु ही है; यही निष्फलता और सफलता के चिह्न हैं।

दोष का डंक

इतना कह कर मैं यह समझाना नहीं चाहता कि तुम अपने दोषों को छिपाओ या पहाड़ से दोषों को तनिक से गिनो। यह तो मैंने दूसरों के विषय में कहा है। दूसरों के हिमालय से बड़े दोषों को राई सा समझना चाहिए और अपने राई से दोषों को हिमालय के समान बड़ा समझना चाहिए। अपने मे अगर जरा सा भी दोष मालूम हो, जाने अनजाने असत्य हो गया हो तो हमें ऐसा होना चाहिए कि अब जल में डूब मरना चाहिए। दिल में आग सुलग जानी चाहिए। सर्प या बिच्छू का डंक तो कुछ नही है, उनका जहर उतारने वाले बहुत मिल सकते हैं। परन्तु असत्य और हिंसा के दंश से बचाने वाला कौन है? ईश्वर ही हमें उससे मुक्ति दे सकता है, और हममे अगर पुरुषार्थ हो तभी वह मिल सकती है। इसलिए अपने दोषो के बारे मे हम सचेत रहे। वे जितने बड़े देखे जा सके उन्हें हम देखें। और अगर जगत हमें दोषी ठहरावे तो हम ऐसा न मानें कि जगत कितना कंजूस है कि छोटे से दोष को बड़ा बतलाता है। टॉलस्टॉय को कोई उनका

दोष बतलाता तो वे उसे बड़ा भयङ्कर रूप दे देते थे। गो कि उनका दोष बताने का प्रसंग दूसरे को शायद ही उपस्थित हुआ हो। क्योंकि वे बहुत आत्म-निरीक्षण किया करते थे। दूसरे के बताने के पहले ही वे अपने दोष देख लेते थे। और उसके लिए जिस प्रायश्चित्त की कल्पना उन्होंने स्वयं की होती वह भी वह कर डाले होते। यह साधुता की निशानी है इसीसे मै मानता हूँ कि उन्हे वह छड़ी मिली थी।

'ब्रेड लेबर' अथवा यज्ञधर्म

दूसरी एक अद्‍भुत वस्तु का खयाल टॉलस्टॉय ने लिख क और उसे अपने जीवन मे ओतप्रोत करके कहा है। वह वस्तु 'ब्रेड लेवर'। यह उनकी स्वयं की हुई खोज न थी। किसी दूस लेखक ने यह वस्तु रशिया के सर्व संग्रह में लिखो थी। इ लेखक को टॉलस्टॉय ने जगत् के सामने ला रक्खा, और उसव बात को भी वे प्रकाश मे ले आये। जगत मे जो असमान दिखायी पड़ती है, दौलत व कंगालियत नजर आती है, उस कारण यह है कि हम अपने जीवन का कानून भूल गये हैं। य कानून 'ब्रेड लेबर' है। गीता के तीसरे अध्याय के आधार पर उसे यज्ञ कहता हूँ। गीता ने कहा है कि बिना यज्ञ किये जो खाता है वह चोर है, पापी है। वही चीज टॉलस्टॉय ने बतलायी है। ब्रेड लेबर का उलटा सुलटा भावार्थ करके हमे उसे उड़ा नहीं देना चाहिये उसका सीधा अर्थ यह है कि जो शरीर नवा कर मजदूरी नहीं करता उसे खाने का अधिकार नहीं है। हम

भोजन के मूल्य के बराबर मिहनत कर डालें तो जो गरीबी जगत में दीखती है वह दूर हो जाय। एक आलसी दो को भूखों मारता है, क्योंकि उसका काम दूसरे को करना पड़ता है। टॉलस्टॉय ने कहा कि लोग परोपकार करने के लिये प्रयत्न करते हैं, उसके लिये पैसे खरचते हैं परन्तु ऐसा न करके थोड़ा सा ही काम करे—अर्थात् दूसरों के कन्धों पर से नीचे उतर जायँ तो बस यही काफी है। और यही सच्ची बात है। यह नम्रता का वचन है। करें तो परोपकार किन्तु अपने ऐशोआराम में से लेश मात्र भी न छोड़ें तो यह वैसाही हुआ जैसा कि अखा भक्त ने कहा है :—'निहाय की चोरी, और सुई का दान'।

बात ऐसी नहीं है कि टॉलस्टॉय ने जो कहा वह दूसरों ने नहीं कहा हो परन्तु उनकी भाषा में चमत्कार था; क्योंकि जो कहा उसका उन्होंने पालन किया। गद्दी तकियों पर बैठनेवाले मजदूरी मे जुट गये, आठ घंटे खेती का या दूसरा मजदूरी का काम उन्होंने किया। इससे यह न समझें कि उन्होंने साहित्य का कुछ काम ही नहीं किया था। जब भी उन्होने शरीर से मिहनत का काम शुरू किया तब तब उनका साहित्य अधिक शोभित हुआ। उन्होने अपनी पुस्तकों मे जिसे सर्वोत्तम कहा है वह है 'कला क्या है'? (What is art) यह उन्होंने इस यज्ञ काल की मजदूरी में से बचते वक्त मे लिखा था। मजदूरी से उनका शरीर न घिसा, और ऐसा उन्होंने स्वयं

मान लिया था कि उनकी बुद्धि अधिक तेजस्वी हुई और उनके ग्रन्थों के अभ्यासी कह सकते हैं कि यह बात सच्ची है।

स्वेच्छाचार या संयम

यदि टॉलस्टॉय के जीवन का उपयोग करना हो तो उनके जीवन से उल्लिखित तीन बातें जान लेनी चाहिये। युवकसंघ के सभ्यों को ये वचन कहते हुए मैं उन्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि तुम्हारे सामने दो मार्ग हैं :—एक स्वेच्छाचार का और दूसरा संयम का। यदि तुम्हें यह प्रतीत होता हो कि टॉलस्टॉय ने जीना और मरना जाना था तो तुम देख सकते हो कि दुनिया में सब के लिए और विशेषतः युवकों के लिए:—संयम का मार्ग ही सच्चा मार्ग है; हिन्दुस्तान मे तो खास तौर पर है ही। 'स्वराज्य' कुछ सरकार से लेने की वस्तु नहीं है। अपनी अवनति के कारणों की जाँच करने पर तुम देख सकोगे कि उसमे सरकार को अपेक्षा हमारा हाथ विशेष है। तुम देखोगे कि स्वराज्य की कुंजी हमारे ही हाथ में है; वह न तो इंग्लैण्ड में है न शिमले में है और न दिल्ली में। वह कुञ्जी तुम्हारी और मेरी जेब मे है। हमारे समाज की अधोगति और मंदता को दूर करने में शिथिलता भरी पड़ी है। यदि इसे निकाल दें तो जगत् में ऐसी कोई भी सत्ता नहीं है कि जो हमको अपनी उन्नति करने से, स्वराज प्राप्त करने से रोक सके। अपने मार्ग मे हम स्वयं रोड़े डालते हैं और फिर आगे ने से इन्कार करते हैं। युवकसंघ के सभ्यों से मैं कहता हूँ

यह समय तुम्हारे लिये सुन्दर समय है, दूसरे तरीके से कहूँ तो वह विषमकाल है। तीसरी रीति से यदि कहूँ तो यह परीक्षा का समय है। विश्वविद्यालय की परीक्षा देकर यदि कोई पदवी ले ले तो वही काफी नहीं है। जगत की परीक्षा और ठोकरों मे से जब पास हो जाओ तभी तुम्हें सच्ची पदवी मिली मानी जा सकती है। तुम्हारे लिए यह संधिकाल है; सुवर्णकाल है। उसमें तुम्हारे सामने दो मार्ग हैं। यदि एक उत्तर को जाता है तो दूसरा दक्षिण को; एक पूर्व जाता है तो दूसरा पश्चिम जाता है। इनमें से तुम्हें एक पसंद करना है। उसमे से कौनसा पसंद करोगे, यह तुम्हे विचारना होगा। देश मे पश्चिम से तरह तरह की हवाएँ—मेरी दृष्टि में जहरी हवाएँ—आती हैं, टॉलस्टॉय के जीवन के समान सुन्दर हवा भी आती है सही। परन्तु वह प्रत्येक स्टीमर में थोड़े ही आती है? प्रत्येक स्टीमर में कहो या प्रति दिन कहो। कारण कि प्रति दिन कोई न कोई स्टीमर बम्बई या कलकत्ते के बन्दरगाह मे आती ही है। दूसरे परदेशी सामान के समान उसमें परदेशी साहित्य भी आता है। उनमे के विचार मनुष्य को चकनाचूर करनेवाले होते हैं, स्वेच्छाचार की तरफ ले जानेवाले होते हैं। यह विलकुल सही मानना। यह अभिमान करना ही नहीं कि तुमने जो विचार किये हैं; या जो किताबें अर्धदग्ध हालत में पढ़ी हैं और उसमे से जो समझा है वही सच्चा है; जो प्राचीन है वह अवश्य जंगली है, और जो नई नई खोजें हुई हैं वे सब सच्ची हैं। यदि तुम इस

अहंकार में हो तो मैं यह कल्पना ही नहीं कर सकता कि तुम इस संघ की शोभा बढ़ावोगे। सरलादेवी से तुमने नम्रता, सभ्यता, मर्यादा, पवित्रता सीखी है। अगर यह आशा अभी तक सच्ची न कर दिखलायी हो तो आयन्दा कर दिखलाना। तुमने कई एक अच्छे काम किये हैं। उनकी प्रशंसा से फूल मत उठना। प्रशंसा से दूर भागते रहना। ऐसा न मानना कि 'हमने बहुत कुछ कर डाला।' बारडोली के लिए यदि तुमने पैसे इकट्ठे किये, पसीना बहाया, दो चार व्यक्ति जेल में गये तो, मैं एक अनुभवी की हैसियत से कहता हूँ कि उसमें तुमने क्या किया है? कुछ किया है यह चाहे दूसरे भले ही कहें किन्तु तुम इतने में सन्तोष न मानना। तुम्हें अंतर जीवन सुधारना है; अंतरात्मा से सच्चा प्रमाण-पत्र प्राप्त करना है। वास्तव में हमारी आत्मा भी सोयी हुई है। तिलक महाराज कह गये हैं कि हमारे यहाँ 'कॉन्श्यन्स' का पर्यायवाची शब्द नहीं है। हम यह नहीं मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के 'कॉन्श्यन्स' होता है। पश्चिम में यह बात मानते हैं। व्यभिचारी के लिये, लंपट के लिए 'कॉन्श्यन्स' क्या हो सकता है? इसीलिए तिलक महाराज ने कॉन्श्यन्स की जड़ ही उड़ा दी। हमारे ऋषि मुनियों ने कहा है कि अंतर्नाद सुनने के लिये अंतर्कर्ण भी चाहिए, अंतश्चक्षु चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिये संयम की आवश्यकता है। इसलिये पातंजल योगदर्शन में योगाभ्यास करने वालों के लिए आत्मदर्शन की इच्छा रखनेवालों के लिये

पहला पाठ यम नियम पालन करने का बताया है। सिवाय संयम के मेरे तुम्हारे या अन्य किसी के पास कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। यही टॉलस्टॉय ने अपने लम्बे जीवन में संयमी रह कर बताया। मैं चाहता हूँ, प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि यह चीज हम उसी तरह साफ देख सकें जैसे कि आँखों के आगे का दीया स्पष्ट देखते हैं और आज एकत्र हुए हैं तो ऐसा निश्चय कर के यहाँ से हटें कि टॉलस्टॉय के जीवन में से हम संयम की साधना करने वाले हैं।

रत्नत्रया

निश्चय कर लो कि हम सत्य की आराधना छोड़ने वाले नहीं है। सत्य के लिए दुनिया में सच्ची अहिंसा ही धर्म है। अहिंसा प्रेम का सागर है। उसका नाम जगत् मे कोई ले ही नहीं सका। उस प्रेमसागर से हम सराबोर भर जायँ तो हममे ऐसी उदारता आ सकती है कि उसमे सारी दुनिया को हम विलीन कर सकते हैं। यह बात कठिन अवश्य है किन्तु है साध्य ही। इसीसे हमने प्रारंभ मे प्रार्थना मे सुना कि शंकर हों या विष्णु, ब्रह्मा हों या इन्द्र, बुद्ध हों या सिद्ध, मेरा सिर तो उसीके आगे झुकेगा जो रागद्वेष रहित हो, जिसने काम को जीता हो, जो अहिसा—प्रेम—की प्रतिमा हो। यह अहिंसा लूले लंगड़े प्राणियों को न मारने ही में समाप्त नहीं होती। उसमें धर्म हो सकता है, परन्तु प्रेम तो उससे भी अनंत गुना आगे बढ़ा हुआ है। उसके दर्शन जिसको नही हुए वह लूले

लँगड़े प्राणियों को बचावे तो उससे क्या होना जाना था। ईश्वर के दरबार में उसकी कीमत बहुत कम कूती जायगी। तीसरी बात है 'ब्रेड लेबर'—यज्ञ। शरीर को कष्ट देकर मिहनत करके ही खाने का हमें अधिकार है। परमार्थिक दृष्टि से किया हुआ काम यज्ञ है। मजदूरी करके भी सेवा के हेतु जीना है। लम्पट होने को या दुनिया के भोगों का उपभोग करने को जीवित रहना नहीं कहते हैं। कोई कसरतबाज नौजवान आठ घण्टे कसरत करे तो यह 'ब्रेड लेबर' नहीं है। तुम कसरत करो, शरीर को मजबूत बनाओ तो इसकी मैं अवगणना नहीं करता। परन्तु जो यज्ञ टॉलस्टॉय ने कहा है, गीता के तीसरे अध्याय में जो बताया गया है वह यह नहीं है। जीवन यज्ञ के हेतु है, सेवा के लिए है। जो ऐसा समझेगा वह भोगों को कम करता जावेगा। इस आदर्श साधन में ही पुरुषार्थ है। भले ही इस वस्तु को किसी ने सर्वांश में प्राप्त न किया हो, भले ही वह दूर ही दूर रहे। किन्तु फरहाद ने जिस तरह शीरीं के लिए पत्थर फोड़े उसी तरह हम भी पत्थर तोड़ें। हमारी यह शीरीं अहिंसा है। उसमें हमारा छोटा सा स्वराज्य तो शामिल है ही, बल्कि उसमें तो सभी कुछ समाया है।

राजचन्द्र भाई

डाक्टर मेहता ने अपने घर के जिन लोगों से परिचय कराया, उनमें से एक का ज़िक्र यहाँ किये बिना नहीं रह सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन के साथ तो जीवन भर के लिए स्नेह-गाँठ बँध गई। परन्तु जिनकी बात मैं कहना चाहता हूँ वे तो हैं कवि रायचन्द्र अथवा राजचन्द्र। वह डाक्टर साहब के बड़े भाई के दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवन की दूकान के भागीदार तथा कार्यकर्त्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्ष से अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाक़ात में मैंने यह देख लिया कि वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शताव-धानी माने जाते थे। डाक्टर मेहता ने मुझसे कहा कि इनके शतावधान का नमूना देखना। मैंने अपने भाषा-ज्ञान का भंडार खाली कर दिया और कवि जी ने मेरे कहे तमाम शब्दों को उसी नियम से कह सुनाया, जिस नियम से मैंने कहा था। इस सामर्थ्य पर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किन्तु उस पर मैं मुग्ध न हो पाया। जिस चीज़ पर मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्र-ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करने की उनकी भारी उत्कण्ठा। मैंने आगे चल कर जाना कि केवल आत्मदर्शन करने के लिए वह अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसता रमता प्रकट हरि देखूं रे,
मारुं जीव्युं सफल तव लेखूं रे'
मुक्तानद नो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवन दोरी अमारी रे।*

मुक्तानन्द का यह वचन उनकी ज़बान पर तो रहता ही था; पर उनके हृदय में भी अंकित हो रहा था।

खुद हज़ारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते, पर वे बातें उनका विषय न थीं। उनका विषय—उनका पुरुषार्थ—तो आत्म-साक्षात्कार—हरि-दर्शन था। दूकान पर और कोई चीज़ हो या न हो, एक न एक धर्म-पुस्तक और डायरी ज़रूर रहा करती। व्यापार की बात जहाँ ख़तम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोज़नामचे पर कलम चलने लगती। उनके लेखों का संग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है और उसका अधिकांश इस रोज़नामचे के आधार पर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखों के सौदे की बात करके तुरन्त आत्म-ज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारी की श्रेणी का नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का है। उनके संबंध में वह अनुभव मुझे एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी मूर्च्छित—ग़ाफिल—नहीं पाया।

---

*भावार्थ—मैं अपना जीवन तभी सफल समझूँगा, जब हँसते-खेलते ईश्वर को अपने सामने देखूँगा। निश्चय-पूर्वक यही मुक्तानन्द का जीवन सूत्र है।

मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके बहुत निकट समागम में आया हूँ। मैं उस वक्त एक ठलुआ बैरिस्टर था। पर जब मैं उनको दूकान पर पहुँच जाता तो वह धर्मवार्त्ता के सिवा दूसरी बातें न करते। इस समय तक मैं अपने जीवन का मार्ग न देख पाता था; यह भी नहीं कह सकते कि धर्म-वार्ताओ में मेरा मन लगता था। फिर भी मैं कह सकता हूँ कि राजचंद्र भाई की धर्म-वार्ता मैं चाव से सुनता था। उसके बाद कितने हो धर्माचार्यों के सम्पर्क में मैं आया हूँ। प्रत्येक धर्म के आचार्यों से मिलने का मैंने प्रयत्न किया है; पर जो छाप मेरे दिल पर राजचन्द्र भाई की पड़ी, वह किसी का न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुँच जातीं। उनकी बुद्धि को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। उनको प्रामाणिकता पर भी मेरा उतना ही आदर भाव था। और इससे मैं जानता था कि वह मुझे जान बूझ कर उलटे रास्ते नहीं ले जायँगे एवं मुझे वही बात कहेंगे जिसे वह अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों मे उनकी सहायता लेता।

राजचंद्र भाई के प्रति इतना आदर भाव रखते हुए भी मैं उन्हे धर्मगुरु का स्थान अपने हृदय में न दे सका। धर्मगुरु की तो खोज मेरी अब तक चल रही है।

हिन्दू धर्म मे गुरु-पद को जो महत्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूँ। 'गुरु विन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में

सच है। अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है। परन्तु आत्मदर्शन कराने वाले अधूरे शिक्षक से काम हरगिज़ नहीं चलाया जा सकता। गुरु पद तो पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है ! क्योंकि गुरु शिष्य की योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा पूरा अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वराधीन है।

इसीलिए राजचंद्र भाई को मैं यद्यपि अपने हृदय का स्वामी न बना सका। तथापि हम आगे चल कर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय समय पर कैसा मिलता रहा है। यहाँ तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवन पर गहरा असर डालने वाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं। राजचंद्र भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टाल्स्टाय ने 'बैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है।' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट—'सर्वोदय' नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया है।

दादाभाई शताब्दि

हम दादाभाई को भारत का पितामह कहते थे। दादाभाई ने अपना सारा जीवन भारत को अर्पण कर दिया था। उन्होंने भारत की सेवा को एक धर्म बना डाला था। स्वराज्य शब्द

उन्हीं से हमें मिला है। वे भारत के गरीबों के मित्र थे। भारत की दरिद्रता का दर्शन पहले पहल दादाभाई ने ही हमें कराया था। उनके तैयार किये अंकों को आज तक कोई गलत साबित न कर पाया। दादाभाई हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई किसी में भेद भाव न रखते थे। उनकी दृष्टि से वे सब भारत की सन्तान थे। और इसीलिए सब समान-रूप से उनकी सेवा के पात्र थे। उनका यह स्वभाव उनकी दो पोतियों में सोलहों आना दिखाई पड़ता है।

इस महान भारत सेवक की शताब्दि हम किस तरह मनावें ? सभायें तो होंगी ही; वह भी अकेले शहरों में नहीं, बल्कि देहात में भी, जहाँ जहाँ तक महासभा की आवाज़ पहुँचती है। हाँ सब जगह। वहाँ करेंगे क्या ? उनकी स्तुति ? यदि यही करना हो तो फिर भाट चारणों को बुलाकर उनकी कल्पना-शक्ति का तथा उनकी वाणी के प्रवाह का उपयोग करके क्यों न बैठ रहे ? पर यदि हम उनके गुणों का अनुकरण करना चाहते हों तो हमें उनकी छान-बीन करनी होगी और अपनी अनुकरण-क्षमता की नाप निकालनी होगी।

दादाभाई ने भारत की दरिद्रता देखी। उन्होंने हमे सिखाया कि 'स्वराज्य' उसकी औषधि है। परन्तु स्वराज्य प्राप्त करने की कुंजी तलाश करने का काम वह हमारे जिम्मे छोड़ गये। दादाभाई की पूजा का मुख्य कारण उनकी देशभक्ति थी और उस भक्ति में वे बड़े लीन हो गये थे।

हम जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन चरखा है। भारत की दरिद्रता का कारण है भारत के किसानों का साल में छः या चार मास तक बेकार रहना। और यदि यह अनिवार्य बेकारी ऐच्छिक हो जाय अर्थात् काहिली हमारा स्वभाव बन बैठे तो फिर इस देश की मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं। यही नहीं, बल्कि सर्वनाश इसका निश्चित भविष्य है। उस काहिली को भगाने का एक ही उपाय है- चरखा। अतएव चरखा-कार्य को प्रोत्साहित करने वाला हर एक कार्य दादाभाई के गुणों का अनुकरण है?

चरखे का अर्थ है खादी; चरखे का अर्थ है विदेशी कपड़े का बहिष्कार; चरखे का अर्थ है गरीबों के झोपड़ों में ध करोड़ रुपयों का प्रवेश।

अखिल—भारत-देशबन्धु स्मारक के लिये भी चरखा तजवीज हुआ है। अतएव इस कोष के लिये उस दिन द्रव्य एकत्र करना मानों दादाभाई को जयन्ती ही मनाना है। इसलिए उस दिन एकत्र होकर लोग विदेशी कपड़ों का सर्व त्याग करें, सिर्फ हाथ कते सूत की खादी पहनें निरन्तर कम से कम आधा घंटा सूत कातने का निश्चय दृढ़ करें और खादी प्रचार के लिए धन एकत्र करें। कपास पैदा करनेवा अपनी जरूरत का कपास घर में रख लें।

परन्तु जिसे चरखे का नाम ही पसन्द न हो वह क करे? उसके लिये मैं क्या उपाय बताऊँ? जिसे स्वराज्य

नाम तक न सुहाता हो उसे मैं शताब्दी मनाने का क्या उपाय सुझाऊँ ? उसे अपने लिये खुद ही कोई उपाय खोज लेना चाहिए। मेरी सूचना सार्वजनिक है। यही हो भी सकता है। दादाभाई के अन्य गुणों की खोज करके कोई उनका अनुकरण करना चाहे तो जुदी बात है। वैसे दूसरे तरीके से जयन्ती मानने का उसे हक़ है। अथवा फर्ज कीजिए शहरों में स्वराज्य-वादी खास बात करना चाहे तो वह अवश्य करे। मैं तो सिर्फ वही बात बता सकता हूँ जिसे क्या शहरावी और क्या देहाती, क्या वृद्ध और क्या बालक, क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सब कर सकते हों।

यदि हम लोग मेरी तजवीज के अनुसार ही दादाभाई जयन्ती मनाना चाहते हों तो हमें आज से ही तैयारी करनी चाहिए। आज से हम उसके लिए चरखा चलाने लग जायँ। आज ही से हम उसके निमित खादी उत्पन्न करें और ऐसी सभायें स्थान स्थान पर करें जो हमें तथा देश को शोभा दें।

लोकमान्य

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अब संसार में नहीं हैं। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वे संसार से उठ गये। हम लोगों के समय में ऐसा दूसरा कोई नहीं जिसका जनता पर लोकमान्य के जैसा प्रभाव हो। हमारे देशवासियों

की उन पर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरशः सत्य है कि वे जनता के आराध्य देव थे, प्रतिमा थे; उनके वचन हजारों आदमियों के लिये नियम और कानून-से थे। पुरुषों में पुरुषसिंह संसार से उठ गया। केसरी को घोर गर्जना विलीन हो गई।

देशवासियों पर उनका इतना प्रभाव होने का क्या कारण था? मैं समझता हूँ इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सहज है। उनकी स्वदेश-भक्ति ही उनकी इन्द्रिय-वृत्ति थी। वे स्वदेश-प्रेम के सिवा दूसरा धर्म नहीं जानते थे।

जन्म से ही वे प्रजासत्तावादी थे। बहुमत की आज्ञा पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि मुझे उससे भयभीत होना पड़ता था। पर यही वह बात है जिससे जनता पर उनका इतना अधिक प्रभाव था। स्वदेश के लिये वे जिस इच्छाशक्ति से काम लेते थे वह बड़ी ही प्रबल थी। उनका जीवन वह ग्रन्थ है जिसे खोलने की भी जरूरत नहीं—वह खुला हुआ ग्रन्थ है। उनका खाना-पीना और पहनावा बिल्कुल साधारण था। उनका व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही निर्मल और बे-दाग है। उन्होंने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-शक्ति को स्वदेश को अर्पण कर दिया था। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ लोकमान्य ने स्वराज्य की शुभ वार्ता का उपदेश किया उतना और किसी ने नहीं किया। इसी कारण स्वदेशवासी उन पर अटूट विश्वास रखते थे। साहस ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। उनकी आशावादिता

गोखले

लोकमान्य तिलक

अदम्य थीं। उनको आशा थी कि जीवन-काल में ही मैं सम्पूर्ण रूप से स्वराज्य स्थापित हुआ देख सकूँगा। यदि वे इसे नहीं देख सके तो उनका दोष नहीं है। उन्होंने निस्सन्देह स्वराज्य प्राप्ति की अवधि बहुत कम कर दी है। यह अब हम लोगों के लिये है जो अभी तक जी रहे हैं कि अपने द्विगुणित उद्योग से उसको जहाँ तक शीघ्र हो सत्य कर दिखावें।

लोकमान्य अधिकारी-वर्ग या अङ्गरेजी राज्य से घृणा नहीं करते थे। मैं अँगरेजों को ऐसी भूल धारण करने से मना करता हूँ कि लोकमान्य अँगरेजों के शत्रु थे।

कलकत्ता-कांग्रेस के समय हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के सम्बन्ध में उन्होंने जो कहा था उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वे कांग्रेस-पण्डाल से तुरंत ही लौटे थे। हिन्दी के सम्बन्ध में उन्होंने अपने शान्त भाषण में जो कहा उससे बड़ी तृप्ति हुई। भाषण में आपने देशी भाषाओं पर खयाल रखने के कारण अँगरेजों की बड़ी प्रशंसा की थी। विलायत जाने पर, यद्यपि आपको अँगरेज जूररों के विषय में बुरा ही अनुभव हुआ तथापि, आपका ब्रिटिश प्रजासत्ता में बड़ा ही दृढ़ विश्वास हो गया। आपने यहाँ तक कहा था कि पंजाब के अत्याचारों का चित्र "सिनेमेटोग्राफ" यन्त्र द्वारा ब्रिटिश प्रजासत्तावादियों को दिखाना चाहिए। मैंने यहाँ इस बात का उल्लेख इसी लिये नहीं किया कि मैं भी ब्रिटिश प्रजासत्ता पर विश्वास रखता हूँ (जो मैं नहीं रखता), पर यहाँ दिखाने के लिये कि वे

अँगरेज जाति के प्रति घृणा का भाव नहीं रखते थे। पर वे भारत और साम्राज्य की अवस्था को इस पिछड़ी अवस्था में न तो रखना ही चाहते थे और न रख सकते थे।

वे चाहते थे कि शीघ्र ही भारत में समानता का भाव रक्खा जाय और इसे वे देश का जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे। भारत की स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने जो लड़ाई की उसमें सरकार को छोड़ नहीं दिया। स्वतन्त्रता के इस युद्ध में उन्होंने न तो किसी की मुरव्वत की और न किसी की प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है अँगरेज लोग उस महापुरुष को पहचानेंगे जिनको भारत पूजा करता था।

भारत की भावी सन्तति के हृदय में भी यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के बनानेवाले थे। वे तिलक महाराज का सम्मान यह कह कर स्मरण करेंगे कि एक पुरुष था जो हमारे लिये ही जन्मा और हमारे लिये ही मरा। ऐसे महापुरुष को मरना कहना ईश्वर की निन्दा करना है। उनका स्थायी तत्त्व सदा के लिये हम लोगों में व्याप्त हो गया। आओ हम भारत के एक मात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन में उनके साहस, उनकी सरलता उनके आश्चर्य-जनक उद्योग और उनकी स्वदेश-भक्ति को सीखकर बनावें। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

---

*पुण्यतिथि का रहस्य

आपका यही सवाल न है कि लोग 'शठं प्रति शाठ्यम्' को तिलक महाराज का सिद्धान्त मानते हैं, और हमें उनके जीवन में इस सिद्धान्त की प्रतीति कहाँ तक होती है ? हम इस प्रश्न में से बहुत अधिक सार ग्रहण नहीं कर सकते। हाँ, इस बारे में तिलक महाराज के साथ मेरा कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार हुआ था। उनके जीवन के नम्र विद्यार्थी और गुणों के एक पुजारी के नाते मैं कह सकता हूँ कि तिलक महाराज में विनोद की शक्ति थी। विनोद के लिए अंग्रेजी में 'ह्यूमर' शब्द है। अबतक हम इस अर्थ में 'विनोद' का उपयोग नहीं करने लगे हैं, इसी से अंग्रेजी शब्द देकर अर्थ समझाना पड़ता है। अगर लोकमान्य मे यह विनोद-शक्ति न होती तो वह पागल हो जाते–राष्ट्र का इतना बोझ वह उठाते थे। लेकिन अपनी विनोद-प्रियता के कारण वह स्वयं अपनी रक्षा तो कर ही लेते थे, दूसरों को भी विषम स्थिति में से बचा लेते थे। दूसरे, मैंने यह देखा है कि वादविवाद करते समय वह कभी-कभी जान-बूझ कर अतिशयोक्ति से भी काम ले लेते थे। प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध में मेरा उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह मुझे ठीक-ठीक याद नहीं; आप उसे देख लें। 'शठं प्रति शाठ्यम्'

---

* लोकमान्य की पुण्यतिथि के दिन गांधी जी ने यह भाषण गुजरात-विद्यापीठ में दिया था।

तिलक महाराज का जीवन-मंत्र न था; अगर ऐसा होता तो वह इतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकते। मेरी जान में, संसार-भर में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जिसमें किसी मनुष्य ने इस सिद्धान्त पर अपना जीवन-निर्माण किया हो और फिर भी वह लोकमान्य बन सका हो। यह सच है कि इस बारे में जितना गहरा मैं पैठता हूँ, वह नहीं पैठते थे—हम शठ के प्रति शाठ्य का कदापि उपयोग कर ही नहीं सकते। 'गीता रहस्य' में एक-दो स्थानों में—सिर्फ एक ही दो स्थानों में—इस बात का थोड़ा समर्थन मिलता जरूर है। लोकमान्य मानते थे कि राष्ट्रहित के लिए अगर कभी शाठ्य से—दूसरे शब्दों में, 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त से काम लेना पड़े तो ले सकते हैं। साथ हीं वह यह भी मानते तो थे ही कि शठ के सामने भी सत्य का प्रयोग करना अच्छा है, यही सत्य सिद्धान्त है; मगर इस सम्बन्ध में वह कहा करते कि साधु लोग ही इस सिद्धान्त पर अमल कर सकते हैं। तिलक महाराज की व्याख्या के मुताबिक साधु लोगों से अर्थ वैरागियों का नहीं; बल्कि उन लोगों से होता है जो दुनिया से अलिप्त रहते हैं; दुनियादारी के कामों में भाग नहीं लेते। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अगर कोई दुनिया में रह कर इस सिद्धान्त का पालन करे तो अनुचित होगा-हाँ, वह न कर सके यह दूसरी बात है—वह मानते थे कि शाठ्य का उपयोग करने का उसे अधिकार है।

लेकिन अगर ऐसे महान् पुरुष के जीवन का मूल्य ठहराने

का हमें कोई अधिकार हो, तो हम विवादास्पद बातों से उसका मूल्य न ठहरावें। लोकमान्य का जीवन भारत के लिए, विश्व समस्त के लिए एक बहुमूल्य विरासत है। उसकी पूरी कीमत तो भविष्य में ठहरेगी। इतिहास ही उसकी कीमत का अन्दाजा लगावेगा, वही लगा सकता है। जीवित मनुष्य का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्त्व, उसके समकालीन कभी ठहरा ही नहीं सकते; उनसे कुछ न कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है, क्योंकि रागद्वेष-पूर्ण लोग ही इस काम के कर्त्ता भी होते हैं। सच पूछा जाय तो इतिहासकार भी रागद्वेष-रहित नहीं पाये जाते। गिबन प्रामाणिक इतिहासकार माना जाता है, मगर मैं तो उसके पृष्ठ-पृष्ठ में उसका पक्षपात अनुभव कर सकता हूँ। मनुष्य विशेष या संस्था विशेष के प्रति राग अथवा द्वेष से प्रेरित हो कर उसने बहुतेरी बातें लिखी होंगी। समकालीन व्यक्ति में विशेष पक्षपात होने की सम्भावना रहती है। लोकमान्य के महान् जीवन का उपयोग तो यह है कि हम उनके जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों का सदा स्मरण और अनुकरण करें।

तिलक महाराज का देशप्रेम अटल था। साथ ही उनमें तीक्ष्ण न्याय वृत्ति भी थी। इस गुण का परिचय मुझे अनायास मिला। १९१७ की कलकत्ता-महासभा के दिनों में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की सभा मे भी वह आये थे। महासभा के काम से इन्हे फुर्सत तो कैसे हो सकती थी? फिर भी वह आये और भाषण करके चले गये। मैंने वहीं देखा कि राष्ट्रभाषा हिन्दी

के प्रति उनमें कितना प्रेम था। मगर इससे भी बढ़ कर जो बात मैंने उनमें देखी, वह थी अंग्रेजों के प्रति की उनकी न्याय-वृत्ति। उन्होंने अपना भाषण ही यों शुरू किया था: 'मैं अंग्रेजी शासन को खूब निन्दा करता हूँ, फिर भी अंग्रेज विद्वानों ने हमारी भाषा की जो सेवा की है, उसे हम भुला नहीं सकते, उनका आधा भाषण इन्हीं बातों से भरा था। आखिर उन्होंने कहा था कि अगर हमें राष्ट्रभाषा के क्षेत्र को जोतना और उसकी वृद्धि करनी हो तो हमें भी अंग्रेज विद्वानों की भाँति ही परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। हमारी लिपि की रक्षा और हमारे व्याकरण की व्यवस्था के लिए हम एक बड़ी हद तक अंग्रेज विद्वानों के आभारी हैं। जो पादरी आरम्भ में आये थे उनमें परभाषा के लिए प्रेम था। गुजराती में टेलर-कृत व्याकरण कोई साधारण वस्तु नहीं है। लोकमान्य ने इस बात का विचार भी नहीं किया कि अंग्रेजों की स्तुति करने से मेरी लोकप्रियता घटेगी। लोगों का तो यही बिश्वास था कि वह अंग्रेजों की निन्दा हा कर सकते हैं।

तिलक महाराज में जो त्यागवृत्ति थी, उसका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी हम अपने में नहीं बता सकते। और उनकी सादगी? उनके कमरे में न तो किसी तरह का फर्नीचर होता था न कोई खास सजावट। अपरिचित आदमी तो खयाल भी नहीं कर सकता था कि यह किसी महान् पुरुष का निवासस्थान है। रगरग में भिदी हुई उनकी इस सादगी का हम अनुकरण करें

तो कैसा हो? । उनका धैर्य तो अद्भुत था ही। अपने कर्त्तव्य में वह सदा अटल रहते और उसे कभी भूलते ही न थे। धर्मपत्नी की मृत्यु का संवाद पाने पर भी उनकी कलम चलती ही रही।* हम एक ओर तो खूब भोग भोगना चाहते हैं, और दूसरी ओर स्वराज्य भी लेना चाहते हैं। ये दोनों बात परस्पर विरोधी हैं। इन दिनों देश में पाखण्ड, स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचार का बाजार गर्म है। अगर हम स्वराज्य लेना चाहते हों तो स्वराज्य ही हमारा ध्यान-मंत्र होना चाहिए, स्वेच्छाचार कदापि नहीं। क्या हम तिलक महाराज के जीवन का एक भी ऐसा क्षण बतला सकते हैं जो भोगविलास में बीता हो? उनमें जबर्दस्त सहिष्णुता थी। यानी वह चाहे जैसे—उद्दण्ड से उद्दण्ड—आदमी से भी काम करवा लेते थे। लोकनायक में यह शक्ति होनी चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होती! अगर हम संकुचित हृदय बन जायँ और सोच लें कि फलाँ आदमी से काम लेंगे ही नहीं, तो या तो हमें जंगल में जाकर बस जाना चाहिए या घर बैठे-बैठे गृहस्थ का जीवन बिताना चाहिए। इसमें शर्त यही है कि हम खुद अलिप्त रह सकें।

---

* इसी सिलसिले में हमें इससे भी अधिक अद्भुत एक प्रसंग याद हो आता है। शिवाजी की राजधानी रायगढ़ में लोकमान्य पहली बार शिवाजी उत्सव मनाने गये थे। घर पर उनके बड़े पुत्र बहुत ही बीमार थे। रायगढ़ पहुँचते ही तार मिला। लोकमान्य ने उसे वैसा ही जेब में रख लिया। जब उत्सव का काम समाप्त हो गया तब तार निकाला और पढ़ा।

मुँह से तिलक महाराज का बखान करके ही हम चुप न हो बैठें। काम, काम और काम ही हमारा जीवन-सूत्र होना चाहिए। जब कि हम स्वराज्य-यज्ञ को चालू रखना चाहते हैं, हमें चाहिए कि हम निकम्मे साहित्य का पढ़ना बन्द कर दें, निरर्थक बातें करना छोड़ दें और अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वराज्य के काम में बिताने लगें। आप पूछेंगे कि क्या पढ़ाई छोड़कर यह काम करें? १९२१ मे भी विद्यार्थियों के साथ मेरा यही झगड़ा था। तिलक महाराज ने क्या किया था? उन्होंने जो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे, वे बाहर रहकर नहीं, जेल में लिखे थे। 'गीता रहस्य' और 'आर्क्टिक होम' वह जेल में ही लिख सके थे। बड़े-बड़े मौलिक ग्रंथ लिखने की शक्ति होते हुए भी उन्होंने देश के लिए उसका बलिदान किया था। उन्होंने सोचा; 'घर के चारों ओर आग भभक उठी है, इसे जितनी बुझा सकूँ, उतनी तो बुझाऊँ।' उन्होंने अगर हजार घड़े पानी से उसे बुझाई हो हम एक ही घड़ा डालें, मगर डालें तो सही। पढ़ाई आदि आवश्यक होते हुए भी गौण बातें हैं। अगर स्वराज्य के लिए इनका उपयोग होता हो करना चाहिए, अन्यथा इन्हें तिलांजलि देनी चाहिए। इससे न हमारा नुकसान है न संसार का।

तिलक महाराज अपने जीवन द्वारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छोड़ गये हैं। जिनके जीवन में से इतनी सारी बातें ग्रहण करने योग्य हों, जिनकी विरासत इतनी जबर्दस्त हो, उनके

सम्बन्ध में उक्त प्रश्न के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती है। हमारा धर्म तो गुणग्राही बनने का है।

आज हमें जो काम करना है, वह मुर्दार आदमियों के किये हो नहीं सकता। स्वराज्य का काम कठिन है। भारत में आज एक लहर बह रही है, उसमें खिचकर हम भाषण करते हैं, धींगाधींगी मचाते हैं, तूफान खड़े करते हैं, मनमाने तौर पर संस्थाओं में घुस जाते है और फिर उन्हें नष्ट करते एवं धारासभाओं मे जाकर भाषण करते हैं। तिलक महाराज के जीवन में ये बातें हमारे देखने में भो नहीं आतीं। उनके जीवन के जो गुण अनुकरणीय हैं, सो तो मैं ऊपर कह ही चुका हूँ। अगर आप इतना करेंगे तो आपका इस राष्ट्रीय विद्यापीठ में रहकर अध्ययन करना सार्थक होगा, अन्यथा आपके लिए जो खर्च हो रहा है, वह व्यर्थ जायगा। अगर हम कर्त्तव्य कर्म न करें तो इन भाषणों और विद्यार्थियों के निबन्ध वाचन आदि के होते हुए हम जहाँ थे वहीं बने रहेंगे और आज के उत्सव मे जो दो घण्टे बीते हैं; वे निरर्थक सिद्ध होंगे। मुझे आशा है, ऐसा न होगा।

गुरुवर महात्मा गोखले

[स्वर्गीय गोखले की गत मृत्यु-तिथि के उपलक्ष में उनके भाषणों तथा लेखों का गुजराती में एक संग्रह प्रकाशित हुआ

था। उसकी प्रस्तावना महात्मा गाँधी ने लिखी थी, जो इस प्रकार है]—

गोखले की मृत्यु-तिथि के अवसर पर उस स्वर्गस्थ महात्मा के भाषणों तथा लेखों का गुजराती अनुवाद प्रकाशित करने का विचार पहले पहल मेरे ही मन मे उत्पन्न हुआ था; इसलिये उसके पहले भाग की प्रस्तावना अधिकांश में मुझको ही लिखना उचित था। हम लोगों ने निश्चय किया है कि हरसाल गोखले की मृत्युतिथि मनावेंगे। भजन, कीर्त्तन, व्याख्यान, और तदनन्तर सभा का विसर्जन—यह हरसाल ही होता है। इससे कालक्षेप तो वहुत होता है, पर उससे कोई वास्तविक लाभ नहीं होता। अतः भाषणो की अपेक्षा कार्य को अधिक महत्त्व देने तथा ऐसे उत्सवों को सर्व-साधारण के लिये सचमुच लाभदायक बनाने के लिये गत वर्ष मृत्यु-तिथि के प्रवन्ध-कर्त्ताओं ने इस अवसर पर मातृभाषा में कोई उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करना निश्चित किया था। पुस्तक चुनने में भी देर नही लगी। स्वभावतः ही पहली पुस्तक "स्वर्गीय गोखले के भाषणों का संग्रह" पसन्द की गई।

यहाँ तक प्रस्तावना की प्रस्तावना थी। स्व० गोखले के विषय में दो चार शब्द लिखना ही सच्ची प्रस्तावना हो सकती है। परन्तु गुरु के विषय में शिष्य क्या लिखे और कैसे लिखे। उसका लिखना एक प्रकार की धृष्टता मात्र है, सच्चा शिष्य वही है जो गुरु में अपने को लीन कर दे; अर्थात् वह टीकाकार हो ही

नहीं सकता। जो भक्ति दोष देखती हो वह सच्ची भक्ति नहीं और दोष-गुण के पृथक्करण में असमर्थ लेखक द्वारा की हुई गुरु-स्तुति को यदि सर्व-साधारण अंगीकार न करें तो इस पर उसे नाराज होने का अधिकार नहीं हो सकता। शिष्य के आचरणों ही से गुरु की टीका होती है। गोखले राजनीतिक विषयों में मेरे गुरु थे; इस बात को मैं अनेक बार कह चुका हूँ। इस कारण उनके विषय में कुछ लिखने में मैं अपने को असमर्थ समझता हूँ। मैं चाहे जितना लिख जाऊँ, मुझे थोड़ा ही मालूम होगा। मेरे विचार से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध शुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है। वह अंकशास्त्र के नियमानुसार नहीं होता। कभी कभी वह हमारे बिना जाने भी हो जाता है। उसके होने में एक क्षण से अधिक नही लगता, पर एक बार होकर वह फिर टूटना जानता ही नहीं।

१८९६ ई० में पहले पहल हम दोनों व्यक्तियों में यह सम्बन्ध हुआ। उस समय न मुझे उनका खयाल था और न उन्हें मेरा। उसी समय मुझे गुरुजी के भी गुरु लोकमान्य तिलक, सर फिरोजशाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, डा० भांडारकर तथा बंगाल और मद्रास प्रान्त के और भी अनेक नेताओं के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मै उस समय बिलकुल नवयुवक था, मुझ पर सबने प्रेम-वृष्टि की। सबके एकत्र दर्शन का वह प्रसंग मुझे कभी न भूलेगा। परन्तु गोखले से मिल कर मेरा हृदय जितना शीतल हुआ उतना औरों से मिलने से नहीं हुआ।

मुझे याद नहीं आता कि गोखले ने मुझ पर औरों को अपेक्षा अधिक प्रेम-वृष्टि की थी। तुलना करने से मैं कह सकता हूँ कि डा० भांडारकर ने मुझ पर जितना अनुराग प्रकट किया उतना और किसी ने नहीं किया। उन्होंने कहा—'यद्यपि मैं आजकल सार्वजनिक कार्यों से अलग रहता हूँ, पर फिर भी केवल तुम्हारी खातिर मैं उस सभा का अध्यक्ष बनना स्वीकार करता हूँ, जो तुम्हारे प्रश्न पर विचार करने के लिये होने वाली है।' यह सब होते हुए भी गोखले ही ने मुझे अपने प्रेम-पाश में आबद्ध किया। उस समय मुझे इस बात का बिल्कुल ज्ञान नहीं हुआ। पर १९०२ वाली कलकत्ते की कांग्रेस मे मुझे अपने शिष्य-भाव का पूरा पूरा अनुभव हुआ। उपर्युक्त नेताओं में से अनेक के दर्शनों का उस समय मुझे फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु मैंने देखा कि गोखले को मेरी याद बनी हुई थी। देखते ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। वे मुझे अपने घर खींच ले गये। मुझे भय था कि विषय-निर्वाचिनी-समिति में मेरी बात न सुनी जायगी। प्रस्तावों की चर्चा शुरू हुई और खतम भी हो गई; पर मुझे अन्त तक यह कहने का साहस न हुआ कि मेरे मन में भी दक्षिण-अफ्रिका-सम्बन्धी एक प्रश्न है। मेरे लिये रात को कौन बैठा रहता? नेतागण काम को जल्दी निपटाने के लिये आतुर हो गये। उनके उठ जाने के डर से मैं काँपने लगा। मुझे गोखले को याद दिलाने का भी साहस न हुआ। इतने में वे स्वयं ही

बोले—"मि० गाँधो भी दक्षिण-अफ्रिका के हिन्दुस्तानियों की दशा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव किया चाहते हैं, उस पर अवश्य विचार किया जाय।" मेरे आनन्द की सीमा न रही। राष्ट्रसभा के सम्बन्ध में मेरा यह पहला ही अनुभव था, इसलिये उससे स्वीकृत होने वाले प्रस्तावों का मैं बड़ा महत्त्व समझता था। इसके बाद भी उनके दर्शन के कितने ही अवसर उपस्थित हुए और वे सभी पवित्र हैं। पर इस समय जिस बात को मैं उनका महामंत्र मानता हूँ उसका उल्लेख कर इस प्रस्तावना को पूर्ण करना उत्तम होगा।

इस कठिन कलिकाल में किसी विरले ही मनुष्य में शुद्ध धर्म-भाव देख पड़ता है। ऋषि, मुनि, साधु आदि नाम धारण कर भटकते फिरने वालों को इस भाव की प्राप्ति शायद ही कभी होती है। आजकल उनका धर्म-रक्षक पद से च्युत हो जाना सभी लोग देख रहे हैं। यदि एक ही सुन्दर वाक्य में धर्म की पूरी व्याख्या कही हैं तो वह भक्त-शिरोमणि गुजराती कवि नरसिंह मेहता के इस वाक्य में है—

"ज्या लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहीं, त्या लगी साधना सर्व जूटी।"

अर्थात् जब तक आत्मतत्त्व की पहचान न हो तब तक सभी साधनाएँ निरर्थक हैं। यह वचन उसके अनुभव-सागर के मन्थन से निकला हुआ रत्न है। इससे ज्ञात होता है कि महा तपस्वी तथा योगी-जनों में भी (सच्चा) धर्म-भाव होना अनिवार्य नहीं है। गोखले को आत्मतत्त्व का उत्तम ज्ञान था,

भारत में धर्म-भाव इतना व्यापक हो जाय कि जो राजनीतिक चर्चा आज लोगों को अरुचिकर होती है वही उन्हें पवित्र और प्रिय मालूम होने लगे; फिर पहले ही की तरह भारत-वासी धार्मिक साम्राज्य का उपभोग करने लगें। भारत का वन्धन एक क्षण में दूर हो जाय और वह स्थिति प्रत्यक्ष आँखों के सामने आ जाय, जिसका दर्शन एक प्राचीन कवि ने अपनी अमर वाणी में इस प्रकार किया है—'फौलाद से तलवार बनाने का नहीं, वल्कि (हलकी) फाल वनाने का काम लिया जायगा और सिंह और वकरे साथ साथ विचरण करेंगे'। ऐसी स्थिति उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति ही गुरुवर गोखले का जीवन-मंत्र थी। यही उनका संदेश है। और मुझे विश्वास है कि शुद्ध और सरल मन से विचार करने पर उनके भाषणों के प्रत्येक शब्द मे यह मंत्र लक्षित होगा।

महात्मा गोखले का जीवन-संदेश

[वम्बई की 'भगिनी-समाज' नामक संस्था से स्त्रियों के लिये एक सामयिक पुस्तिका प्रकाशित होती है। उसमें महात्मा गाँधी ने निम्न-लिखित लेख लिखा था।]—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था वही उपदेश भारत-माता ने महात्मा गोखले को दिया था और उनके आचरणों

से सूचित होता है कि उन्होंने उसका पालन भी किया है। यह सर्वमान्य बात है कि उन्होंने जो जो किया, जिस जिसका उपभोग किया, जो स्वार्थ-त्याग किया, जिस तप का आचरण किया वह सभी कुछ उन्होंने भारत-माता के चरणों में अर्पण कर दिया।

केवल देश ही के लिये जन्म लेनेवाले इस महात्मा का अपने देश-बन्धुओं के प्रति क्या सन्देश है? 'भारत-सेवक-समाज' के जो सेवक महात्मा गोखले के अन्तिम समय में उनके पास उपस्थित थे उन्हे उन्होंने निम्न-लिखित वाक्य कहे थे।

"(तुम लोग) मेरा जीवन-चरित्र लिखने न बैठना; मेरी मूर्त्ति बनवाने मे भी अपना समय मत लगाना। तुम लोग भारत के सच्चे सेवक होगे तो अपने सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने अर्थात् भारत की ही सेवा करने मे अपनी आयु व्यतीत करोगे।"

सेवा के सम्बन्ध में उनके आन्तरिक विचार हमें मालूम हैं। राष्ट्रीय सभा का कार्य-संचालन, भाषण तथा लेख द्वारा जनता को देश की सच्ची स्थिति का ज्ञान कराना, प्रत्येक भारत-वासी को साक्षर बनाने का प्रयत्न कराना ये सब काम सेवा ही हैं। पर किस उद्देश्य और किस प्रणाली से यह सेवा की जाय? इस प्रश्न का वे जो उत्तर देते वह उनके इस वाक्य से प्रकट होता है। अपनी संस्था (भारत-सेवक-समाज) की नियमावली बनाते हुए उन्होंने लिखा है कि "सेवकों का कर्त्तव्य

भारत के राजनीतिक जीवन को धार्मिक बनाना है" इसी एक वाक्य में सब कुछ भरा हुआ है। उनका जीवन धार्मिक था। मेरा विवेक इस बात का साक्षी है कि उन्होंने जो जो काम किये सब धर्म-भाव ही की प्रेरणा से किये। बीस साल पहले उनका कोई कोई उद्‌गार या कथन नास्तिकों का सा होता था। एक बार उन्होंने कहा था—"क्या ही अच्छा होता यदि मुझमें भी वही श्रद्धा होती, जो रानडे में थी।" पर उस समय भी उनके कार्यों के मूल में उनकी धर्म-बुद्धि अवश्य रहती थी। जिस पुरुष का आचरण साधुओं के सदृश है, जिसकी वृत्ति निर्मल है, जो सत्य की मूर्त्ति है, जो नम्र है, जिसने सर्वथा अहंकार का परित्याग कर दिया है, वह निस्सन्देह धर्मात्मा है। गोखले इसी कोटि के महात्मा थे। यह बात मैं उनके लगभग २० वर्षों की संगति के अनुभव से कह सकता हूँ।

१८९६ में मैंने नेटाल की शर्त्तबन्दी की मजदूरी पर भारत में वाद-विवाद आरम्भ किया। उस समय कलकत्ता, बम्बई, पूना, मद्रास आदि स्थानों के नेताओं से मेरा पहले पहल सम्बन्ध हुआ। उस समय सब लोग जानते थे कि महात्मा गोखले रानडे के शिष्य हैं। फर्ग्यूसन-कालेज को वे अपना जीवन भी अर्पण कर चुके थे। और मैं उस समय एक निरा अनुभव-हीन युवक था। मैं पहले पहल पूने में उनसे मिला। इस पहली ही भेंट में हम लोगों में जितना घनिष्ट सम्बन्ध हो गया उतना और किसी नेता से नहीं हुआ। महात्मा गोखले के विषय में जो

बातें मैंने सुनी थीं वे सब प्रत्यक्ष देखने में आईं। उनकी वह प्रेम-युक्त और हास्यमय मूर्त्ति मुझे कभी न भूलेगी। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मानो वे साक्षात् धर्म ही की मूर्त्ति हैं। उस समय मुझे रानडे के भी दर्शन हुए थे। पर उनके हृदय में मैं स्थान न पा सका। मैं उनके विषय में केवल इतना ही जान सका कि वे गोखले के गुरु हैं। अवस्था और अनुभव में वे मुझसे बहुत अधिक बड़े थे; इस कारण अथवा और किसा कारण से मैं रानडे को उतना न जान सका, जितना कि गोखले को मैंने जाना।

१८९६ ई० के अवसर से ही गोखले का राजनीतिक जीवन मेरे लिये आदर्श-स्वरूप हुआ। उसी समय से उन्होंने राजनीतिक गुरु के नाते मेरे हृदय में निवास किया। उन्होंने सार्वजनिक सभा (पूना) की त्रैमासिक पुस्तक का सम्पादन किया। उन्होंने फर्ग्युसन-कालेज में अध्यापन-कार्य करके उसे उन्नत दशा को पहुँचाया। उन्होंने वेल्बी कमीशन के सामने गवाही देकर अपनी वास्तविक योग्यता का प्रमाण दिया; उनकी बुद्धिमत्ता की छाप लार्ड कर्जन पर—उन लार्ड कर्जन पर जो अपने सामने किसी को कुछ न गिनते थे—बैठी और वे उनसे शङ्कित रहने लगे।

उन्होंने बड़े बड़े काम कर के मातृभूमि की कीर्ति को उज्ज्वल किया। पब्लिक-सर्विस-कमीशन का काम करते समय उन्होंने अपने जीने-मरने तक की परवा न की। उनके इन तथा अन्य

कार्यों का दूसरे व्यक्तियों ने उत्तम रीति से वर्णन किया है। परन्तु जिसको मैं उनका खास सन्देश समझता हूँ, उक्त कार्यों में उस सन्देश की साफ झलक नहीं पाई जाती। अतः इस लेख मे मै उस बात का उल्लेख करूँगा, जिसका मुझे स्वयं अनुभव हुआ है। उसमें उनके सन्देश की झलक होगी।

सत्याग्रह के युद्ध (निष्क्रिय-प्रतिरोध-आन्दोलन) ने उनके मन पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि स्वास्थ्य के ठीक न रहते हुए भी उन्होंने दक्षिण-अफ्रिका की यात्रा करना निश्चित कर लिया। १९१२ ई० में वे वहाँ जा पहुँचे। वहाँ के हिन्दुस्तानियों ने उनका जो स्वागत किया वह किसी सम्राट् के स्वागत से कम न था। उनके केपटौन के पहुँचने के दूसरे दिन वहाँ के टौनहाल मे सभा की गई। वहाँ का मेयर उसका अध्यक्ष था। वास्तव मे गोखले की तबीयत उस समय इतनी अच्छी नहीं थी कि वे सभा मे व्याख्यान देते; पर फिर भी उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से निश्चित किये हुए कार्य्य-क्रम मे एक कार्य्य को भी छोड़ देना अनुचित समझा। अपने निश्चय के अनुसार वे सभा में उपस्थित हुए। पहली ही बार के परिचय में उन्होने केपटौन के गोरों का मन अपनी मुट्ठी में कर लिया। सब को यही जान पड़ा कि मानो कोई पवित्र आत्मा हमारे नगर में आई है। दक्षिण-अफ्रिका के मेरिमेन नामक विख्यात और उदार-चरित नेता ने गोखले से कहा—"महाशय, आप सरीखे पुरुषों के आगमन से ही हमारा वायु-मण्डल पवित्र होता है।"

महात्मा गोखले ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्रदेशों का भ्रमण करने लगे त्यों त्यों यह अनुभव दृढ़तर ही होता गया। प्रत्येक स्थान मे क्षण भर के लिये गोरे और काले रंगवालों का भेद नष्ट हो गया। प्रत्येक स्थान पर केपटौन की भाँति सभा की गई और गोरे तथा हिन्दुस्तानी दोनों एक ही पंक्ति में बैठे और उन्होंने महात्मा गोखले का एक सा सम्मान किया। जोहान्सवर्ग में उन्हे दावत दी गई थी उसमें लगभग ३०० प्रसिद्ध गोरे उपस्थित थे। उसका भी अध्यक्ष वहाँ का मेयर ही था। जोहान्सवर्ग के गोरो पर किसी का प्रभाव पड़ना बड़ा ही कठिन है। उनमें से कितने ही करोड़पति हैं तथा उनमे मनुष्यों को पहचानने की भी योग्यता है। (पर) महात्मा गोखले से हाथ मिलाने की इच्छा में वे एक दूसरे की प्रतिस्पर्द्धा तक करने लगे थे। इसका केवल एक ही कारण था। महात्मा गोखले के भाषणों में श्रोतागण उनकी अविचल देश-भक्ति और इसके साथ ही उनकी न्यायदृष्टि को देख सकते थे। स्वदेश की और अधिक प्रतिष्ठा की उनकी इच्छा हुई; पर अन्य देशो के अपमान की इच्छा नही हुई। अपने देश के सम्पूर्ण स्वत्वो की रक्षा के लिये उनमें जितनी तत्परता थी उनमे उतनी ही यह अकांक्षा भी थी कि हमारे इस काम से दूसरे देशों के स्वत्वो की हानि न होने पावे। इन कारणों से उनके वचनों मे सब को स्वाभाविक आनन्द मिलता था।

म० गोखले ने दक्षिण-अफ्रिका मे जितने भाषण किये उनमें जोहान्सवर्ग का व्याख्यान सर्वोत्तम था। यह विचार स्वयं

भाषण किया वह भी उन्हीं का प्रताप था। उनसे घनिष्ट परिचय रखनेवालों का कहना है कि दक्षिण-अफ्रिका के मामले की चिन्ता ने उन्हे चारपाई पर डाल दिया, फिर भी अन्त तक उन्होंने विश्राम करना स्वीकार न किया। दक्षिण-अफ्रिका से आधी रात को आनेवाले पत्र-सरीखे लम्बे चौड़े तारों को उसी क्षण पढ़ना, जवाब तैयार करना, लार्ड हार्डिंज के नाम पर तार भेजना, समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराये जानेवाले लेख का मसौदा तैयार करना और इन कामों की भीड़ में खाने और सोने तक की याद न रहना, रात का दिन कर डालना; ऐसी अनन्य निस्स्वार्थ भक्ति वही करेगा जो धर्मात्मा होगा।

हिन्दू और मुसलमान के प्रश्न को भी वे धार्मिक दृष्टि से ही देखते थे। एक बार अपने को हिन्दू कहनेवाला एक साधु उनके पास आया और कहने लगा कि मुसलमान नीच हैं और हिंदू उच्च। महात्मा गोखले को अपने जाल में फँसते न देख उसने उन्हे दोष देते हुए कहा कि तुममे हिन्दुत्व का तनिक भी अभिमान नहीं। महात्मा गोखले ने भँवें चढ़ा कर हृदय-भेदी स्वर मे उत्तर दिया—"यदि तुम जैसा कहते हो वैसा करने ही में हिन्दुत्व है तो मैं हिन्दू नहीं; तुम अपना रास्ता पकड़ो।"

महात्मा गोखले में निर्भयता का गुण बहुत अधिक था। धर्मनिष्ठा में इस गुण का स्थान प्रायः सर्वोच्च है। लेफ्टिनेंट रैंड की हत्या के पश्चात् पूने में हलचल मच गई थी। गोखले उस समय इंग्लैण्ड में थे। पूनेवालों की तरफ से वहाँ उन्होंने जो

व्याख्यान दिये वे सारे जगत् में प्रसिद्ध हैं। उनमें वे कुछ ऐसी बातें कह गये थे, जिनका पीछे वे सबूत न दे सकते थे। थोड़े ही दिनों बाद वे भारत लौटे। अपने भाषणों में उन्होंने अँगरेज सिपाहियों पर जो इलजाम लगाया था उसके लिये उन्होंने माफी माँग ली। इस माफी माँगने के कारण यहाँ के बहुत से लोग उनसे नाराज़ भी हो गये। महात्मा को कितने ही लोगों ने सार्वजनिक कामों से अलग हो जाने की सलाह दी। कितने ही ना-समझों ने उन पर भीरुता का आरोप करने में भी आगा-पीछा न किया। इन सबका उन्होंने अत्यन्त गम्भीर तथा मधुर भाषामें यही उत्तर दिया कि "देश-सेवा का कार्य्य मैंने किसी की आज्ञा से अंगीकार नहीं किया है और किसी की आज्ञा से उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता। अपना कर्त्तव्य करते हुए यदि मैं लोक-पक्ष के साथ रहने के योग्य समझा जाऊँ तो अच्छा ही है, पर यदि मेरे भाग्य वैसे न हों तो भी मैं उसे अच्छा ही समझूँगा।" काम करना उन्होंने अपना धर्म माना था। जहाँ तक मेरा अनुभव है, उन्होंने कभी स्वार्थ-दृष्टि से इस बात का विचार नहीं किया कि मेरे कार्य्यों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। मेरा विश्वास है कि उनमे वह शक्ति थी जिससे यदि देश के लिये उन्हे फाँसी पर चढ़ना होता तो भी वे अविचलित चित्त से हँसते हुए फाँसी पर चढ़ जाते! मैं जानता हूँ कि अनेक बार उन्हे जिन अवस्थाओं मे रहना पड़ा है उनमे रहने की अपेक्षा फाँसी पर चढ़ना कहीं सहज था। ऐसी विकट परिस्थितियों का उन्हें

अनेक बार सामना करना पड़ा, पर उन्होंने कभी पाँव पीछे न हटाये।

इन सब बातों से तात्पर्य यह निकलता है कि यदि इस महान् देश-भक्त के चरित्र का कोई अंश हमारे ग्रहण करने योग्य है तो वह उनका धर्म-भाव ही है। उसी का अनुकरण करना हमें उचित है। हम सब लोग बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं हो सकते। हम यह भी नहीं देखते कि उसके सदस्य होने से देश सेवा हो ही जाती हो। हम सब लोग पब्लिक-सर्विस-कमीशन में नहीं बैठ सकते, यह बात भी नहीं है कि उसमे के सब बैठने वाले देश-भक्त ही होते हों। हम सब लोग उनकी बराबरी के विद्वान् नहीं हो सकते, और विद्वान् मात्र के देश-सेवक होने का भी हमें अनुभव नहीं है। परन्तु निर्भयता, सत्य, धैर्य्य, नम्रता, न्यायशीलता, सरलता और अध्यवसाय आदि गुणों का विकास कर उन्हें देश के लिये अर्पण करना सब के लिये साध्य है; यही धर्म-भाव है। राजनीतिक जीवन को धर्ममय करने का यही अर्थ है। उक्त वचन के अनुसार आचरण करने वाले को अपना पथ सदा ही सूझता रहेगा। महात्मा गोखले की सम्पत्ति का भी वह उत्तराधिकारी होगा। इस प्रकार की निष्ठा से काम करने वाले को और भी जिन जिन विभूतियों की आवश्यकता होगी वे सब प्राप्त होंगी। यह ईश्वर का वचन है और महात्मा गोखले का चरित्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

चितरंजन दास

मनुष्यों में से एक दिग्गज-पुरुष उठ गया ! बंगाल आज एक विधवा की तरह हो गया है। कुछ सप्ताह पहले देशबन्धु की समालोचना करने वाले एक सज्जन ने कहा था 'यद्यपि मैं उनके दोष बताता हूँ, फिर भी यह सच है; मैं आपके सामने मानता हूँ कि उनकी जगह पर बैठने लायक दूसरा कोई शख्स नहीं है। जब कि मैंने खुलना की सभा में, जहाँ कि मैंने पहले पहल यह दिल दहलानेवाली दुर्वार्ता सुनी, इस प्रसंग का जिक्र किया—आचार्य राय ने छूटते ही कहा—'यह बिलकुल सच है। यदि मैं यह कह सकूँ कि रवीन्द्रनाथ के बाद कवि का स्थान कौन लेगा तो यह भी कह सकूँगा कि देशबन्धु के बाद नेता का स्थान कौन ले सकता है। बंगाल में कोई आदमी ऐसा नहीं है जो देशबन्धु के नजदीक भी कहीं पहुँच पाता हो।' वे कई लड़ाइयों के विजयी वीर थे। उनकी उदारता एक दोष की हद तक बढ़ी हुई थी। वकालत मे उन्होंने लाखों रुपये पैदा किये, पर कभी उन्हें जोड़ कर वे धनी न बने। यहाँ तक कि अपना घरू महल भी दे डाला।

१९१९ में, पंजाब महासभा-जाँच-समिति के सिलसिले में पहले-पहल मेरा प्रत्यक्ष परिचय उनसे हुआ। मैं उनके प्रति संशय और भय के भाव लेकर उनसे मिलने गया था। दूर से ही मैंने उनकी धुआँधार वकालत और उससे भी अधिक धुआँधार वक्तृत्व का हाल सुना था। वे अपनी मोटरकार लेकर सपत्नीक

सपरिवार आये थे और एक राजा की शान-बान के साथ रहते थे। मेरा पहला अनुभव तो कुछ अच्छा न रहा। हम हण्टर-कमिटी की तहक़ीकात में गवाहियाँ दिलाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठे थे। मैंने उनके अन्दर तमाम कानूनी बारीकियों को तथा गवाह को जिरह में तोड़कर फौजी कानून के राज्य की बहुतेरी शरारतों की कलई खोलने की वकीलोचित तीव्र इच्छा देखी। मेरा प्रयोजन कुछ भिन्न था। मैंने अपना कथन उन्हे सुनाया। दूसरी मुलाकात मे मेरे दिल को तसल्ली हुई और मेरा तमाम डर दूर हो गया। उनको मैंने जो कुछ कहा उसे उन्होंने उत्सुकता के साथ सुना। भारतवर्ष मे पहली ही बार बहुतेरे देश-सेवको के घनिष्ठ समागम मे आने का अवसर मुझे मिला था। तबतक मैंने महासभा के किसी काम में वैसे कोई हिस्सा न लिया था। वे मुझे जानते थे—एक दक्षिण अफ्रिका का योद्धा है। पर मेरे तमाम साथियो ने मुझे अपने घर का सा बना लिया—और देश के इस विख्यात सेवक का नंबर इसमें सबसे आगे था। मैं उस समिति का अध्यक्ष माना जाता था 'जिन बातों में हमारा मत-भेद होगा उनमें मै अपना कथन आपके सामने उपस्थित कर दूँगा, फिर जो फैसला आप करेंगे उसे मैं मान लूँगा। इसका यकीन मैं आपको दिलाता हूँ।' उनके इस स्वयंस्फूर्त आश्वासन के पहले ही हममें इतनी घनिष्ठता हो गई थी कि मुझे अपने मन का संशय उनपर प्रकट करने का साहस हो गया। फिर जब उनकी ओर से यह आश्वासन मिल

गया तब मुझे ऐसे मित्रनिष्ठ साथी पर अभिमान तो हुआ, किन्तु साथ ही मुझे कुछ संकोच भी मालूम हुआ। क्योंकि मैं जानता था कि मैं तो भारत की राजनीति में एक नौसिखिया था और शायद ही ऐसे पूर्ण विश्वास का अधिकारी था। परन्तु तंत्र-निष्ठा छोटे-बड़े के भेद को नहीं जानती। वह राजा जो कि तंत्र-निष्ठा के मूल्य को जानता है, अपने खिदमतगार की भी बात उस मामले मे मानता है जिसका पूरा भार उसपर छोड़ देता है। इस जगह मेरा स्थान एक खिदमतगार के जैसा था। और मैं इस बात का उल्लेख कृतज्ञता और अभिमान के साथ करता हूँ कि मुझे जितने मित्रनिष्ठ साथी वहाँ मिले थे, उनमें कोई इतना मित्रनिष्ठ न था जितना चित्तरंजन दास थे।

अमृतसर-धारासभा में तंत्रनिष्ठा का अधिकार मुझे नहीं मिल सकता था। वहाँ हम परस्पर योद्धा थे, हर शख्स को अपनी अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र-हित-संबंधी अपने ट्रस्ट की रक्षा करनी थी। जहाँ तर्क अथवा अपने पक्ष की आवश्यकता के अलावा किसी की बात मान लेने का सवाल न था। महासभा के मंच पर पहली लड़ाई लड़ना मेरे लिए एक पूरे आनन्द और तृप्ति का विषय था। बड़े सभ्य, उसी तरह न झुकनेवाले, महान् मालवीय जी बलाबल को समान रखने की कोशिश कर रहे थे। कभी एक के पास जाते थे, कभी दूसरे के पास। महासभा के अध्यक्ष पंडित मोतीलालजी ने सोचा कि खेल खतम हो गया। मेरी तो लोकमान्य और देशबन्धु से खासी जम रही थी। सुधार

जहाँ कि हम साधारण लोग बैठ कर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा—'मेरे देखने की जरूरत नहीं। यदि दास ने उसे पसन्द कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।' मालवीयजी ने उसे वहाँ से सुना, कागज मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतलध्वनि में घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमें देशबन्धु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढ़ता, निर्णय-संबंधी समझदारी और पक्षनिष्ठा के कारणों का संग्रह आ जाता है।

अब और आगे बढ़िए। हम जुहू, अहमदाबाद, देहली और दार्जिलिंग को पहुँचते हैं। जुहू में वे और पण्डित मोतीलालजी मुझे अपने पक्ष मे मिलाने के लिए आये। दोनों जुड़े भाई हो गये थे। हमारे दृष्टि-बिन्दु जुदे जुदे थे। पर उन्हे यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके वस का होता तो वे ५० मील चले जाते जहाँ मैं सिर्फ २५ मील चाहता। परन्तु वे अपने एक अत्यन्त प्रिय मित्र के सामने भी एक इंच न झुकना चाहते थे, जहाँ कि देश-हित जोखिम में था। हमने एक किस्म का समझौता कर लिया। हमारा मन तो न भरा; पर हम निराश न हुए। हम एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद में मिले। देशबन्धु अपने पूरे रंग मे थे और एक चतुर खिलाड़ी की तरह सब रंग-ढंग देखते थे। उन्होंने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके

प्रस्ताव का एक ही सूत्र उन दोनों ने बना रखा था हम एक संबंधी दूसरे को समझा देना चाहते थे, पर कोई किसी का कायल न होता था। बहुतों ने तो सोचा था कि अब कोई चारा नहीं और इसका अन्त बुरा होगा। अलीभाई, जिन्हें मैं जानता था, और चाहता था, पर आज की तरह जिनसे मेरा परिचय न था, देशबन्धु के प्रस्ताव के पक्ष में मुझे समझाने लगे। महम्मद अली ने अपनी लुभावनी नम्रता से कहा 'जाँच समिति में आपने जो महान् कार्य किया है, उसे नष्ट न कीजिए।' पर वह मुझे न पटा। तब जयरामदास, वह ठंढे दिमागवाला सिन्धी आया, और उसने एक चिट में समझौते की सूचना और उसकी हिमायत लिख कर मुझे पहुँचाई। मैं शायद ही उन्हें जानता था। पर उनकी आँखो और चहेरे में कोई ऐसी बात थी जिसने मुझे लुभा लिया। मैंने उस सूचना को पढ़ा वह अच्छी थी। मैंने उसे देशबन्धु को दिया। उन्होंने जवाब दिया—'ठीक है, बशर्ते की हमारे पक्ष के लोग उसे मान लें'। यहाँ ध्यान दीजिए उनकी पक्षनिष्ठा पर। अपने पक्ष के लोगों का समाधान किये बिना वे नहीं रहना चाहते थे। यही एक रहस्य है लोगों के हृदय पर उनके आश्चर्यजनक अधिकार का। वह सब लोगों को पसंद हुई।। लोकमान्य अपनी गरुड़ के समान तीखी आँखों से वहाँ जो कुछ हो रहा था सब देख रहे थे। व्याख्यान मंच से पण्डित मालवीयजी की गंगा के सदृश वाग्धारा बह रही थी—उनकी एक आँख सभामंच की ओर देख रही

जहाँ कि हम साधारण लोग बैठ कर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा—'मेरे देखने की जरूरत नहीं। यदि दास ने उसे पसन्द कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।' मालवीयजी ने उसे वहाँ से सुना, कागज मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतलध्वनि में घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमें देशबन्धु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढ़ता, निर्णय-संबंधो समझदारी और पक्षनिष्ठा के कारणों का संग्रह आ जाता है।

अब और आगे बढ़िए। हम जुहू, अहमदाबाद, देहली और दार्जिलिंग को पहुँचते हैं। जुहू मे वे और पण्डित मोतीलालजी मुझे अपने पक्ष मे मिलाने के लिए आये। दोनों जुड़े भाई हो गये थे। हमारे दृष्टि-विन्दु जुदे जुदे थे। पर उन्हे यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके बस का होता तो वे ५० मील चले जाते जहाँ मैं सिर्फ २५ मील चाहता। परन्तु वे अपने एक अत्यन्त प्रिय मित्र के सामने भी एक इंच न झुकना चाहते थे, जहाँ कि देश-हित जोखिम में था। हमने एक किस्म का समझौता कर लिया। हमारा मन तो न भरा; पर हम निराश न हुए। हम एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद मे मिले। देशबन्धु अपने पूरे रंग में थे और एक चतुर खिलाड़ी की तरह सब रंग-रंग देखते थे। उन्होंने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके

जैसे मित्र के हाथों ऐसी कितनी शिकस्त मैं न खाऊँगा ?—पर अफसोस ! वह शरीर अब दुनिया में नहीं रहा ! कोई यह ख्याल न करें कि साहावाले प्रस्ताव के बदौलत हम एक-दूसरे के शत्रु हो गये थे। हम एक दूसरे को गलती पर समझ रहे थे। पर मतभेद स्नेहियों का मतभेद था। वफादार पति और पत्नी अपने पवित्र मतभेदों के दृश्यो को याद करें—किस तरह वे अपने मतभेदों के कारण कष्ट सहते हैं, जिससे कि उनके पुनर्मिलन का सुख अति बढ़ जाय। यही हमारी हालत थी। सो हमें फिर देहली में उस भीषण जबड़े वाले शिष्ट पण्डित और नम्र दास से, जिनका कि बाहरी स्वरूप किसी सरसरी तौर पर देखनेवाले को अशिष्ट मालूम हो सकता है, मिलना होगा। मेरे उनके ठहराव का ढांचा वहाँ तैयार हुआ और पसंद हुआ। वह एक अटूट प्रेम-बंधन था जिसपर कि अब एक दल ने उनकी मृत्यु की मुहर लगा दी है।

अब दार्जिलिंग को फिलहाल यहाँ मुल्तवी करता हूँ। वे अक्सर आध्यात्मिकता की बातें करते थे और कहते थे कि धर्म के विषय मे आपका मेरा कोई मतभेद नही है। पर यद्यपि उन्होंने कहा नहीं तथापि उनका भाव यह रहा हो कि मैं इतना काव्य-हीन हूँ कि मुझे हमारे विश्वासों की एकात्मता नहीं दिखाई देती। मै मानता हूँ कि उनका खयाल ठीक था। उन बहुमूल्य पाँच दिनों में मैंने उनका हर कार्य धर्म-मय देखा और न केवल वे महान् थे, बल्कि नेक भी थे, उनकी नेकी बढ़ती जा रही थी। पर इन

पाँच दिनों के बहुमोल अनुभवों को मुझे किसी अगले दिन के लिए रख छोड़ना चाहिए। जब कि क्रूर दैव ने लोकमान्य को हमसे छीन लिया तब मैं अकेला असहाय रह गया—अभी तक मेरी वह चोट गई नहीं है—क्योंकि अब तक मुझे उनके प्रिय शिष्यों की आराधना करनी पड़ती है। पर देशबन्धु के वियोग ने तो मुझे और भी बुरी हालत में छोड़ दिया है। जब कि लोकमान्य हमसे जुदा हुए देश आशा और उमंग से भरा हुआ था; हिन्दू, मुसलमान हमेशा के लिए एक होते हुए दिखाई दिये थे, हम युद्ध का शंख फूँकने की तैयारी में थे। पर अब ?

देशबन्धु के गुण

देशबन्धु के अवसान के शोक-समाचार मिलने के बाद गांधीजी का पहला भाषण खुलना में इस प्रकार हुआ:—

"आप लोगों ने आचार्य राय से सुन लिया कि हम लोगों पर कैसा भीषण वज्र-प्रहार हुआ है। परन्तु मैं जानता हूँ कि अगर हम सच्चे देशसेवक हैं तो कितना ही बड़ा वज्र-प्रहार हो, हमारे दिल को तोड़ नहीं सकता। आज सवेरे यह शोक-समाचार सुना तो मेरे सामने दो परस्पर-विरुद्ध कर्तव्य आ खड़े हुए। मेरा कर्तव्य था कि पहले जो गाड़ी मिले उसीसे मैं कलकत्ते चला जाता। पर मेरा यह भी कर्तव्य था कि आपके निर्द्धारित कार्य-क्रम को पूरा करूँ। मेरी सेवावृत्ति ने यही प्रेरणा की कि

यहां का कार्य पूरा किया जाय। यद्यपि मैं दूर दूर से आये हुए लोगों से मिलने के लिये ठहर गया हूँ तथापि उनके सामने महासभा के कार्य की विवेचना न कर के स्वर्गीय देशबन्धु का ही स्मरण करूँगा। मुझे विश्वास है कि कलकत्ते दौड़ जाने की अपेक्षा यहाँ का काम पूरा करने से उनकी आत्मा अधिक प्रसन्न होगी।

देशबन्धु दास एक महान् पुरुष थे। (यहाँ गांधीजी रो पड़े और एक दो मिनट तक कुछ बोल न सके) मैं गत छः वर्षों से उन्हें जानता हूँ। कुछ ही दिन पहले जब मै दार्जिलिंग मे उनसे बिदा हुआ था तब मैंने एक मित्र से कहा था कि जितनी ही घनिष्ठता उनसे बढ़ती है उतना ही उनके प्रति मेरा प्रेम बढ़ता जाता है। मैंने दार्जिलिंग मे देखा कि उनके मन में भारत की भलाई के सिवा और कोई विचार न था। वे भारत को स्वाधोनता का ही सपना देखते थे, उसीका विचार करते थे और उसीकी बातचीत करते थे और कुछ नही। दार्जिलिंग में मेरे विदा होते समय भी उन्होंने मुझसे कहा था कि आप बिछुड़े हुए दलों को एक करने के लिये बंगाल में अधिक समय तक ठहरिए, ताकि सब लोगों की शक्ति एक कार्य के लिए संयुक्त हो जाय। मेरी बङ्गाल-यात्रा में उनसे मतभेद रखने वालों ने और उनपर बेतरह नुक्ताचीनी करने वालों ने भी बिना हिचकिचाहट के इस बात को स्वीकार किया है कि बंगाल में ऐसा कोई मनुष्य नही है जो उनका स्थान ले सके। ये निर्भीक थे, वीर थे। बंगाल में नवयुवकों

के प्रति उनका निस्सीम स्नेह था। किसी नवयुवक ने मुझे ऐसा नहीं कहा कि देशबन्धु से सहायता मांगने पर कभी किसी की प्रार्थना खाली गई। उन्होंने लाखों रुपया पैदा किया और लाखों रुपया बंगाल के नवयुवकों में बाँट दिया। उनका त्याग अनुपम था, और उनकी महान् बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता की बात मैं क्या कह सकता हूँ? दार्जिलिंग में उन्होंने मुझसे अनेक बार कहा कि भारत की स्वाधीनता अहिंसा और सत्य पर निर्भर है।

भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों को जानना चाहिए कि उनका हृदय हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं जानता था। मैं भारत के सब अंगरेजों से कहता हूँ कि उनके प्रति उनके मन में बुरा भाव न था। उनकी अपनी मातृभूमि के प्रति यही प्रतिज्ञा थी— 'मैं जीऊँगा तो स्वराज्य के लिए, और मरूँगा तो स्वराज्य के लिए।' हम उनकी स्मृति को कायम रखने के लिए क्या करें? आँसू बहाना सहज है; परन्तु आँसू हमारी या उनके स्वजन-परिजनों की सहायता नहीं कर सकता। अगर हममें से हर कोई—हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई उस काम को करने की प्रतिज्ञा करे जिसमें वे रहते थे, चलते थे और जिसे वे करते थे तो समझा जायगा कि हमने कुछ किया। हम सब ईश्वर को मानते हैं। हमें जानना चाहिए कि शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य है। देशबन्धु का शरीर नष्ट हो गया परन्तु उनकी आत्मा कभी नष्ट न होगी। न केवल उनकी आत्मा बल्कि उनका नाम भी—जिन्होंने

इतनी बड़ी सेवा और त्याग किया है—अमर रहेगा और जो कोई जवान या बूढ़ा उनके आदर्श पर जरा भी चलेगा वह उनके यादगार बनाये रखने में मदद देगा। हम सब में उनके जैसी बुद्धिमत्ता नहीं है; पर हम उस भाव को अपने में ला सकते हैं जिससे वे देश की सेवा करते थे।

देशबन्धु ने पटने और दार्जिलिंग में चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखे का सबक दिया था और उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मैं कातना सीखने की कोशिश करूँगा और जब तक शरीर रहेगा तब तक कातूँगा। उन्होंने अपने दार्जिलिंग के निवास—स्थान को 'चरखाक्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया था कि बीमारी की हालत छोड़ कर मैं रोज आध घण्टे तक स्वयं चरखा चलाऊँगी और उनकी लड़की, बहन और बहन की लड़की तो बराबर ही चरखा कातती थीं।

देशबन्धु मुझसे अक्सर कहा करते—"मैं समझता हूँ कि धारासभा में जाना जरूरी है, मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारा सभा के काम को कारगर बनाना असंभव है।' उन्होंने जब से खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तब से मरण दिवस तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की बात नहीं है कि उन्होंने हिन्दू मूसलमानों में मेल करने के लिए कितना बड़ा काम किया

था। अछूतों से वे कितना प्रेम रखते थे। इसके विषय में सिर्फ वही एक बात कहूँगा जो मैंने बरीसाल में कल रात को एक नामशूद्र नेता से सुनी थी उस नेता ने कहा—मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबन्धु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने। आप सब लोग धारासभाओं में नहीं जा सकते। परन्तु उन तीन कामों को कर सकते हैं जो उनको प्रिय थे। मैं अपने को भारत का भक्तिपूर्वक सेवा करने वाला मानता हूँ। मैं आम-तौर पर घोषणा करता हूँ कि मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रह कर आगे से संभव हुआ तो देशबन्धु दास के अनुयायियों को उनके धारासभा-कार्य में पहले से अधिक सहायता दूँगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनके काम को जरर पहुँचाने वाला काम करने से मुझे बचाये रक्खे। हमारा धारा-सभा-संबन्धी मतभेद बना हुआ था और है। फिर भी हमारा हृदय एक हो गया था। राजनैतिक साधनों में सदा मतभेद बना रहेगा। परन्तु उसके कारण हम लोगों को एक-दूसरे से अलग न हो जाना चाहिए या परस्पर शत्रु न बन जाना चाहिए। जो स्वदेश-प्रेम मुझे एक काम के लिए प्रेरित करता था वही उनको कुछ दूसरा काम करने को उत्साहित करता था। और ऐसा पवित्र मत-भेद देश के काम का बाधक नहीं हो सकता। साधन-संबन्धी मतभेद नहीं बल्कि हृदय की मलिनता ही अनर्थकारी है। दार्जिलिंग में रहते समय मैं देखता था कि देशबन्धु के दिल में उनके राजनैतिक विरोधियों के

इतनी बड़ी सेवा और त्याग किया है—अमर रहेगा और जो कोई जवान या बूढ़ा उनके आदर्श पर जरा भी चलेगा वह उनके यादगार बनाये रखने में मदद देगा। हम सब में उनके जैसी बुद्धिमत्ता नहीं है; पर हम उस भाव को अपने में ला सकते हैं जिससे वे देश की सेवा करते थे।

देशबन्धु ने पटने और दार्जिलिंग में चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखे का सबक दिया था और उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मैं कातना सीखने की कोशिश करूँगा और जब तक शरीर रहेगा तब तक कातूँगा। उन्होंने अपने दार्जिलिंग के निवास—स्थान को 'चरखाक्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया था कि बीमारी की हालत छोड़ कर मैं रोज आध घण्टे तक स्वयं चरखा चलाऊँगी और उनकी लड़की, बहन और बहन की लड़की तो बराबर ही चरखा कातती थीं।

देशबन्धु मुझसे अक्सर कहा करते—"मैं समझता हूँ कि धारासभा मे जाना जरूरी है, मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारासभा के काम को कारगर बनाना असंभव है।' उन्होंने जब से खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तब से मरण दिवस तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की बात नहीं है कि उन्होंने हिन्दू मुसलमानों में मेल करने के लिए कितना बड़ा काम किया

था। अछूतों से वे कितना प्रेम रखते थे। इसके विषय में सिर्फ वही एक बात कहूँगा जो मैंने बरीसाल मे कल रात को एक नामशूद्र नेता से सुनी थी उस नेता ने कहा—मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबन्धु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने। आप सब लोग धारासभाओं में नहीं जा सकते। परन्तु उन तीन कामों को कर सकते हैं जो उनको प्रिय थे। मैं अपने को भारत का भक्तिपूर्वक सेवा करने वाला मानता हूँ। मैं आम-तौर पर घोषणा करता हूँ कि मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रह कर आगे से संभव हुआ तो देशबन्धु दास के अनुयायियों को उनके धारासभा-कार्य में पहले से अधिक सहायता दूँगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनके काम को जरर पहुँचाने वाला काम करने से मुझे बचाये रक्खे। हमारा धारा-सभा-संबन्धी मतभेद बना हुआ था और है। फिर भी हमारा हृदय एक हो गया था। राजनैतिक साधनों में सदा मतभेद बना रहेगा। परन्तु उसके कारण हम लोगों को एक-दूसरे से अलग न हो जाना चाहिए या परस्पर शत्रु न बन जाना चाहिए। जो स्वदेश-प्रेम मुझे एक काम के लिए प्रेरित करता था वही उनको कुछ दूसरा काम करने को उत्साहित करता था। और ऐसा पवित्र मत-भेद देश के काम का बाधक नहीं हो सकता। साधन-संबन्धी मतभेद नहीं बल्कि हृदय की मलिनता ही अनर्थकारी है। दार्जिलिंग में रहते समय मैं देखता था कि देशबन्धु के दिल में उनके राजनैतिक विरोधियों के

इतनी बड़ी सेवा और त्याग किया है—अमर रहेगा और जो कोई जवान या बूढ़ा उनके आदर्श पर जरा भी चलेगा वह उनके यादगार बनाये रखने में मदद देगा। हम सब में उनके जैसी बुद्धिमत्ता नहीं है; पर हम उस भाव को अपने में ला सकते हैं जिससे वे देश की सेवा करते थे।

देशबन्धु ने पटने और दार्जिलिंग में चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखे का सबक दिया था और उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मैं कातना सीखने की कोशिश करूँगा और जब तक शरीर रहेगा तब तक कातूँगा। उन्होंने अपने दार्जिलिंग के निवास—स्थान को 'चरखाक्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया था कि बीमारी की हालत छोड़ कर मैं रोज आध घण्टे तक स्वयं चरखा चलाऊँगी और उनकी लड़की, बहन और बहन की लड़की तो बराबर ही चरखा कातती थीं।

देशबन्धु मुझसे अक्सर कहा करते—"मैं समझता हूँ कि धारासभा में जाना जरूरी है, मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारा-सभा के काम को कारगर बनाना असंभव है।' उन्होंने जब से खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तब से मरण दिवस तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की बात नहीं है कि उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में मेल करने के लिए कितना बड़ा काम किया

था। अछूतों से वे कितना प्रेम रखते थे। इसके विषय में सिर्फ वही एक बात कहूँगा जो मैंने बरीसाल में कल रात को एक नामशूद्र नेता से सुनी थी उस नेता ने कहा—मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबन्धु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने। आप सब लोग धारासभाओं में नहीं जा सकते। परन्तु उन तीन कामों को कर सकते हैं जो उनको प्रिय थे। मैं अपने को भारत का भक्तिपूर्वक सेवा करने वाला मानता हूँ। मैं आम-तौर पर घोषणा करता हूँ कि मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रह कर आगे से संभव हुआ तो देशबन्धु दास के अनुयायियों को उनके धारासभा-कार्य में पहले से अधिक सहायता दूँगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उनके काम को जरर पहुँचाने वाला काम करने से मुझे बचाये रक्खे। हमारा धारा-सभा-संबन्धी मतभेद बना हुआ था और है। फिर भी हमारा हृदय एक हो गया था। राजनैतिक साधनों में सदा मतभेद बना रहेगा। परन्तु उसके कारण हम लोगों को एक-दूसरे से अलग न हो जाना चाहिए या परस्पर शत्रु न बन जाना चाहिए। जो स्वदेश-प्रेम मुझे एक काम के लिए प्रेरित करता था वही उनको कुछ दूसरा काम करने को उत्साहित करता था। और ऐसा पवित्र मत-भेद देश के काम का बाधक नहीं हो सकता। साधन-संबन्धी मतभेद नहीं बल्कि हृदय की मलिनता ही अनर्थकारी है। दार्जिलिंग में रहते समय मैं देखता था कि देशबन्धु के दिल में उनके राजनैतिक विरोधियों के

प्रति नम्रता प्रति दिन बढ़ती जाती थी। मैं उन पवित्र बातों का वर्णन यहाँ न करूँगा। देशबन्धु देशसेवकों में एक रत्न थे। उनकी सेवा और त्याग बे-जोड़ था। ईश्वर करें उनकी याद हमें सदा बनी रहे और उनका आदर्श हमारे सदुद्योग में सहायक हो। हमारा मार्ग लम्बा और दुर्गम है। हमको उसमें आत्मनिर्भरता के सिवा और कोई सहारा नहीं देगा। स्वावलंबन ही देशबन्धु का मुख्य सूत्र था। वह हमें सदा अनुप्राणित करता रहे। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दे।"

चिरंजीवी लालाजी

लाला लाजपत राय का देहान्त हो गया। लालाजी चिरजीवी होवें। जब तक हिन्दुस्तान के आकाश में सूर्य चमकता है, तब तक लालाजी मर नहीं सकते। लालाजी तो एक संस्था थे। अपनी जवानी के ही समय से उन्होंने देशभक्ति को अपना धर्म बना लिया था। और उनके देश-प्रेम में संकीर्णता न थी। वे अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वे संसार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी। इसीलिए यूरोपियन लोगों पर भी उनका इतना अधिक प्रभाव था। यूरोप और अमेरिका में उनके अनेक मित्र थे। वे मित्र लालाजी को जानते थे और इसलिए उनसे प्रेम करते थे।

उनकी सेवाएँ विविध थीं। वे बड़े ही उत्साही समाज और धर्म सुधारक थे। हममें से बहुत से लोगों के सामने वे भी

इसीलिए राजनीतिज्ञ बने थे कि समाज और धर्म सुधार की उनकी लगन राजनीति में शामिल हुए बिना पूरी होती ही नहीं थी। सार्वजनिक जीवन शुरू करने के कुछ ही समय बाद उन्होंने देख लिया था कि विदेशी गुलामी से देश के स्वतंत्र हुए बिना, हमारे इच्छित सुधारों में से बहुत से नहीं हो सकेंगे। जैसा कि हममें से बहुतों को जान पड़ता है, उन्हें भी जान पड़ा था कि विदेशी परतंत्रता का जहर देश की नस नस में घुस गया है।

ऐसे एक भी सार्वजनिक आन्दोलन का नाम लेना असंभव है, जिसमें लालाजी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण-संस्थाएं खोलीं; वे दलितों के मित्र बने; जहाँ कहीं दुःख दारिद्र्य हो, वहीं वे दौड़ते थे। नवयुवकों को वे असाधारण प्रेम से अपने पास जमा करते थे। सहायता के लिए किसी नौजवान की प्रार्थना उनके पास बेकार न गयी। राजनीतिक क्षेत्र मे वे ऐसे थे कि उनके बिना चल ही नहीं सकता। अपने विचार प्रकट करने में वे कभी भय-भीत न हुए। उस समय भी जब कि कष्ट सहना रोजमर्रा की बात नहीं हो गयी थी, अपने विचार निर्भीकता से प्रकाशित करने के लिए उन्होंने कष्ट सहा था। उनके जीवन में कोई छिपा हुआ रहस्य नहीं था। उनकी अत्यंत अधिक स्पष्टवादिता से मित्रों को अगर प्रायः घबराहट मे पड़ना होता तो उनके आलोचक भी चक्कर में पड़ जाते थे। मगर उनकी यह आदत छूटनेवाली नहीं थी।

मुसलमान मित्रों का लिहाज रखता हुआ भी, मैं दावे के साथ यह कहता हूँ कि लालाजी इस्लाम के दुश्मन नहीं थे। हिन्दूधर्म को सबल बनाने तथा शुद्ध करने की उनकी प्रबल इच्छा को भूल से मुसलमानों या इस्लाम के प्रति घृणा नहीं समझनी चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों में एकता स्थापित करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वे हिन्दू-राज की चाहना नहीं करते थे, किन्तु वे हिन्दुस्तानी राज की इच्छा करते थे। अपने आपको हिन्दुस्तानी कहनेवाले सभी लोगों में वे संपूर्ण समानता स्थापित करना चाहते थे। लालाजी की मृत्यु से भी हम परस्पर एक दूसरे पर विश्वास करना सीखते! और अगर हम निर्भय बन जायँ तो यह तुरत ही संभव है।

उनके लिए एक राष्ट्रीय स्मारक की मांग अवश्य ही होनी चाहिए, और वह होगी भी। मेरी विनम्र सम्मति में कोई स्मारक तब तक संपूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि स्वतंत्रता जरूर प्राप्त करनी है, यह दृढ़ निश्चय न होवे, और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए वे जीते थे इसीके लिए उनकी ऐसी गौरवमयी मृत्यु भी हुई। जरा हम याद करें कि उनकी अंतिम इच्छा क्या थी। उन्होंने नयी पीढ़ी पर हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा उसके गौरव की रक्षा करने का भार दिया है। नयी पीढ़ी में उन्होंने जो विश्वास दिखलाया है, वह क्या उसके योग्य आपको साबित करेगी? और हम बूढ़ों में से जो अभी तक बचे हुए हैं, भारतवर्ष को स्वतंत्र देखने के लालाजी तथा दूसरे अनेक स्वर्गीय

देशभक्तों के स्वप्न को सही बनाने के लिए एक बार सभी मिल कर, महान् प्रयत्न कर, अपने को लालाजी के जैसे देशबन्धु पाने का अधिकारी सिद्ध करेंगे ?

इसके अलावा हम जन-सेवक-संघ (Servants of People Society) को भी नहीं भूल सकते। इस संघ को उन्होंने अपने विविध कामों की उन्नति के लिए स्थापित किया था—और वे सब काम देशोन्नति के लिए थे। संघ के संबन्ध में उनकी उच्चाभिलाषाएँ बहुत बड़ी थी। उनकी इच्छा यह थी कि सारे भारतवर्ष मे से कुछ नवयुवक मिल कर, एक कार्य मे लग कर, एक दिल से काम करें। यह संघ अभी बच्चा ही है। इसे स्थापित हुए बहुत साल नहीं हुए हैं। अपने इस महान् काम को मजबूत पाये पर रखने का समय उन्हे नहीं मिला था। यह भार राष्ट्र के ऊपर और राष्ट्र को इसकी फिक्र करनी चाहिए।

हकीम साहब की स्मृति में

हकीम साहेब अजमल खाँ के स्वर्गवास से देश का एक सब से सच्चा सेवक उठ गया। हकीम साहेब की विभूतियाँ अनेक थीं। वे महज कामिल हकीम ही नहीं थे जो गरीबों और धनियों, सब के रोगों की दवा करता है। मगर वे थे एक दरबारी देश-भक्त; यानी अगर्चे कि उनका वक्त राजों महाराजों के साथ में बीतता था, मगर थे वे पक्के प्रजावादी। वे बहुत बड़े मुसलमान थे, और उतने ही बड़े हिन्दुस्तानी। हिन्दू और मुसलमान दोनों से

ही वे एक सा प्रेम करते थे। वदले में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक समान उनसे मुहब्बत करते थे, उनकी इज्जत करते थे। हिन्दू-मुसलिम एकता पर वे जान देते थे। हमारे झगड़ों के कारण उनके अन्तिम दिन कुछ दुखजनक हो गये थे। मगर अपने देश और देश वन्धुओं में उनका विश्वास कभी नष्ट नहीं हुआ। उनका खयाल था कि आखिर दोनों सम्प्रदायों को मेल करना ही पड़ेगा। यह अटल विश्वास लेकर उन्होंने एकता के लिए प्रयत्न करना कभी नहीं छोड़ा। अगर्चे कि उन्हें सोचने में कुछ समय लगा, मगर आखिर वे असहयोग आन्दोलन में कूद ही पड़े थे, अपनी प्रियतम और सवसे बड़ी कृति तिब्बी कालेज को खतरे में डालते वे झिझके नहीं। इस कालेज से उनका वह प्रबल अनुराग था जिसका अन्दाजा सिर्फ वे ही लगा सकते हैं जो हकीम जी को भली भाँति जानते थे। हकीम जी के स्वर्गवास से मैंने न सिर्फ एक बुद्धिमान और दृढ़ साथी ही खोया है बल्कि ऐसा एक मित्र खोया है जिस पर मैं आड़े अवसरों पर भरोसा कर सकता था। हिन्दू-मुसलिम एकता के बारे मे वे हमेशा ही मेरे रहवर थे। उनकी-निर्णय शक्ति, गंभीरता और मनुष्य-प्रकृति का ज्ञान ऐसे थे कि वे बहुत कर के सही फैसला ही किया करते थे। ऐसा आदमी कभी मरता नहीं है। अगर्चे कि उनका शरीर अब नहीं रहा, मगर उनकी भावना तो हमारे साथ बराबर रहेगी, और वह अब भी हमें अपना कर्त्तव्य पूरा करने को बुला रही है। जब तक हम सच्ची हिन्दू-मुसलिम

एकता पैदा नहीं कर लेते, उनको याद बनाये रखने के लिए हमारा बनाया कोई स्मारक पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। परमात्मा ऐसा करे कि जो काम हम उनके जीते रहते नहीं कर सके, वह उनके निधन से करना सीखें। मगर हकीम जी कोरे स्वप्नद्रष्टा ही नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि मेरा स्वप्न एक दिन पूरा होगा ही। जिस तरह तिब्बी कालेज के जरिये उनका देशी चिकित्सा का स्वप्न फला, उसी तरह अपना राजनीतिक स्वप्न भी उन्होंने जामिया मिल्लिया के ज़रिये फैलाने की कोशिश की। जब कि जामिया मरने मरने हो रहा था, उस समय हकीम साहब ने प्रायः अकेले ही उसे अलीगढ़ से दिल्ली लाने का सारा भार उठाया मगर जामिया को हटाने से खर्च भी बढ़ा। तब से वे अपने को जामिया की आर्थिक स्थिरता के लिए खासतौर पर जिम्मेवार मानने लगे थे। उसके लिए धन जमा करने में अब से वे ही मुख्य मनुष्य थे चाहे वे अपने ही पास से देवें या अपने दोस्तों से चन्दे दिलवावें। इस समय जो स्मारक देश तुरत ही बना सकता है, और जिसका बनाया जाना अनिवार्य है, वह है जामिया मिल्लिया की आर्थिक स्थिति को पक्की कर देना। हिन्दू और मुसलमान, दोनों को इसमें एक समान दिलचस्पी है और होनी चाहिए। अब तक देश मे चार राष्ट्रीय विद्यापीठ किसी तरह अपने को चलाये जाते हैं। इनमें से जामिया मिल्लिया एक है। दूसरे तीन हैं, [illegible]

मेरा ख्याल है कि आश्रम में वे सर्वोत्तम वागवान थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अहमदावाद से 'यंग इण्डिया' का जो पहला अंक निकला, उसमें भी गाढ़े मौके पर उनके हाथ की कारीगरी थी।

पहले उनका शरीर भीम जैसा था किन्तु जिस काम में उन्होने अपने को उत्सर्ग किया, उसकी उन्नति में उस शरीर को गला दिया था। उन्होंने वड़ी सावधानी से मेरे आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन किया था। जव कि मैंने विवाहित स्त्री पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' का सिद्धान्त अपने सहकारियों के सामने पेश किया था, तव उन्होने पहले पहल उसका सौन्दर्य तथा उसके पालन की आवश्यकता समझी और अगर्चे कि उसके लिए जैसा कि मैं जानता हूँ, उन्हे वड़ा कठोर प्रयत्न करना पड़ा था, उन्होने इसे सफल कर दिखलाया। इसमें वे अपने साथ अपनी धर्मपत्नी को भी धीरतापूर्वक समझा बुझा कर ले गये, उस पर अपने विचार जव्रन डाल कर नहीं।

जव सत्याग्रह का जन्म हुआ, तव वे सबसे आगे थे। द० अफ्रिका के युद्ध का पूरा पूरा मतलव समझाने वाला एक शव्द मै ढूँढ़ रहा था। दूसरा कोई अच्छा शव्द न मिल सकने से मैंने लाचार उसे 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का नाम दिया था गोकि वह शव्द वहुत ही नाकाफी और भ्रमोत्पादक भी है। क्या ही अच्छा होता अगर आज मेरे पास उनका वह अत्यन्त सुन्दर पत्र होता जिसमे उन्होने वतलाया था कि इस युद्ध को सदाग्रह क्यों कहना

चाहिए। इसी सदाग्रह को बदल कर मैंने सत्याग्रह शब्द बनाया। उनका पत्र पढ़ने पर इस युद्ध के सभी सिद्धान्तों पर एक एक करके विचार करते हुए अंत में पाठक को इसी नाम पर आना ही पड़ता था। मुझे याद है कि वह पत्र अत्यन्त ही छोटा और केवल आवश्यक विषय पर ही था। जैसे कि उनके सभी पत्र होते थे।

युद्ध के समय वे काम से कभी थके नहीं, किसी काम से देह नहीं चुराई, और अपनी वीरता से वे अपने आसपास में सभी किसी के दिल उत्साह और आशा से भर देते थे। जब कि सब कोई जेल गये, जब फीनिक्स में जेल जाना ही मानों इनाम जीतना था, तब मेरी आज्ञा से, जेल से भी भारी काम उठाने के लिए वे पीछे ठहर गये। उन्होंने स्त्रियों के दल में अपनी पत्नी को भेजा।

हिन्दुस्तान लौटने पर भी उन्हीं की बदौलत आश्रम जिस संयम नियम की बुनियाद पर बना है, खुल सका था। यहाँ उन्हे नया और अधिक मुश्किल काम करना पड़ा। मगर उन्होंने अपने को उसके लायक साबित किया। उनके लिए अस्पृश्यता बहुत कठिन परीक्षा थी। सिर्फ एक लहमे भर के लिए ऐसा जान पड़ा, मानों उनका दिल डोल गया हो। मगर यह तो एक सेकण्ड की बात थी। उन्होंने देख लिया कि प्रेम की सीमा नहीं बांधी जा सकती। और कुछ नहीं तो महज इसलिए कि

अछूतों के लिए ऊँची जाति वाले जिम्मेवर हैं, हमे उन्हीं के जैसे रहना चाहिए।

आश्रम का औद्योगिक विभाग फोनिक्स के ही कारखाने के ढंग का नहीं था। यहाँ हमें बुनना, कातना, धुनना और ओटना सीखना था। फिर मैं मगनलाल की ओर झुका। गोकि कल्पना मेरी थी किन्तु उसे काम में लाने वाले हाथ तो उनके थे। उन्होंने बुनना और कपास के खादी बनने तक की और दूसरी सभी क्रियाएँ सीखीं। वे तो जन्म से ही विश्वकर्मा, कुशल कारीगर थे।

जब आश्रम में गोशाला का काम शूरू हुआ तब वे इस काम में उत्साह से लग गये। गोशाला संबन्धी साहित्य पढ़ा और आश्रम की सभी गायों का नाम-करण किया, और सभी गोरुओं से मित्रता पैदा कर ली।

जब चर्म्मालय खुला, तब भी वे वैसे ही दृढ़ थे। जरा दम लेने की फुर्सत मिलते ही वे चमड़े की कमाई के सिद्धान्त भी सीखने वाले थे। राजकोट के हाईस्कूल की शिक्षा के अलावा, और जो कुछ वे इतनी अच्छी तरह जानते थे, उन्होंने वह सब स्वानुभव की कठिन पाठशाला मे सीखा था। उन्होंने दीहाती बढ़ई, दीहाती बुनकर, किसान, चरवाहों और ऐसे ही मामूली लोगों से सीखा था।

वे चर्खा संघ के शिक्षण विभाग के व्यवस्थापक थे। श्रीयु

वल्लभभाई ने बाढ़ के जमाने में उन्हें विट्ठलपुर का नया गाँव बनाने का भार दिया था।

वे आदर्श पिता थे। उन्होंने अपने बच्चों को, दो लड़कियों और एक लड़के को, जो अब तक अविवाहित हैं, ऐसी शिक्षा दी थी कि जिसमें वे देश के लिए उपहार बनने के योग्य हों उनका पुत्र केशव यंत्र-विद्या में बड़ी कुशलता दिखला रहा है। उसने भी अपने पिता के ही समान यह सब मामूली लुहार बढ़इयों को काम करते देख कर सीखा है। उनकी सबसे बड़ी लड़की राधा ने, जिसकी उम्र आज अठारह वर्ष है, अपने मत्थे विहार में स्त्रियों की स्वाधीनता के सम्बन्ध में एक मुश्किल और नाजुक काम उठाया था। सच ही तो, वे यह पूरा पूरा जानते थे कि कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए। और वे शिक्षकों को प्रायः इस विषय पर गंभीर और विचार पूर्वक चर्चा में लगाया करते थे।

पाठक यह न समझें कि उन्हें राजनीति का कुछ ज्ञान ही नहीं था उन्हें ज्ञान जरूर था किन्तु उन्होंने आत्मत्याग का रचनात्मक और शान्त पथ चुना था।

वे मेरे हाथ थे, मेरे पैर थे, और थे मेरी आँखें। दुनिया को क्या पता कि मैं जो इतना बड़ा आदमी कहा जाता हूँ, वह बड़प्पन मेरे शान्त, श्रद्धालु, योग्य, और पवित्र स्त्री तथा पुरुष कार्यकर्त्ताओं के अविरल परिश्रम, और गुलामी पर कितना

निर्भर है ? और उन सब मे मेरे लिए मगनलाल सबसे बड़े, सबसे अच्छे और सबसे अधिक पवित्र थे।

यह लेख लिखते हुए भी अपने प्यारे पति के लिए विलाप करती हुई उनकी विधवा की सिसक मैं सुन रहा हूँ मगर वह क्या समझेगी कि उससे अधिक विधवा—अनाथ—मैं ही हो गया हूँ ? अगर ईश्वर में मेरा जीवन्त विश्वास न होता तो आज मै उसकी मृत्यु के शोक मे पागल हो गया होता, जो कि मुझे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्रिय था, जिसने मुझे कभी धोखा न दिया, मेरी आशाएँ न तोड़ी, जो अध्यवसाय की मूर्त्ति था जो आश्रम के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी अंगों का सच्चा चौकीदार था। उनका जीवन मेरे लिए उत्साह-दायक है, नैतिक नियम की अमोघता और उच्चता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन्होंने अपने ही जीवन में मुझे एक दो दिनों मे नही, कुछ महीनों मे नही, बल्कि पूरे चौबीस वर्षों तक की बड़ी अवधि में—हाय जो अब घड़ी भर का समय जान पड़ता है—यह साबित कर दिखलाया कि देश-सेवा, मनुष्य-सेवा और आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान आदि सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

मगनलाल न रहे, मगर अपने सभी कामों में वे जीवित हैं, जिनकी छाप आश्रम की धूल में से दौड़ कर निकल जाने वाले भी देख सकते हैं।

———

एक महान् देशभक्त

श्री उमर सुभानजी की बड़ी अचानक और अकाल मृत्यु हो गई। हमारे बीच से एक महान् देशभक्त और कार्यकर्ता उठ गया। एक समय बम्बई में श्री उमरसुभानी की तूती बोलती थी। बम्बई का कोई सार्वजनिक कार्य उमर सुभानी के दिन बिगड़ने से पहिले ऐसा न होता था जिसमें उनका हाथ न हो। फिर भी वह कभी सामने मंच पर नहीं आते थे, मंच को तय्यार कर देते थे। बम्बई के सौदागरों में वे बहुत प्रिय थे। उनकी सूझ प्रायः बहुत तीक्ष्ण और बेलाग होती थी। उनकी उदारता दोष की हद तक पहुँच जाती थी। पात्र-कुपात्र सब ही को वह दान दिया करते थे। प्रत्येक सार्वजनिक कार्य के लिए उनकी थैली का मुँह खुला रहता था। जैसा उन्होंने कमाया वैसा ही खर्च भी किया। उमर सुभानी हर काम की हद कर देते थे। उन्होंने आढ़त के कार्य में भी हद कर दी और इसीसे उनपर तबाही आ गई। एक महीने में ही उन्होंने अपनी आमदनी को दुगना कर लिया और दूसरे हो महीने में दिवाला पीट लिया। उन्होंने अपनी हानि को तो बहादुरी से सह लिया परन्तु उनके अभिमान ने उन्हे सार्वजनिक कार्यों से हटा लिया क्योंकि अब उनपर इन कामों में लाखों रुपया खर्च करने को नहीं था। वह माध्यमिक रास्ते पर चलना जानते ही नहीं थे। यदि चन्दे की फिहरिस्त में सबसे पहिले वह नहीं रह सकते तो बस फिर वह

उस फिहरिस्त की तरफ मुंह मोड़ कर भी न देखेंगे । इसीलिए गरीब होते ही वह सार्वजनिक कार्यों से हाथ खैंच कर बैठ गये। जहाँ कही और जब कभी कोई सार्वजनिक कार्य होगा उमर सुभानी का नाम बिला याद आये न रहेगा और न उनकी देश की सेवा ही कोई भूल सकता है । उनका जीवन हर अमीर नौजवान के लिए आदर्श और आगाही दोनों है। उनका जोशभरा देशभक्ति का कार्य आदर्श योग्य है। उनका जीवन हमें बताता है कि रुपया रख कर भी एक मनुष्य काबिल हो सकता है और उस रुपये को सार्वजनिक कार्यों की भेंट कर सकता है। उनका जीवन अमीर नौजवानों को जो बड़े बड़े काम करने की धुन में रहते है आगाही भी देता है।

उमर सुभानी कोई निर्बुद्धि सौदागर नहीं थे । जिस समय उनको हानि हुई उस समय और भी बहुत से सौदागरों को हानि हुई थी। उन्होंने जो बहुत सी रूई भर ली थी उसको हम मूर्खता नही कह सकते । वह बम्बई के सौदागरों में अच्छा स्थान रखते थे फिर भी उन्होंने इस प्रकार और लाभ के ध्यान से रुपया क्यों लगाया ? परन्तु वह तो देशभक्त की हैसियत से हौसला बढ़ाये रखना अपना कर्तव्य समझते थे । उनका जीवन और उनका नाम जनता की जागीर था और उन्हें बहुत सोच-समझ कर काम करना चाहिए था । मैं समझता हूं कि काम बिगड़ जाने के बाद सबलोग अक्लमन्दी की बातें बताया करते हैं परन्तु मैं उनके दोष ढूँढने के अभिप्राय से कुछ नहीं कह रहा

हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि हम सब इस देशभक्त के जीवन से शिक्षा लें। आनेवाली सन्तान को किसी काम के बिगड़ जाने से शिक्षा लेनी ही चाहिए। दूसरों की गलतियों से भी हमें कुछ सीखना ही चाहिए। हम सब को उमर सुभानी की तरह अपने हृदय मे देशप्रेम रखना चाहिए! हम सबको दान देने में उमर सुभानी होना चाहिए। हम सबको उमर सुभानी की तरह धार्मिक द्वेष से दूर रहना चाहिए। परन्तु हम सबको उमर सुभानी की तरह बेपरवाह और असावधान होने से बचना चाहिए। यही इस देशभक्त ने हम सबके लिए वसीयत छोड़ी है और हम सबको उस वसीयत से लाभ उठाना चाहिए।

बड़ो दादा

गाँधी जी को तार मिला कि ता० १९ की सुबह 'बड़ो दादा' जो शान्ति निकेतन के पितामह के समान थे चिरंतन शांति में लीन हो गये हैं। तार पढ़ते ही ६: सात महीने पहले जिस प्राचीन ऋषिके दर्शन किये थे उनकी मूर्ति नज़र के आगे खड़ी हो गई 'आनन्दम् ब्रह्मणे विद्वान्न बिभेति कदाचन' (ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भय को प्राप्त नही होता)। इस महावाक्य का बारम्बार उद्गार करती हुई वह मूर्ति उपस्थित हुई और इस महा वाक्य की प्रतिध्वनि कान पर पड़ने लगी। क्या

ही उस दिन का उनका उल्लास, कैसा उस दिन का उनका बालोचित आनन्द ! गाँधी जी विदा लेते लेते उनके पैरों पड़े। उस समय उन्होंने कहा था 'आपका आगम जीवन की सूखी मरुभूमि में जल विंदु के समान है। इस दिन की याद मे मेरी भवाटवी को यात्रा मुझे मुश्किल न मालूम हो तो अच्छा हो' इन वचनों में केवल गाँधी जी के वियोग का दुख न था। इन मे तो भगवद्वि-योग का दुख था। भगवद्भक्ति तो इन्होने अपने लम्बे आयुष्य मे खूब की थी। भगवान का कीर्तन भी लेखों और प्रवचनों के द्वारा बहुत कुछ किया था। परन्तु वह सब वियोग भक्ति थी। परन्तु उस दिन तो 'बड़ो दादा' संयोग भक्ति के लिए तड़पते थे। अब कब तक वियोग रहेगा ? विदा लेते लेते गाँधी जी बोले, 'आप जिसका दर्शन चाहते हैं उसका जब तक दर्शन न हो जाय तब तक इस देह को टिका रखना उन्होंने उत्तर में कहा 'हाँ' और ईश्वर को भी कैसी कृपा ! उस देह की जब वियोगभक्ति के लिए भी जरूरत न रही, वह पके हुवे फल की तरह गिर पड़ी। 'जरूरत न रही,' यह इसलिये कहता हूँ कि जिस वस्तु के लिये 'बड़ो दादा' तरस रहे थे, वह उनको प्राप्त हो चुको थी। पिछले दिसम्बर की १५ तारीख को हम वर्धा थे, उस समय गाँधी जी को एक छोटा सा पत्र मिला। उसमे यह लिखा हुआ था, 'ईश्वर की कृपा है कि आपकी प्रार्थना फली है। जिसे प्राप्त करने के बाद और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता, वह मुझे प्राप्त हो गया है। इस प्रकार वे—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मान्यते नाधिकं ततः
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

इसमें वर्णन की हुई स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। और महीने भर के बाद ही तो उन्होंने देह को सर्प की केंचुली की तरह त्याग दिया।

× × ×

इस महर्षि के दर्शन के लिए शान्ति निकेतन में सालभर में एकाध बार भी जाना प्राप्त हो, तो यह भी एक लाभ ही था। उनके पास जा कर बैठें, उनके चरणस्पर्श करें, चाहे वे कुछ बोलते न हों फिर भी केवल उनकी मौनधारी शांत मुद्रा को भी देखते रहे, तो भी यही प्रतीत होगा कि मानों उसमें से स्नेह और करुणा सी फूट रही है। उनसे परिचय प्राप्त करने की तो जरूरत ही क्या थी? यदि उन्होंने यह सुना कि आप किसी भी प्रकार से देश की छोटी मोटी सेवा करते हैं तो उनकी आपके ऊपर सदा ही जमी दृष्टि रहेगी। और बालक की तरह वे आपके साथ बातें ही किया करेंगे। ८८ वर्ष की उमर में भी उनकी स्मृति बहुत मंद न हो पायी थी, बात बात में पाश्चात्य तत्व ज्ञान के अपने अगाध ज्ञान-भण्डार मे से कुछ वचन सुनाते, उसका अपने तत्व ज्ञान के साथ मुकाबला करते, और अपने कथन के समर्थन मे शंकराचार्य के लिखे वाक्यों को उद्धृत करते थे। उनका अपने शास्त्रो का अध्ययन जितना गहरा था, उतना ही अन्य शास्त्रों का भी था। ईसाई सिद्धान्तों के बारे मे भी मैने उन्हे ऐसे ज्ञान

के साथ बात करते हुये सुना है कि विद्वान् ईसाई भी उसे सुनकर लज्जित होते थे। 'तत्त्व बोधिनी', 'भारती', तथा दूसरे मासिक उनके तत्वाभ्यास के लेखों से भरे पड़े थे। परन्तु उनका अध्ययन इतना गहरा होते हुये, और टागौर कुटुम्ब को सहज-प्राप्त ऐसे पाश्चात्य संस्कार वाली अनेक व्यक्तियों के संसर्ग में होते हुये भी आर्य संस्कृति और भारतवर्ष के प्रति उनका प्रेम सदा अवाधित रहा। कविवर का संस्कृत और विशेष कर उपनिषदों के प्रति जो प्रेम है। उसके लिए वे जितने महर्षि के ऋणी हैं उतने ही 'बड़ो दादा' के भी हैं। उनके जो निवन्ध व काव्य और पुस्तकें प्रकशित हुई हैं, उनमें आर्य संस्कृति का उनका अध्ययन व अनुराग और देशोद्धार की तीव्र:आकांक्षा जहाँ तहाँ प्रकट होती है। वे अपने को धन्य माने जिन्हें ऐसे ऋषि के आशीर्वाद प्राप्त हों कि जिन्होंने अपने देश का करीव करीब एक शताब्दि का इतिहास देखा था, अपने पूर्व जीवन में अनेक सुधारक प्रवृत्तियों में हाथ बंटाया था और पश्चिम के प्रवाह के सामने अपना दिमाग कब्जे में रक्खा था।

× × ×

गाँधी जी का और उनका सम्बन्ध बहुत पुराना नहीं था। हाँ, दक्षिण अफ्रीका से जव गाँधी जी लौटे थे तब शायद उन्होंने 'बड़ो दादा' के साथ कुछ थोड़ा समय बिताया होगा। लेकिन असहयोग के वाद उनका यह सम्वन्ध अधिक गहरा होता गया। गाँधी जी ने इस मौके पर जव कभी कोई नयी वात कि की तव

उनकी तरफ से आशीर्वाद और प्रोत्साहन का पत्र अवश्य ही जाता था। जब से शान्ति-निकेतन की स्थापना हुई है तब से वे सार्वजनिक जीवन से निवृत होकर शान्तिनिकेतन के बालकों को थोड़ा-बहुत पढ़ाते रहते हैं। 'गीतापाठ' पुस्तक, इन बालकों को सुनाये गये प्रवचनों का ही संग्रह है। परन्तु फिर भी उनको देशोन्नित का विचार तो रहता ही था। वे बार बार यही कहा करते थे कि 'मैं एक ऐसे नेता के लिए तड़पा करता था कि जो देश को सच्चा मार्ग दिखावे और ईश्वर ने गांधी को 'और उनके कार्य को देखने का 'मुझे सौभाग्य प्राप्त कराया है। वे ८० वर्ष के हुए थे फिर भी अख-बार नियमित पढ़ते पढ़ाते थे और अपने विचारों का विनिमय करते थे। अपने पास आने वाले युवकों को प्रोत्साहन देते थे और बहुत उत्साह में आ जाते थे तो गांधी जी को पत्र लिखते थे। 'मेरे हाथ चलते होते तो कैसा अच्छा होता। मैं खुद चरखा चला कर आपके कार्य में मदद करता, आज तो विचार ही से मदद करता हूँ।' गांधीजी को उन्होंने अनेक बार यह कहा था। गांधीजी तो उनके चरणों मे जाकर बैठे थे उनको गुरू के स्थान पर पूज्य मानकर ही उनके पास बैठे। लेकिन उन्होंने तो शिष्य को ही गुरू मानने की वृत्ति दिखाई थी।

× × ×

कैसा उनका प्रेम और कैसी उनकी नम्रता ! गांधी जी के बारे मे अनुचित टीकायें सुनकर आग बबूला हो उठते थे, और

और कभी कभी तो उचित टीका सुनकर भी वे उत्तेजित हो उठते थे। उन्हें गांधी जी की प्रवृत्ति के लिए ऐसा ही तीव्र पक्षपात था। 'मैं तो शास्त्र वचन बोल कर ही बताता हूँ आपतो उसका आचरण कर रहे हैं' सरल भाव से यह कह कर गांधी जी को उन्हों ने आखीरी मुलाकात में कितने ही बार शरमाये थे। इतना ही नहीं उन्हे तो गांधी जी की सेना का सबसे आखीरी कोटि का सैनिक भी प्राणप्रिय था। ऐसी विरल देशभक्ति से रँगे हुए इस हृदय के आशिर्वचनों ने गाँधी जी के आशिर्वाद को चिरजागृत रखने में कम हिस्सा नहीं दिया होगा।

× × ×

और यह प्रेम सबल कारणों के ऊपर बँधा हुआ था। असहयोग पर पूरा विचार करके उन्होंने उसे हिन्दुस्तान की जनता को मिला हुआ एक अमोघ धर्मशास्त्र माना था और ईश्वर ने उन्हे खुद जैसी सेवा करने की कामना थी वैसी करने के लिये निमित्त बनाये हुए दूसरे लोगों को उत्पन्न किये थे यह देख कर उनका उदार हृदय प्रेम से भर आता था। १९२१ मे अपने मित्रो को लिखे हुए उनके कुछ बङ्गाली पत्र मेरे पास हैं। एक पत्र में की हुई असहयोग की समालोचना हृदयस्पर्शी हैः—

'योगशास्त्र में लिखा है कि सुखी मनुष्य को देख कर मैत्री भाव धारण करने से चित्त की ईर्षा रूपी मलीनता उड़ जाती है। दुखी जन को देखकर कारुण्य भाव धारण करने से चित्त का दूसरों का अपकार करने की वृत्ति रूपी मैल धुल जाती है। पुण्य-

शील जन के प्रति अनुमोदन भाव धारण करने से चित्त का असूया रूपी मैल धुल जाता है। इसके बाद यह मंत्र दिया हुआ है: 'अपुण्यशीलेषु य औदासीन्यमेव भावयेत, नानुमोदनम् न वा द्वेषम्' अर्थात् धर्मपरायण व्यक्ति के प्रति खास करके ब्रिटिश राजपुरुष जैसे दिन दोपहर को धाड़ डालनेवालों के प्रति—औदासीन्यभाव (असहयोग भाव) रखना यही कर्त्तव्य है—अनुमोदन का भाव ही नही और द्वेष का भाव भी नहीं। इतने मे मेरा सारा कथन आ जाता है" दूसरे एक पत्र में लिखते है:—

"हम लोगों ने धीरे धीरे इस राज्य के राजनीतिज्ञो से विषमिश्रित दान लेकर अपना कर्ज अनहद बढ़ा लिया है। इस हालत मे नया कर्ज करना बन्द करके पुराना चुकाने के लिए अभी हम लोगों के पास जो रहे सहे साधन मौजूद है उनका जीर्णोद्धार करने वाले को क्या आप रोकेंगे और कहेगे कि 'नही नही दान लिये जाओ' ? घी खाना लाभदायी है घी न खाना सूख जाने के बराबर है—अर्थात् 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' (करज करके भी घी पीना चाहिए)।

मै तो सब बातों की एक बात यह समझता हूँ कि अंग्रेज राजनीतिज्ञो के साथ सहयोग करना ऐसा ही है जैसे वगुले का बिल्ली के साथ बैठ कर थाली मे भोजन करना। हम सब जानते हैं कि गाँधी काम, क्रोध, मद, मत्सर के कीचड़ मे से निकल कर बहुत ही ऊँचे उठे हुये है और वे वहीं से अपना काम करते हैं। गाँधी मे रणोंन्मत्तता जैसी कोई वस्तु नहीं है। वह अहिंसा

का एकान्तिक सेवक है थे ऐसे नहीं कि जोश में आकर कोई प्रवृति कर बैठे।

जिसे हमलोग पसंद करते हैं वैसे कामों को करने में भी वे जोश या नशे में आकर कुछ न करेंगे। इसलिये इसी में श्रेय है कि उनके मुक्त, विशुद्ध, साधुजनोचित सत्कार्य मे सर्वान्तःकरण पूर्वक शामिल हों। मेरा तो ध्रुव विश्वास है कि गाँधी के जैसा विशुद्ध सोना इस घोर कलिकाल मे मिलना दुर्लभ है। इस सोने का व्यापार क्यों न करलें?

अपने प्रीतिभाजन, अपने पास बैठने वालों, और उनसे सलाह लेने वालो को इस प्रकार अपना अन्तर मथन करके उसका नवनीत देने वाले इस महासभा के विचारों से जैसा कि ऊपर कहा गया है असहयोग को कुछ कम पुष्टि नहीं मिली है?

देश सन्मार्ग पर चढ़ा है। गिरता पड़ता भी वह अब उसी में चला जायगा, उसे छोड़ेगा नहीं। यह विश्वास ही उनके लिये काफी था। वे स्वराज्य लेने के लिये अधीर न थे। उनके लिये तो देश को एक कदम आगे वढ़ा हुआ, अर्थात् सन्मार्ग पर जाता हुआ देखना ही बस था।

× × ×

इस विरल पुरुष के देशहित विषयक विचार तो देखें। जिस असहयोग का मूल गाँधी जीं के गीताभ्यास में है उस गीता के प्रति 'बड़ोदादा के अनुराग के भी एक दो उदाहरण देकर उनके इस पुण्य स्मरण की समाप्ति करेंगे।

"गीता हमारे मन्दिर का बिना तेल जलता अखंड दीपक है। पश्चिम का सारा तत्वज्ञान इकट्ठा होकर चाहे जितना प्रकाश क्यों न फैलावे हमारे इस छोटे से दीपक को अखंड ज्योति उसे मंद कर देगी, उसका प्रकाश उससे कहीं अधिक है। इस दीपक से जो एक सूक्ष्म वायु निकलती है उससे हमारे देश की वायु पवित्र होती है और उस वायु से प्रेरित मेघ से शान्ति जल की बूंद बूंद टपक कर हमारे त्रितापदग्ध हृदय को ठंडा करती है—वह जल मृतसंजीवनी-सुधा के समान है। हमारा शरीर थककर जब हार बैठता है, किसी काम में चित्त नहीं लगता उस समय एक अमृत विन्दु भी हमे स्फूर्ति देती है—'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'

साधन और साध्य के सम्बन्ध में वे लिखते हैं:—

'पृथ्वी को कितने ही युगों की तपस्या के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई है। पृथ्वी के अंधकार मे आत्मा प्रकाश है, मरु भूमि का नंदनवन है। आत्मा को प्राप्त करने पर पृथ्वी की श्री-शोभा बदल गई है। सागर-सहित पृथ्वी का समस्त धन एक तरफ रक्खा जाय और दूसरी तरफ आत्मा को रक्खा जाय तो उस धन की कोई कीमत न होगी। यदि इतना ही होता कि आत्मा 'है' तो उसे जानने की कोई भी परवा न करता। परन्तु आत्मा तो 'अस्ति' 'भाति' 'प्रिय' इन तीन अमोल रत्नों का बना हुआ है। 'अस्ति' में आत्मा की ध्रुव प्रतिष्ठा, 'भाति' मे आत्मा का प्रकाश और 'प्रिय' में आत्मा

का प्रेमामृत है। कूएँ मे कीचड़ हो जाने पर जब उसका जल मैला हो जाता है तब कूएँ को जिस प्रकार उलेच कर साफ करना पड़ता है उसी प्रकार विवेक वैराग्य और संयम के द्वारा आत्मा को शुद्ध रखना पड़ता है। वैसा न किया जाय तो साधक आत्मा का उपभोग नहीं कर सकता। संस्कृत भाषा मे जैसे व्याकरण अलंकार, काव्य, साहित्य सब आ जाता है, उसी तरह समग्र आत्मा मे ज्ञान, वीर्य, प्रेम, आनन्द सब आ जाता है। यह सहज ही समझ में आ सकता है परन्तु साथ ही यह भी समझना जरूरी है कि संस्कृत भाषा को व्युत्पत्ति जानने की लिये सब से पहले संस्कृत भाषा को व्याकरण जानने की जरूरत होती है—कारक, विभक्ति, सर्वनाम, उपसर्ग आदि संस्कृत भाषा के भिन्न भिन्न अंग-प्रत्यंगो का अच्छी तरह अध्ययन करना पड़ता है। इसके बाद इन सब अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान एकत्रित करके व्याकरण के ज्ञान का भाषा के व्यवहार के लिए किस तरह उपयोग किया जा सकता यह तो हाथ मे कलम लेकर सीख सकते हैं। यह न किया जाय तो संस्कृत काव्य साहित्य का रस लेने का अधिकार प्राप्त नही होता है। विद्यार्थी आचार्य को कहे कि एक तो व्याकरण पढ़ने मे ही कुछ मजा नहीं आता है और फिर शब्दों को इकट्ठे करके वाक्य बनाना वड़ी मिहनत का काम है इसे तो शाकुन्तल नाटक ही क्यो न पढ़े ? जिस प्रकार यह उसकी दुराकांक्षा समझी जावेगी, उसी प्रकार साधक भी यदि आचार्य को कहे 'तत्वज्ञान

नोरस है शमदमादि साधन अतिशय कठिन है, इन सब में मेरा मन नहीं लगता—आध्यात्मिक प्रेम-आनन्द फौरन् ही मिल जाय ऐसा कुछ सदुपदेश दीजिए,—तो यह उससे भी बढ़कर दुराकांक्षा है। पातञ्जल के योग-शास्त्र में पाँच सीढ़ियाँ बताई गई हैं। श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। गीता में भी उपदेश मे पहली वस्तु श्रद्धा है—आत्मा के ध्रुव अस्तित्व के प्रति विश्वास। दूसरी सीढ़ी वीर्य अर्थात् शमदमादि साधनो में और अनासक्त रह कर अबाधित रूप से कर्त्तव्य में लगे रहना, स्मृति—आध्यात्मिक शक्ति का अनुभव, समाधि यानी एकाग्रता और प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान।·········ये पाँच सीढ़ियाँ जब पूरी हो जाती हैं तब आनन्द का फव्वारा साधक के मगज़ में फूटता है।"

'बड़ो दादा' की उत्तरावस्था का बहुत सा समय इन साधनों के करने ही में जाता था। चार पाँच वर्ष पहले तो कुछ कुछ लिखने का काम भी करते थे। ८५ वर्ष की उम्र में तो इन्होंने बङ्गाली शार्ट हैंड (लघुलिपि) की एक अपनी ही नयी तर्ज निकाली थी। और उसके लिये वे सूचनायें अपने मोती के दाने से अक्षरों मे लिखते थे। जब आँखो से देखना बन्द हुआ और लिखना बन्द करना पड़ा तब भी उपनिषद आदि पढ़वाना जारी रक्खा था। अपने मनोरंजन के लिये काग़ज काट काट कर तरह तरह की संदूकें बनाते और बालकों को देते। छोटे छोटे काव्य बनाते। कोई उनकी गोद मे हमेशा खेलने वाली गिलहरी पर, तो

कोई रवि बाबू या वैसे ही कोई दूसरे चिरंजीवी के जन्म दिन पर। आखिर को यह प्रवृति भी कम की। भगवद्वियोग दुःख उन्हें चुभने लगा और भगवत्कृपा से अंतकाल में वे जिसके लिये तड़पते थे वे वही उन्हें मिल गया।

लाला लाजपतराय

एक मित्र की स्मृति

७ हजार की इस दूरी पर बैठे-बैठे मेरे लिये यह अनुभव करना कि अब मैं उन्हे फिर न देख सकूँगा बड़ा ही कष्टकारक है। अन्तिम समय तक उनके सन्देश मेरे पास आते रहे और उनकी मृत्यु के बाद भी मुझे खुद उनके हाथ का लिखा हुआ एक पत्र मिला। ये स्मृतियाँ लिखते समय मैं उनके सम्बन्ध में केवल उन्हीं बातों पर विचार कर सकता हूँ जो मैंने उनके जीवन-काल मे उनमें देख पाई है। लालाजी बड़े हँसोड़ और खुश मिजाज व्यक्ति थे। हृदय के इतने उदार थे कि उनका बालसुलभ स्वभाव प्रायः हर अवसर पर बाहर प्रकाश मे आजाता था। कभी तो किसी बात को सुन कर वह गम्भीर-रूप के उत्तेजित हो जाते और कभी देश के किसी अपमान को देख कर उस पर मारे क्रोध के जलने लगते। दूसरे ही क्षण बातचीत के सिलेसिले मे मनुष्य-स्वभाव की कमजोरी और स्खलनशीलता के जिक्र के आने पर वह प्रसन्नचित्त हो कर हँसते दिखाई देते; अतः उन्हे

देखनेवाले से हृदय में प्रायः यही भाव उठते कि उनकी मुद्रा कभी तो गम्भीर से प्रसन्न बन जाती है और कभी प्रसन्न से गम्भीर।

परिणाम में वह हमेशा किसी चीज का अच्छा पहलू ही देखा करते और जब कभी उनके मानव-भाव को स्पर्श किया जाता तो जितनी जल्दी वह किसी बात को भूल जाते या क्षमा कर देते थे उतनी जल्दी मेरे जाने हुए में से कोई शायद ही करता हो। उनके बुढ़ापे के साथ उनकी यह उदारता दिन-ब-दिन बढ़ती ही गई। उनके स्वभाव की यह एक आश्चर्यकारक विशेषता थी। उन्होंने अपना बाल-सुलभ स्वभाव अपने अन्तिम समय तक जैसा का तैसा कायम रक्खा।

जब मैं भूतकाल की ओर दृष्टि डाल कर विचार करता हूँ कि अधिकारियों के हाथों लालाजी को कितना कष्ट सहना पड़ा तो उनकी क्षमा की विमलता मुझे आश्चर्य में डालती है। पहले-पहल १९०७ ई० के हाहाकार-पूर्ण वायुमण्डल में उनके देशनिकाले और कैद का समय आया। शत्रुभाव उत्पन्न कर लेने के लिये इतना कारण किसी के भी लिये काफी हुआ होता, क्योंकि यह कार्य ऐसा ही अनाहूत और दुष्टता-पूर्ण था। लेकिन वह लौटे और उसी रूप में लौटे जैसे पहले थे। और देश की उस समय की राजनीति पर अपनी व्यवहार चातुरी के बल पर संयम-पूर्ण और मध्यस्थो का-सा प्रभाव डालने लगे। वापस आने

पर उनकी देश में जैसी असाधारण ख्याति फैली उसके कारण उन्हें कभी भी गर्व नहीं हुआ।

यही बात बार-बार होती रही। उनके अमेरिका के अनुभव बड़े कड़ुए थे। एक ओर वे लोग थे, जो उन्हे गुप्त साधनों द्वारा हिंसा-पूर्ण क्रान्ति की योजनाओं में हाथ बँटाने के लिए ललचाने की कोशिश कर रहे थे। दूसरी ओर वे लोग थे जो पल-पल पर उनकी देख-रेख रखते और उनके भाषण एवं बात-चीत मे असावधानी के कारण निकलने वाले प्रत्येक शब्द की घात में लगे रहते थे। तिस पर भी वह तो शुरू से आखिर तक वैसे हो निर्भीक, और बाल-सुलभ स्वभाव वाले बने रहे। मै उन लोगों से मिला हूं, जो उन्हे अमेरिका में जानते थे और उन्होंने मुझसे कहा है कि लालाजी ने वहाँ पर भारत के राजनैतिक नेताओं के प्रति लोगो में गंभीर प्रतिष्ठा के जैसे भाव भर दिये हैं, वैसे शायद पहले और किसो ने नहीं भरे थे। मुझे विश्वास है कि जब मैं थोड़े समय बाद अमेरिका जाऊँगा तो लोगों का यह कथन अपनी आँखों सच्चा सिद्ध होता हुआ देखूँगा।

असहयोग के दिनों मे वह फिर कैद किये गये। एक वकील की हैसियत से वह यह जानते थे कि उनकी गिरफ्तारी गैर-कानूनी है तथापि एक निष्क्रिय प्रतिरोधक के नाते वह उसके विरुद्ध कोई शिकायत नही कर सकते थे। इस कैद से उनके स्वास्थ्य को धक्का पहुँचा और जब वह जेल से छूटकर आये तो उनका आन्तरिक स्वास्थ्य और शरीर-संगठन बहुत बिगड़ चुका था। लेकिन फिर

भी राजनैतिक क्षेत्र में गरम दल को न अपनाते हुए उन्होंने अपने उसी संयमपूर्ण उदार मत का सहारा लिया।

एक बात उन्होंने दिल से स्वीकार की और वह थी खादी-आन्दोलन की बात। गर्मी और जाड़े के सब वस्त्र उन्होंने पंजाब की बनी खादी के पहनने का प्रबन्ध कर लिया था और सिवा खादी के दूसरी कोई चीज़ नहीं पहनते थे।

पिछले कुछ वर्षों मे उन्हे बार-बार कई तरह के अपमान सहने पड़े थे। उस दिन इनकी पराकाष्ठा हो गई जिस दिन लाहौर रेलवे स्टेशन के बाहर उनपर और उनके बचानेवाले मित्रों पर लाठी के प्रहार किये गये थे। मेरे लिए इतनी दूरी से यह जान पाना कठिन है कि इन प्रहारों ने उनकी मौत को जल्दी बुलाने मे कितना काम किया; लेकिन एक बात मै जानता हूँ और वह यह है कि कमजोर दिल और दुर्बल स्वास्थ्य के लिए, जिससे वह अपने कारावास के बाद से पीड़ित रहते थे, इस तरह के आक्रमण काफी उत्तेजक होते है और यह आक्रमण ही उनके लिये घातक सिद्ध हुआ है। वह सदा से एक बहादुर आदमी थे, शूरो मे शूर थे। और इस कारण उनकी दृष्टि से तो जिस मौत से वह मरे उससे अच्छी कोई मौत हो ही नहीं सकती। लेकिन हम लोग, जो उनसे इतना प्यार करते थे यह दिली इच्छा रखते थे कि वह अपनी जान को इस तरह जोखों में न डालते तो अच्छा होता। ६३ वर्ष की उम्र होते हुए भी सचमुच वह बूढ़े हो चुके थे क्योंकि उनका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया था और पिछले

तीन वर्षों से तो वह बहुत ही अधिक बूढ़े होते जा रहे थे। इस दृष्टि से वह स्थान उनके योग्य नहीं था; फिर भी यह देख कर खुशी होती है कि वह कभी पलभर के लिए भी परीक्षा से पीछे न हटे, उलटे इतनी बहादुरी के साथ उन्होंने प्रत्यक्ष मृत्यु का सामना किया।

पंडित गोपबन्धु दास

बहुत वर्ष की बात है। मैं पंडित गोपबन्धु दास से पहले पहल बिहार विद्यार्थी परिषद् में मिला था। वे कुछ विद्यार्थियों को लेकर उड़ीसा से आये थे और आते ही अपनी उपस्थिति से सारी परिषद् को उन्होंने चमका दिया था। उस समय 'असहयोग' खूब जोरों पर था और हमारी आशाएँ खूब बढ़ी हुई थीं। बड़ी उत्सुक्ता से हम महान घटनाओं की आशा कर रहे थे। अब मुझे अच्छी तरह याद है कि किस तरह उसी परिषद् के मौके पर हिन्दुओं और पारसियों के साथ साथ मुझे भी एक मस्जिद में बुलाया था, और किस तरह मुसलमानों के नेता ने स्वयं मस्जिद के अन्दर हिन्दू-मुसलमान एकता पर भाषण देने के लिये मुझसे कहा था। शुद्ध खादी के कपड़े पहने पंडित गोपबन्धु भी वहाँ थे और वे भी बोले थे। वह बड़ा ही प्रभावोत्पादक और धार्मिक उत्साह-भरा प्रसंग था। परिषद् में हमने खुले दिल से राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव को

मंजूर किया था। परिषद में आध्यात्मिक उत्कटता दिखाई देती थी जो इस तरह की सभा में मैंने बहुत कम देखी है। गोपबन्धु सारी परिषद के प्राण थे। और मैं देखता था कि विद्यार्थी भी उन्हे अधिक हृदय से कितना प्यार करते थे।

इसके बाद उड़ीसा की अवस्था के संबंध में वे शान्ति-निकेतन में मुझसे मिलने के लिये आये थे। उस समय वे मुझे इतने बीमार नजर आये कि उन्हें देख कर फौरन ही मुझे उनके लिए विस्तर तैयार करना पड़ा। बुख़ार तो था ही 'पर वे विस्तर पर पड़ने को राज़ी कब होने को थे ? किन्तु थोड़ी ही देर बाद ऊँचा बुखार चढ़ आया, हाथ और सर जलने लग गये। और जब तक वे अच्छे न हो गये, मेरे ही पास रहे। बीमारी के ऐसे प्रसंगों पर, और इधर ये प्रसंग बहुत बढ़ गये थे, उनसे निकट परिचय करने, मित्र और भाई की तरह प्यार करने का मुझे अवसर मिला। वे बीमारी से कभी डरने वाले न थे। बल्कि बराबर उनसे लड़ते रहे। उनका धीरज और सहन-शीलता अवर्णनीय थी। पर उनके गरीब शरीर को बहुत भारी कष्ट सहने पड़े थे। जिनके कारण शरीर बहुत क्षीण हो गया था।

पुरी मे तो मैं उनके मित्र और मेहमान की हैसियत से बहुत समय तक दिन रात उनके साथ रहा। बड़े प्रेम से वे मेरी आवश्यकताओ की पूर्ति करते और मेरी असीम चिन्ता करते। हमे बाढ़-पीड़ित प्रदेश से एक नदी मे से होकर जाना था, जो पुरी के पास से चिल्का सरोवर की तरफ बहती थी।

कठिनाइयों की सीमा न थी। सब बातें प्रतिकूल थीं। बड़ी बोट का मिलना असम्भव था। इसलिए हमे एक देशी नाव से ही काम चलाना पड़ा। पानी बराबर एकसा बरस रहा था। ऊपर कोई आसरा न था। ऐसी अवस्था में हमारे लिए सचमुच यह एक बड़ा भारी प्रश्न था कि हम उसी समय रवाना हो जॉय या जब तक घटा साफ न हो जाय तब तक ठहर जावें। गोपबन्धु ने इसका निर्णय मुझ पर छोड़ दिया, और जब मैंने उनसे कहा कि इस वर्षा मे तो बाढ़ पीड़ितों को हमारी सहायता की और भी आवश्यकता है, तब उन्हे बहुत खुशी हुई। उनके दिल मे यह डर था कि कही मै जाने की बात को जरा और न टाल दूँ। पर उन्होने अपने जाने की इच्छा को मुझ पर किसी प्रकार प्रगट नही किया।

वह रात मेरे लिये चिरस्मरणीय रहेगी। अपने निश्चित स्थान पर हमारे पहुॅचने के पहले अंधेरा तो हो ही चुका था। रात ऐसी अंधेरी थी कि मल्लाह ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। उस घोर अंधकार मे नदी के किनारे को पहुॅचने की कोशिश करते हुए हमारी किश्ती कई बार कीचड़ में फॅस गई। अन्त मे हम किसी तरह किनारे पर पहुॅचे और सारी रात खुले मैदान में बितायी। थोड़ी देर बाद कुछ देहाती लालटेन और सूखे कपड़े लेकर आये। रात किसी तरह कष्ट से बीती और सुबह होते ही हम आगे बढ़े। गाँव तो टापू बने हुए थे। जैसे हम एक गाँव से दूसरे गाँव को चले कि निर्दय वर्षा फिर शुरू

हुई। गोपबन्धु की सहन शक्ति अनन्त थी। देहातियों के प्रति उनका अतुल प्रेम देखने लायक था। दर असल वही उनके उत्साह का उद्गम था। वह समय ऐसा बढ़िया था कि उस समय की कई मनोरंजक कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। यहाँ तो मैं केवल उनकी अप्रतिम करुणा का ही उल्लेख करूँगा। छोटे छोटे बालक, वे गरीब स्त्रियाँ, वे मूक पशु सब के लिये उनके विशाल हृदय में स्थान था। इन्हे कभी छोड़ने की उन्हे इच्छा ही नहीं होती थी।

किसानों के प्रति उनके हृदय मे जो प्रेम था उसको भली भाँति देखने का अवसर मुझे इस समय मिला था। आज प्रेस के कार्यों से उन्हे पुरी अथवा कटक में रहना पड़ता था, उनका हृदय तो हमेशा गाँवों और गाँवों के लोगों के साथ ही रहता था। उनकी रहन सहन,पोशाक आदि भी गाँवो के लोगों की ही थी। उन्हीं की तरह शौक की वस्तुओं से गोपबन्धु बिलकुल अलग रहते थे। देहाती लोगों के समान ही उनके अन्दर ईश्वर मे गहरी और निर्व्याज श्रद्धा थी।

जब मै बाद में उड़ीसा गया तब वे कटक में रहते थे। इस बार उनका जीवन पुरी को अपेक्षा भी अधिक कष्टमय और सहन शील था। उन्हे सबसे भारी दुख तो इस बात पर हुआ कि उस समय उनका कमरा इतना छोटा था कि मुझे वे अपने साथ नहीं रख सकते थे। यद्यपि मैंने लाख कहा कि आप मेरी तरफ से किसी असुविधा का ख्याल न करें तथापि वे इस तरह

मानने वाले न थे। उन्होंने मेरी व्यवस्था अपने मित्र गोनबन्धु चौधरी के यहाँ कर दी। पर इससे क्या मैं रोज उनके पास जाता और वे मेरे पास आया करते। हमारा प्रेम हमें एक दूसरे से अधिक देर तक दूर रहने न देता था।

स्वभाव से वे मेरे परिचित लोगों में सबसे अधिक प्रेमी और सरल पुरुषों मे थे। दूसरे की सेवा सहायता करते समय वे कभी अपना ख्याल तक न करते थे। उनके त्याग की कोई सीमा न थी। उनकी सारी आध्यात्मिक शक्ति की जड़ स्पष्ट ही उनकी अटल ईश्वरनिष्ठा थी। चाहे कितनी ही कठिनाई हो, उनकी सुबह शाम की प्रार्थना कभी नहीं टलती थी। उनका हृदय तो बिलकुल शुद्ध था, जैसा की एक सच्चे ब्राह्मण का होना चाहिए। और इसका नमूना उन्होंने मेरे सामने रख दिया कि एक सच्चे ब्राह्मण को कैसा होना चाहिए।

मेरे प्रति उनका प्रेम इतना गहरा था कि मेरे हृदय पर उसका बड़ा असर होता था। और जब मैं उनसे दूर रहता तो उनके पत्रों मे भी वही प्रेम टपकता था। जब मैंने अखबारों मे पढ़ा कि वे इस लोक से चले गये हैं तो उस पर विश्वास करना मेरे लिये कठिन हो गया। उड़ीसा पर कई दुःख पड़े हैं। पर उनके भाई के बाद इतनी जल्दी गोपबन्धु की मृत्यु खास कर एक बड़ा भारी प्रहार हुआ है। अपने भाई के बाल-बच्चों के पालन पोषण का भार भी गोपबन्धु पर पड़ा था। अब उनके मित्र और संबंधी गोपबन्धु की स्मृति में, जिन्होंने कि अपने भाइयो के

लिये अपने प्राण तक भी दे दिये थे, अपने ऊपर यह भार उठा लेंगे।

स्वामी श्रद्धानंद

हिन्दुस्तान आने के बाद तुरत ही १९०४ मे मुझे दिल्ली मे अपने शुरू शुरू के दिनो मे स्वामी श्रद्धानंद की याद आती है। उस समय संसार उनको गुरुकुल, काँगड़ी, हरिद्वार के संस्थापक और आचार्य महात्मा मुंशीराम के रूप में जानता था।

वैदिक दर्शन और आर्य संस्कृति के पंडित के रूप में वे अक्सर दिल्ली आया करते थे। वे किसी खुले मैदान मे शामियाने के नीचे व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दी मे भाषण करते थे और उन्हे समझना मेरे लिए बड़ा मुश्किल होता था। मगर खुद महात्मा मुंशीराम के चुम्बकीय व्यक्तित्व ने तुरत ही मुझे बहुत जोरो से आकर्षित किया। मुझे आज भी उनकी एक रोचक दलील याद है जिस पर मेरा ध्यान खिचा था। उन्होने कहा, "देखिए, ये यूरोप वाले किस तरह रात रात भर पार्लियामेन्ट मे बैठ कर और आधी रात के बाद तक पार्टियो और नाच जारी रख कर रात को दिन बना बैठते है। वैदिक काल की आर्य-सभ्यता मे किसी ऐसी अस्वाभावक और बनावटी स्थिति को जगह नहीं थी। वे ब्राह्ममुहूर्त मे सूर्योदय के पहले उठ कर भगवद् भजन से दिन का काम शुरू करते थे और

सूर्यास्त के बाद तुरत ही रात मे शांति और सुख के लिए प्रार्थना करके काम खत्म करते थे। हमारे आर्य पूर्वजों को ईश्वर के नियमानुसार चलने का ढंग मालूम था। मगर इस आधुनिक युग ने सभी बातें उलट पुलट डाली हैं।"

महात्मा मुंशीराम की यह दलील अपनी सादगी के कारण ही मुझे जँची। मगर मुझ पर तो सबसे अधिक असर उनके चेहरे की दयालुता का ही पड़ा।

मुझे सन् संवत् ठीक याद नही है। उस समय मैं हिन्दुस्तान मे अभी बिलकुल नया आदमी था और जैसा कि मैंने कहा है, उर्दू या हिन्दी कोई बात मेरे लिए ठीक ठीक समझनी मुश्किल थी। मगर मैं भाषण-कर्त्ता के भलेपन से इतना खिंच कि मैं साहस कर के उनके मकान पर पहुँच गया और उनसे खुद मिलने की प्रार्थना की, मुझे उनकी वह खुशी अब तक याद है जिससे उनका चेहरा खिल उठा जब उन्होने घर में मेरे घुसते ही बड़े प्रेम से मेरा स्वागत किया। पहले वे कुछ नही बोले मगर हम दोनों एक दूसरे की आँखों को कुछ देर तक देखते रहे। मेरा विश्वास है कि 'प्रथम दर्शन प्रीतिः' का यह एक उदाहरण था। उनकी पवित्रता, दिल के अच्छेपन, गंभीरता धार्मिक प्रवृत्ति और हिन्दुस्तान के ज्वलंत प्रेम से मै उनके पास खिंच गया।

पहले वे हिन्दी मे बोले मगर मेरी मुश्किल देखते ही उन्होंने

स्वामी श्रद्धानन्द
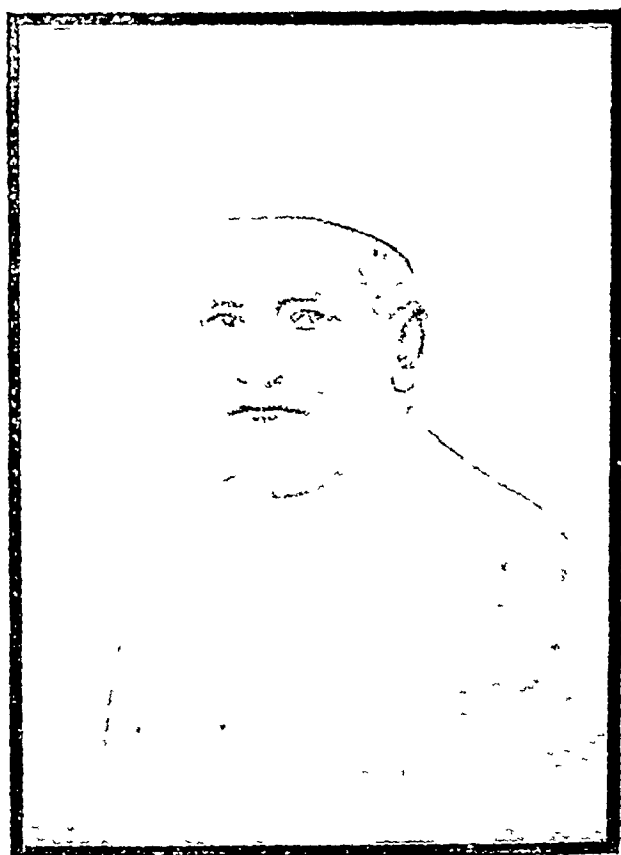
पं० मोतीलाल नेहरू

ेरी कमजोरी पर तरस खाते हुये शुद्ध अंगरेजी मे बोलना
ुरू किया।

अगर दिल्ली की उस पहली मुलाकात का मै सही चित्र दे
ाकता! उसी समय मेरे मन में दिल्ली के पढ़े लिखे लोगों के
ीच अराष्ट्रीयता के विरुद्ध भाव पैदा होने लगे थे। कैम्ब्रिज से
ाजे ताजे पास हुये होने से मुझे उसमें कुछ झुठाई भी मालूम
ाड़ी। सिर्फ हिन्दुस्तानी ईसाइयों मे ही नहीं बल्कि पढ़े लिखे
ार ईसाई हिन्दुस्तानियो में भी जिन्हें मैं रोज ही सेंटस्टिफेन
ालेज मे पढ़ाया करता था, पोशाक और रहन सहन का बिल-
ुल परिवर्त्तन देख कर मुझे घृणा हो आती थी।

यहाँ इनके विरुद्ध महात्मा मुंशीराम थे जो मुझे वही वस्तु
े रहे थे जिसकी प्यास मेरे अन्तस्तल को थी यानी सच्चे
हिन्दुस्तान की जीती जागती तसवीर। इसके कुछ दिनों बाद
मैंने मुंशी जकाउल्ला के पास से भी हिन्दुस्तान के आत्मा की
वही छाप पायी और उनका भी मैं वैसा ही भक्त बन गया। एक
एक विचित्र ही रूप से उन्होंने मुझे वही चीज़ दी जो मैंने
महात्मा मुंशीराम से पायी थी, यानी, भारत वर्ष की आत्मा
का सही सही चित्र।

पूज्य नेहरूजी

१९०१ मे, सम्पत्ति-विषयक एक बहुत बड़ा मुकदमा दायर
करने और लड़ने के लिये मेरे स्वर्गीय पिताजी का रहना प्रायः

प्रयाग में होने लगा। उसी समय पहले पहल मुझे पंडित मोतीलालजी के दर्शनों और साहचर्य्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका नाम सम्भवतः उसके एक वर्ष पहले से सुनता रहा हूँगा; क्योंकि मुकदमे की बातचीत उतने ही समय पहले से की जा रही थी। पंडितजी उसमे हमारे प्रमुख वकील होनेवाले थे, अतएव घर मे अकसर उनके नाम का उल्लेख हुआ करता।

जिस समय प्रयाग मे हमारा डेरा पड़ा उस समय मैंने आठवाँ वर्ष पूरा करके नवे मे पैर रखा था, तो भी पिताजी सदैव अपनी संगति मे रखते और मित्र-जैसा सौहार्द्र और व्यवहार करते। फलतः उस समय भी मेरे सहज ज्ञान मे बहुत कुछ प्रौढ़ता और व्यापकता आ चुकी थी। इसी बूते पर मैंने ऊपर पण्डितजी का साहचर्य्य कहने की धृष्टता की है।

पण्डितजी से और मेरे मामाजी से बहुत पुरानी गाढ़ मैत्री थी। यहाँ तक कि उसी नाते वे मेरी माताजी को अपनी बहन, पिताजी को बहनोई, और मुझे अपना भाँजा मानते थे। अतएव, वे केवल हमारे वकील ही नहीं, स्वजन भी थे। सो, जितने दिन हम प्रयाग रहते, शाम को प्रायः उन्हीं के यहाँ बैठक होती।

मुझे उनके यहाँ जाने का वह पहला दिन याद है, जब वे अपने विशाल दफ़्र में, जिसकी दीवारें किताबों की आलमारियों से ढकी हुई थीं, बैठे हुए थे। पिताजी के संग मामाजी भी थे। वे लोग उन्हें कागज समझा रहे थे और मैं कुतूहल से एक ओर देख रहा था। उनके एक नातेदार उन्हे एक गुदड़ी दिखला रहे

थे—वह पण्डितजी के आज्ञानुसार किसी साधू के लिये तैयार की गई थी। विलायती कपड़ों के नमूनों के जो टुकड़े आते हैं, उन्हीं को जोड़कर बनाई गई थी।

'आनन्द-भवन' और उसका बाग उन दिनों बन रहा था। जैसे जैसे मै इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, उसके क्रम-विकास का दृश्य मेरी आँखों के सामने घूम रहा है।

यद्यपि पण्डितजी उस समय पाश्चात्य सभ्यता में निमग्न थे किन्तु उनके भीतर भारतीयता की वह ज्योति टिमटिमा रही थी जो आगे चलकर देश-व्यापी उजाला फैलानेवाली थी। मुझे याद है कि अपने बाग के लता-गृह में उन्होंने जो कृत्रिम शैल बनाया था उसमें शिवजी की एक प्रतिमा रक्खी थी, जिसकी जटा से गंगा निकलकर उस निकुञ्ज मे वंक-गति से फैल गई थीं। फुहारे भी उन्होंने विलायती न लगाकर, जयपुर से मँगाये थे और उनका ढंग भी देशी था—शायद बीच में एक ऊँचा फुहारा था और उसके चारों ओर दिग्गज बने थे, जो अपने उठाये हुए शुण्डों से धारा निकालते थे। इतना ही क्यो, उन्होंने अपने निवास का नामकरण ही "......विला" या "......कैसिल" न करके 'आनन्द-भवन' क्यों किया?

नये 'आनन्द-भवन' का भारतीय स्थापत्य, तो उनकी उस अन्तरात्मा का मूर्त्त रूप है, जो महात्माजी की अनुयायिता मे, उनके हृदय मे उद्‌बुद्ध हो उठी थी।

आज तो हम वैद्यक, हकीमो के कायल भी हो रहे हैं, उस

प्रयाग में होने लगा। उसी समय पहले पहल मुझे पंडित मोतीलालजी के दर्शनों और साहचर्य्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका नाम सम्भवतः उसके एक वर्ष पहले से सुनता रहा हूँगा; क्योंकि मुकदमे की बातचीत उतने ही समय पहले से की जा रही थी। पंडितजी उसमें हमारे प्रमुख वकील होनेवाले थे, अतएव घर मे अकसर उनके नाम का उल्लेख हुआ करता।

जिस समय प्रयाग में हमारा डेरा पड़ा उस समय मैंने आठवाँ वर्ष पूरा करके नवे मे पैर रखा था, तो भी पिताजी सदैव अपनी संगति में रखते और मित्र-जैसा सौहार्द्र और व्यवहार करते। फलतः उस समय भी मेरे सहज ज्ञान में बहुत कुछ प्रौढ़ता और व्यापकता आ चुकी थी। इसी बूते पर मैंने ऊपर पण्डितजी का साहचर्य्य कहने की धृष्टता की है।

पण्डितजी से और मेरे मामाजी से बहुत पुरानी गाढ़ मैत्री थी। यहाँ तक कि उसी नाते वे मेरी माताजी को अपनी बहन, पिताजी को बहनोई, और मुझे अपना भाँजा मानते थे। अतएव, वे केवल हमारे वकील ही नहीं, स्वजन भी थे। सो, जितने दिन हम प्रयाग रहते, शाम को प्रायः उन्हीं के यहाँ बैठक होती।

मुझे उनके यहाँ जाने का वह पहला दिन याद है, जब वे अपने विशाल दफ़्र में, जिसकी दीवारें किताबों की आलमारियों से ढकी हुई थीं, बैठे हुए थे। पिताजी के संग मामाजी भी थे। वे लोग उन्हें कागज समझा रहे थे और मैं कुतूहल से एक ओर देख रहा था। उनके एक नातेदार उन्हें एक गुदड़ी दिखला रहे

थे—वह पण्डितजी के आज्ञानुसार किसी साधू के लिये तैयार की गई थी। विलायती कपड़ों के नमूनों के जो टुकड़े आते हैं, उन्हीं को जोड़कर बनाई गई थी।

'आनन्द-भवन' और उसका बाग उन दिनों बन रहा था। जैसे जैसे मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, उसके क्रम-विकास का दृश्य मेरी आँखों के सामने घूम रहा है।

यद्यपि पण्डितजी उस समय पाश्चात्य सभ्यता में निमग्न थे किन्तु उनके भीतर भारतीयता की वह ज्योति टिमटिमा रही थी जो आगे चलकर देश-व्यापी उजाला फैलानेवाली थी। मुझे याद है कि अपने बाग के लता-गृह में उन्होंने जो कृत्रिम शैल बनाया था उसमें शिवजी की एक प्रतिमा रक्खी थी, जिसकी जटा से गंगा निकलकर उस निकुञ्ज में बंक-गति से फैल गई थीं। फुहारे भी उन्होने विलायती न लगाकर, जयपुर से मँगाये थे और उनका ढंग भी देशी था—शायद बीच में एक ऊँचा फुहारा था और उसके चारों ओर दिग्गज बने थे, जो अपने उठाये हुए शुण्डो से धारा निकालते थे। इतना ही क्यों, उन्होंने अपने निवास का नामकरण ही "·····विला" या "·····कैसिल" न करके 'आनन्द-भवन' क्यों किया?

नये 'आनन्द-भवन' का भारतीय स्थापत्य, तो उनकी उस अन्तरात्मा का मूर्त्त रूप है, जो महात्माजी की अनुयायिता मे, उनके हृदय मे उद्‌बुद्ध हो उठी थी।

आज तो हम वैद्यक, हकीमो के कायल भी हो रहे हैं, उस

समय तो ये चिकित्सा-प्रणालियाँ जंगलियों की चीज़ समझी जाती थीं; किन्तु साहबी में रंगे पण्डितजी ने इनका व्यवहार कभी न छोड़ा था। जब जैसी आवश्यकता होती, चिकित्सा करते।

यही हाल देशी व्यायाम के भी थे। वे नित्य दण्ड-बैठक किया करते थे।

ऐसी छोटी-छोटी बातों को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ, क्योंकि इनसे मनोवृत्ति का पूरा पता चलता है।

शुरू ही से पण्डितजी के तीन गुण मेरे हृदय पर अंकित हो गये थे—एक तो तेजस्विता, दूसरे स्नेहबन्धन का निर्वाह तीसरे उन्मुक्त-हृदयता।

मुझे अच्छी तरह याद है कि पिताजी से उनसे खूब हँसी दिल्लगी हुआ करती थी; किन्तु निहायत शिष्ट और संयत, चुभते हुए व्यंगों-द्वारा। पंडितजी बड़ी ही हँसोड़ प्रकृति के आदमी थे और उनका क़हक़हा—गूँजता हुआ, ठनकता हुआ, उन्मुक्त हृदय को प्रफुल्लित कर देनेवाला होता था। अस्तु। उन दिनों का वह हास-विलास, जिसका, कारण वही स्वजन स्नेह था, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है—उस गंभीर दायित्व के रूप मे परिवर्तित हो गया जो पिताजी के असमय स्वर्गवास हो जाने से पंडितजी पर, हम लोगों के सम्बन्ध मे आ पड़ा था। फलतः उस मुकद्दमे में उन्होंने हमलोगो का यथोचित लाभ कराते हुए संधि कराई थी और आगे भी जब जब जिस किसी विषय

के परामर्श की आवश्यकता हुई, उसे पूर्ण मनोयोग के साथ, हजार का हर्ज करके बराबर केवल स्वजन-स्नेह के नाते देते और करते रहे। इतना ही नहीं, कितनी ही छोटी छोटी बातों के द्वारा, उन्होने वह घरावट और आत्मीयता बराबर कायम रक्खी थी। इसका कुछ आभास आगे मिलेगा। इसी सम्बन्ध में यहाँ एक ऐसी घटना का उल्लेख करता हूँ जिससे उस पुरुषसिंह की सहृदयता का यथेष्ट परिचय मिलता है—

१९२२ में, जिस समय, असहयोग-आन्दोलन पूरे ओज पर था, उस समय पंडित जी कहीं रेल मे जा रहे थे। अलीगढ़ में या उसके आस पास, उसी फर्स्ट क्लास डब्बे मे यू० पी० के एक देशी आई० सी० एस० भी आ बैठे। वे उन दिनों उद्यम विभाग के डाइरेक्टर थे, अतएव दौरा किया करते थे। पंडितजी से उनका खूब परिचय था, और कौन ऐसा व्यक्ति था, जिस से पंडितजी का परिचय न रहा हो वा जिसने पंडित जी के आतिथ्य और आश्रय का उपभोग न किया हो। अस्तु। कुछ देर बातचीत होने पर पंडितजी ने उनसे कहा मैं यह नहीं चाहता कि तुम मेरे संग सफर करते हुए देखे जाओ और तुम पर आपत्ति आवे, इसलिये मै दूसरे डब्बे में जाता हूँ। वे रोकते ही रह गये, किन्तु पंडितजी ने एक न सुना, दूसरे डब्बे में चले ही गये। यह घटना, अपने आत्मीयों के प्रति, चाहे वे किसी भी पक्ष के हों, पंडितजी की शुभैषणा और शालीनता की परिचायक है। इसका उल्लेख मैंने अपने एक ऐसे मित्र से

किया था जिनकी पंडितजी से भी बहुत घनिष्ठता थी, किन्तु वे इस कारण इसे मानने को तैयार न हुए कि पंडितजी ऐसी कमज़ोरी दिखलानेवाले आदमी न थे; किन्तु इसमें कमज़ोरी का तो सवाल नहीं है, यह तो केवल उनके प्रीति-पालन का पौरुष-पूर्ण उदाहरण है। मैं तो स्वयं कह चुका हूँ कि तेज और निर्भीकता उनका स्वभाव था—उनके सामने तो बड़े बड़े तेजोहत हो जाते थे। अब उसी का उल्लेख करता हूँ—

उनका तेज, जिस घटना के कारण पहले पहल मेरे हृदय पर अंकित हुआ था, वह उनका प्रयाग के कलक्टर से एक झगड़ा था—जो आनंद-भवन की चहारदीवारी के कारण हुआ था। संभवतः १९०२ की बात है। उन दिनों कलक्टर ही म्युनिसिपल बोर्ड का चेयरमैन भी हुआ करता था। उस हैसियत से उसका कहना था कि पंडितजी ने अपनी दीवार म्युनिसिपलिटी की जमीन पर चढ़ाकर बना ली है। पंडितजी ने ऐसा नहीं किया था; किन्तु उसे इसी बहाने उनको दबाना था। शायद कोई और घटना भी हो गई थी। वह इस समय याद तो नहीं; किन्तु थी वही इस झगड़े की पृष्ठपट। उसी का बदला चुकाने के लिये यह काण्ड रचा गया था। जो हो, एक ओर तो वह तुला हुआ था कि दीवार गिरवा कर और पंडितजी को जेल भिजवाकर ही साँस लूँगा; दूसरी ओर पंडितजी भी दृढ़ थे कि कैसे दीवार गिरती है। इसी बात को लेकर झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि सारे नगर पर आतंक छा गया—उन दिनों कलक्टर से वैर

करना मानो इन्द्र से शत्रुता मोल लेनी थी; किन्तु पंडितजी बाल भर टस से मस न हुए और अन्ततः कलक्टर को मुँह की खानी पड़ी। दीवार उसी स्थान पर खड़ी हुई, और अब तक खड़ी है, जहाँ उसकी नीव पड़ी थी।

इसी के कुछ पहले, शायद हमलोगों के प्रयाग जाने के कुछ मास पूर्व, एक मुकदमे में पंडितजी ने पुलीस के विरुद्ध बड़े जोरों से पैरवी और कार्रवाई की थी और ज़बान दे देने के कारण एक ऐसे हेंकड़ व्यक्ति को पुलीस के चंगुल से बचा लिया था—जिसने कितने ही पुलीसवालों और कई थानेदारों को ठोंक-ठाक ठिकाने कर दिया था। अस्तु। जब हमलोग पहले पहिल प्रयाग गये थे तो उसकी चर्चा ताजी ही थी, किन्तु उक्त घटना के समय तो मैं प्रयाग ही में था।

यों तो उन दिनों पंडितजी अंग्रेजी सभ्यता में सराबोर थे। इतना ही नहीं, अंग्रेजों की योग्यता और कार्यक्षमता में भी उनका हार्दिक विश्वास था, किन्तु इसी तेजस्विता के कारण प्रयाग-निवासी सदा उन्हें अपना समझते थे और आदर करते थे; क्योंकि वे जानते थे कि चाहे वे कितने ही अंग्रेज-भक्त क्यों न हों किन्तु कभी वे ऐसी बात न करेंगे कि उनकी वा उनके नगर की बात नीची हो।

इसी तेजस्विता के कारण उनके चरित्र मे ऐसी दृढ़ता थी कि—हाँ करी सो हाँ करी, ना करी सो ना करी। जिस दिन से असहयोग के अखाड़े मे उतरे, उस दिन से जो ऐश्वर्य्य-विलास

किया था जिनकी पंडितजी से भी बहुत घनिष्ठता थी, किन्तु वे इस कारण इसे मानने को तैयार न हुए कि पंडितजी ऐसी कमजोरी दिखलानेवाले आदमी न थे; किन्तु इसमें कमज़ोरी का तो सवाल नहीं है, यह तो केवल उनके प्रीति-पालन का पौरुष-पूर्ण उदाहरण है। मैं तो स्वयं कह चुका हूँ कि तेज और निर्भीकता उनका स्वभाव था—उनके सामने तो बड़े बड़े तेजोहत हो जाते थे। अब उसी का उल्लेख करता हूँ—

उनका तेज, जिस घटना के कारण पहले पहल मेरे हृदय पर अंकित हुआ था, वह उनका प्रयाग के कलक्टर से एक झगड़ा था—जो आनंद-भवन की चहारदीवारी के कारण हुआ था। संभवतः १९०२ की बात है। उन दिनों कलक्टर ही म्युनिसिपल बोर्ड का चेयरमैन भी हुआ करता था। उस हैसियत से उसका कहना था कि पंडितजी ने अपनी दीवार म्युनिसिपलिटी की जमीन पर चढ़ाकर बना ली है। पंडितजी ने ऐसा नहीं किया था; किन्तु उसे इसी बहाने उनको दबाना था। शायद कोई और घटना भी हो गई थी। वह इस समय याद तो नहीं; किन्तु थी वही इस झगड़े की पृष्ठपट। उसी का बदला चुकाने के लिये यह काण्ड रचा गया था। जो हो, एक ओर तो वह तुला हुआ था कि दीवार गिरवा कर और पंडितजी को जेल भिजवाकर ही साँस लूँगा; दूसरी ओर पंडितजी भी दृढ़ थे कि कैसे दीवार गिरती है। इसी बात को लेकर झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि सारे नगर पर आतंक छा गया—उन दिनों कलक्टर से वैर

करना मानो इन्द्र से शत्रुता मोल लेनी थी; किन्तु पंडितजी बाल भर टस से मस न हुए और अन्ततः कलक्टर को मुँह की खानी पड़ी। दीवार उसी स्थान पर खड़ी हुई, और अब तक खड़ी है, जहाँ उसकी नीव पड़ी थी।

इसी के कुछ पहले, शायद हमलोगों के प्रयाग जाने के कुछ मास पूर्व, एक मुकदमे में पंडितजी ने पुलीस के विरुद्ध बड़े जोरों से पैरवी और कार्रवाई की थी और ज़बान दे देने के कारण एक ऐसे हेंकड़ व्यक्ति को पुलीस के चंगुल से बचा लिया था—जिसने कितने ही पुलीसवालों और कई थानेदारों को ठोंक-ठाक ठिकाने कर दिया था। अस्तु। जब हमलोग पहले पहिल प्रयाग गये थे तो उसकी चर्चा ताजी ही थी, किन्तु उक्त घटना के समय तो मैं प्रयाग ही मे था।

यों तो उन दिनों पंडितजी अंग्रेजी सभ्यता में सराबोर थे। इतना ही नहीं, अंग्रेजों की योग्यता और कार्यक्षमता में भी उनका हार्दिक विश्वास था, किन्तु इसी तेजस्विता के कारण प्रयाग-निवासी सदा उन्हें अपना समझते थे और आदर करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि चाहे वे कितने ही अंग्रेज-भक्त क्यों न हों किन्तु कभी वे ऐसी बात न करेंगे कि उनकी वा उनके नगर की बात नीची हो।

इसी तेजस्विता के कारण उनके चरित्र में ऐसी दृढ़ता थी कि—हाँ करो सो हाँ करो, ना करी सो ना करी। जिस दिन से असहयोग के अखाड़े मे उतरे, उस दिन से जो ऐश्वर्य्य-विलास

का जीवन, वस्त्र पर लगे हुए तिनके को तरह फेंक दिया सो फेंक दिया और जैसे उस रंगमंच पर अपने ढंग के निराले और प्रमुख पात्र थे, वैसे ही इस क्षेत्र में भी। भोगों के परिग्रह और त्याग का ऐसा विलक्षण उदाहरण या तो प्राचीन काल के राजर्षियों ही में पाया जाता है या उनमें ही।

जिस समय उनकी वृत्ति त्यागोन्मुख हो रही थी, उस समय उन्होंने मुझे एक बड़ा महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था। उन दिनों वे डुमराँव के एक बहुत बड़े मुकदमे में वकालत करते थे। स्वर्गीय दास महोदय उनके विपक्ष में थे। १९२० की बात है। जुलाई के लगभग उनका एक पत्र आया कि बनारस के मगही पानों का एक पार्सल प्रति सप्ताह भिजवा दिया करो, उसमें चार ढोली से कम पान न रहें और जब तक भी पान मिलते जायँ, पार्सलों का क्रम बराबर जारी रहे। जूलाई में, जब की यह बात है, बढ़िया पान साधारणतः ढाई-तीन रुपये ढोली हो जाता है। उस भाव से पान जाना जो शुरू हुआ, तो बोस-पच्चोस रुपये ढोली तक भाव पहुँचने पर भी वह सिलसिला जारी रहा। साथ ही उनकी यह फर्माइश भी थी कि अपनी माताजी से बनवा कर कत्था भी भेजते रहना। माताजी एक खास प्रकार से कत्था तैयार करती हैं कि वह बिलकुल सफेद हो जाता है और खाने मे उसमें कडुआहट या होक बिलकुल नहीं रह जाती। मुझे याद है कि बचपन मे जब कत्थे की ऐसो पपड़ी जमाई जाती तो उसकी मिठास के कारण मैं यों हो उसे चबाया करता।

अस्तु । पान के साथ प्रतिसप्ताह ऐसे कत्थे का बण्डल भी जाता था।

अचानक पण्डितजी का वह पत्र मुझे मिला, जिसका मज़मून सुनाने के लिये उक्त वर्णन दिया गया है। उसमें आपने लिखा—

"अपनी माताजी को कत्थे के लिये बार बार धन्यवाद देना। अब उन्हें कष्ट उठाने की आवश्यकता न रहेगी। न अब पान भेजने की ज़रूरत है। तुम्हें मालूम होगा कि मैं असहयोग आन्दोलन मे प्रवृत्त होने के लिये प्रतिज्ञावद्ध हो चुका हूँ, अतएव अपनी बुरी आदतों को छोड़ रहा हूँ।......तुम इस आन्दोलन को कैसा समझते हो?"

शुरू ही से मुझे इस आन्दोलन पर पूर्ण विश्वास था और मैं उसके तत्त्व पर कुछ विचार भी कर चुका था। उन्ही का निर्देश करते हुए मैंने लिखा कि मुझे तो इस शस्त्र पर पूरा भरोसा है।

इस पत्र-व्यवहार के ठीक एक वर्ष बाद, पंडितजी से संयोग वश रेल पर मुलाकात हुई। उस समय वे असहयोग में पग उठे थे। उनके फर्स्टक्लास डब्बे में एक अंग्रेज भी बैठा था। किसी स्टेशन पर मुझे ऐसा संदेह हुआ कि पंडितजी से उससे झगड़ा हो गया है। अतएव मैंने उनसे जिज्ञासा की। उन्होंने कहा—"अजी यहाँ तो नानवायलेन्ट नानकोआपरेशन (अहिंसात्मक असहयोग) है; यहाँ झगड़े का क्या काम!"—चण्डरश्मि

का इस शीतरश्मि के रूप में दर्शन पाकर मै गद्गद् हो उठा। साथही—'गुरुहिं प्रणाम मनहि मन कीन्हा'--धन्य हैं वापू जिनके प्रभाव का यह एक कुतुबमीनार मेरे सामने था।

विना जीवट के त्याग भी असम्भव है। पंडितजी में यदि पर्याप्त प्राण न होता तो वे उसी लगन के साथ निवृत्ति मे प्रवृत्त न हो सकते जिस लगन के साथ प्रवृत्ति से निवृत्त हुए थे, अथवा प्रवृत्ति में प्रवृत्त थे। जो अल्प-प्राण है, क्या उनकी प्रवृत्ति, क्या निवृत्ति !

पंडितजी का रहन-सहन शुरु ही से वहुत साफ-सुथरा और ठाट-वाट का था। किन्तु इतना ऊँचा उठने पर भी उन्होंने कभी अपने को लगाया नही। उनमे प्रकृत वड़प्पन था अतः उन्हे इसकी आवश्यकता ही न थी; उनमें तो एक स्वाभाविक शासन था जिसके अधीन लोग यो ही हो जाते थे।

पंडितजी का स्वभाव सदैव निर्लिप्त रहा। जव उन्होंने अपना मीरगंजवाला घर छोड़ा तो वहाँ की विलासिता और समाज वही रह गया। इसके वाद 'आनन्द भवन' का युग प्रारम्भ हुआ जिस दिन उससे उपराम हुआ तो फिर उसकी ओर से भी पूर्ण सन्यास हो गया—यहाँ तक कि उसको स्मृतियों को जीवित रखनेवाला वह आनन्द-भवन ही स्वराज्य-भवन के रूप में परिणत कर दिया गया ; वे उसे उसी रूप मे अपना सके।

किन्तु इस निर्लिप्तता का अभिप्राय यह नही कि वे अपने भिन्न भिन्न युगो के साथियो को भी भूल गये। नहीं; उन्होंने

जिससे एक बार नाता जोड़ा उसे आजीवन निबाहा। हाँ, वे लोग ज्यों के त्यों फिसड्डी बने रहे और नर-सिंह अपनी कमजोरियों को कुचलता हुआ ऊँचा उठता गया।

पण्डितजी सच्चे हिन्दू गृहस्थ थे—स्वजन सम्बन्धियों के पालन का उनमें प्रकृत गुण था; किन्तु उस रूप में नहीं जैसा आज कल आमतौर पर हिन्दू-कुटुम्बों में प्रचलित है। ऐसे कुलों में कितने ही स्वजन-सम्बन्धी मुफ्तखोरी करते हैं; एक को उनके पीछे मरना पड़े, यही नहीं, देश की अकर्मण्यता को भी वे और बढ़ाते जाते हैं। किन्तु पण्डितजी तो रूढ़ियों से लड़ने और तोड़ने वाले थे। उन्होंने अपने भाञ्जों-भतीजों को अपनी छत्र-च्छाया मे रखकर खूब उन्नत एवं विकसित किया और जब वे अपने पैरों के बल खड़े हो गये तो उन्हें स्वतन्त्र कर दिया। वे इस सम्बन्ध में अकसर कहा करते कि बड़े पेड़ की छाया में छोटे पेड़ नहीं पनप पाते; यदि उन्हें भी बड़ा होने देना है तो उन्हे भी अलग रोपना चाहिए। और, इसी सत्य को वे कार्यान्वित भी करते थे। श्री० लाड़लीप्रसाद जुतशी तथा प० मोहनलाल नेहरू-प्रभृति कोई आधे दर्जन से ऊपर नेहरू जो कुछ भी हैं, पण्डितजी के बनाये हुये है।

अत्यन्त उच्छृंखल जीवन व्यतीत करते हुए भी पण्डितजी समय के बड़े पाबन्द थे। यही कारण है कि किसी काम मे कभी न पिछड़ते थे। एक बार मै उनके यहाँ बैठा था कि एक गैरिक-वसन-धारी आये व्यवहार से मालूम हुआ कि वे पण्डितजी के

पूर्व परिचित हैं। पण्डितजी ने बताया कि बाबाजी उत्तम गायक हैं, इनसे अधिक सुकण्ठ व्यक्ति मैंने नहीं पाया। फिर उन्होंने बाबाजी से कुछ सुनाने की फर्माइश की। मैं भी सुनने के लिये उत्कण्ठित था। इसके बाद पण्डितजी अपने काम में लग गये और मैं इन्तजार करने लगा कि काम पूरा करके वे गाना सुनेंगे; किन्तु काम पूरा होते न होते उनके उठने का समय आ गया था। उन्होंने कहा—बाबाजी, आप बैठे ही रह गये! बाबाजी ने उत्तर दिया कि मै बाजे की प्रतिच्छा में था, अब मँगाइए तो कुछ सुनाऊँ। पण्डितजी ने कहा—अब कहाँ, यहाँ तो सब काम टाइम से होता है। आपने पहले ही बाजा मँगाया होता! खैर, फिर कभी। पण्डितजी भी उस समय गाना न सुन सकने के कारण कुछ उदास हो गये थे। मैं तो था ही; किन्तु उनकी समय की पाबन्दी मेरे हृदय में घर कर गई।

अब मैं पुनः अपने बाल्यकाल की ओर लौटता हूँ।

पहले ही कह चुका हूँ कि पंडितजी मे हृदय की उन्मुक्तता का भी बड़ा गुण था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब पिताजी के संग मेरी शाम की बैठक उनके यहाँ होती तो ऐसा दिन न जाता कि वे मुझसे कुछ न कुछ बातचीत न करते रहे हों। जिस गोष्ठी में एक से एक चुने हुए व्यक्ति का जमघट होता था वहाँ एक बालक से भी बातें करना—हृदय की उन्मुक्तता नहीं तो और क्या? मैं महापुरुष कहे जानेवालों के ऐसे समाजों को भी जानता हूँ जहाँ बालकों का मुँह खोलना भी अपराध है। अस्तु।

चित्रकारी और संग्रह की ओर भी मेरी उस समय के पहले ही से प्रवृत्ति थी। पंडितजी और उनकी श्रीमती का एक रँगा हुआ फोटो उनके टेबुल पर रक्खा रहता था। मुझे उसकी रँगाई पसन्द न आई। मैंने उसके दोष उन्हे बतलाये, जिससे वे खुश हुए। उनसे मैंने कहा—मैं आपका चित्र इससे अच्छा रँग दूँगा। खेद है, मै वादा करके ही रह गया। संभवतः पंडितजी ने इस सम्बन्ध मे कई बार टोका भी था।

उन्हीं दिनों पंडितजी के भतीजे श्री०ब्रजलाल नेहरू विलायत पढ़ने के लिये गये थे। मैंने पंडितजी से कहा कि उन्हे लिखकर मुझे भिन्न-भिन्न देशों के सिक्के मँगवा दीजिए। पंडितजी ने सहर्ष इसका प्रबन्ध कर दिया।

१९०४ में पिताजी असमय मृत्यु के साथ साथ मेरे जीवन का वह परिच्छेद अकाण्ड मे ही विच्छिन्न हो गया। अब उन दिनों की याद दिलानेवाला केवल एक चित्र रह गया है—जिसमे पंडितजी, पिताजी और मैं, एक साथ हैं।

किन्तु पंडितजो को मेरा स्मरण बना रहा। पिताजी के देहावसान के कुछ दिनों वाद माताजी से मेरे विषय में चर्चा करते हुए उन्होंने चिताया था कि तेज लड़के बहुत अच्छे भी वन सकते हैं और बहुत बुरे भी। अतएव, आप उसका वहुत ध्यान रखियेगा।

इसी प्रकार, सन् १९१६ मे, राष्ट्रपदि जवाहरलाल के विवाहोपलक्ष मे, जो गोंठ (गार्डनपार्टी) उनके यहाँ हुई थी,

उसकी अपार भीड़ में भी उन्होंने मेरी अनुपस्थिति तजवीज ली थी और उसका उलाहना दिया था। इन आत्मीयताओं के कारण हृदय पर उनकी जो स्मृति अंकित है, उसे मैं बहुत ही महत्त्व की समझता हूँ; राजनीतिक महापुरुष के रूप में उनका जो चित्र मेरे हृदय मे है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण।

कला-परिषद् की स्थापना के बाद मैंने पण्डित जी से उसका सदस्य होने की प्रार्थना को। उसे उन्होने सहर्ष स्वीकार कर लिया और मुझे प्रोत्साहन दिया। सन् १९२५ के कानपुर-कांग्रेस-प्रदर्शिनी में कला-परिषद् के बहुमूल्य चित्रों से जो चित्रशाला सजी गई थी, उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए थे। एक रोज सपरिवार उसके देखने में घण्टों बिताया था। कला-सम्बन्धिनी मेरी प्रवृत्ति का परिचय उन्हें मेरे बचपन से था ही, आज यह सब देखकर उसके प्रति उनके हृदय मे एक वात्सल्य पूर्ण सद्भाव ने स्थान पा लिया था, जिसे उन्होने एक बार बड़े ही सुन्दर व्यंग्य-द्वारा अभिव्यक्त भी किया था—

१९२६ की बात है। मैं किसी कार्य से प्रयाग गया हुआ था। अकस्मात् पण्डितजी का बुलावा आया। जाकर मैं उनसे मिला। उस समय प्रतापगढ़ से श्री० सी० वाई० चिन्तामणि प्रान्तीय कौंसिल के लिये खडे हुए थे। स्वराजी-दल उनका विरोध कर रहा था और अपना उम्मेदवार खड़ा करना चाहता था। इसी सम्बन्ध में उन्होंने मुझे याद किया था। वे मुझे ही उनके विरुद्ध खड़ा किया चाहते थे, क्योंकि उन दिनों श्री०

एन० सी० मेहता प्रतापगढ़ के डिप्टी कमिश्नर थे—और ऐसा खयाल किया जाता था कि वे चिन्तामणि का अनुमोदन कर रहे हैं। उन्हें इससे विरत करने के लिये यही उपाय था कि मैं खड़ा किया जाऊँ, क्योंकि उनसे मेरा भाईचारा है; अतः मेरे खड़े होने से वे धर्म-संकट मे पड़ जाते। किन्तु राजनीति कभी भी मेरा क्षेत्र नहीं रहा है। जब जब मै उसमे प्रवृष्ट किया गया हूँ, तब तब मैं ऊब कर भागा हूँ। यही बात मैंने उनसे भी निवेदन किया। इसपर उन्होंने जो उत्तर दिया, वह बहुत ही मार्मिक व्यंग्य था। उन्होने कहा—"मैंने तो पहले ही कहा था कि कृष्णदास तो आर्टफुल आदमी हैं, उनसे इनसे क्या सम्बन्ध!" इस आर्टफुल शब्द में बड़ी ध्वनि है, क्योंकि इसका शब्दार्थ तो है कलापूर्ण, किन्तु व्यंग्यार्थ है फ़ितरती। मुझे उनकी यह बात बहुत ही रुची और इसे मैंने अपने काम का एक बहुत बड़ा सार्टिफिकेट समझा।

इस तरह के व्यंग्य के पंडितजी बादशाह थे, जो बड़े मार्मिक ही नहीं, प्रसंगानुसार बड़े चुटीले भी हुआ करते थे। एक बार पण्डितजी विलायत जा रहे थे। उसी जहाज पर हैदराबाद के एक नवाब साहब भी थे। वे अक्सर पंडितजी से छेड़ छाड़ किया करते। पहले कई बार तो उन्होने उधर ध्यान न दिया किन्तु जब देखा कि नवाब साहब इस उदासीनता के कारण बाज़ आनेवाले नहीं तो उन्होंने निश्चय किया कि अब नवाब साहब जब छेड़छाड़ करेंगे, वहीं से उनका मुँह बंद कर

दूँगा। संयोग से नवाब साहब ने इस निश्चय के बाद ही, उनसे पूछा—आप गो-मांस खाते हैं? पंडितजी ने बरजस्ता फ़र्माया—गो-मांस तो नहीं; यदि गो-भक्षकों का मांस अच्छी तरह भून भानकर मसाला लगा के मिले तो उसके खाने में न हिचकूँगा! बस, उस दिन से नवाब साहब की, मुँह लगने की, आदत छूट गई।

कानपुर-कांग्रेस में महामना मालवीयजी महाराज के एक व्याख्यान के बाद पंडितजी बोलने को उठे। इसमें मालवीयजी के विचारों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा—हमारे भाई मालवीयजी उमर में हमसे छः महीने छोटे हैं, इसीलिये बुद्धि में भी उतने ही छोटे हैं। जो बात हमें आज सूझती है, वह उन्हें छः महीने बाद सूझेगी—यह भी एक चोखा व्यंग्य था।

उक्त १९२६ वाली मुलाक़ात, पंडितजी से मेरी सम्भवतः अंतिम मुलाक़ात थी। कौंसिल की चर्चा के बाद देर तक बातें होती रहीं। उसी के कुछ पहले वे पंजाब में आतप-ज्वर से मरते मरते बच चुके थे। उसका हाल भी सुनाते रहे। उस वर्णन ने मेरे सामने उस दुर्घटना का एक शब्द-चित्र खींच दिया था।

उस मुलाक़ात के बाद, कई बार पंडितजी से मिलने को जी चाहा, किन्तु ऐसे प्रसंग आते रहे कि मन की मन ही में रह गई। बार बार यही सोचा था कि अब मिल लूँगा; किन्तु हम सब जानते हुए भी यह भूल जाते हैं कि—

नहि प्रतीक्ष्यते कालः कृतमस्य न वा कृतम्।

सस्ता साहित्य मण्डल
सर्वोदय साहित्य माला : निन्नानवेवां ग्रंथ

---

[९९]

टॉल्स्टॉय ग्रंथावली : पहली पुस्तक

मेरी मुक्ति की कहानी

टॉल्स्टॉय के 'My Confession' और 'My Recollections'
का अनुवाद

अनुवादक
रामनाथ 'सुमन'
परमेश्वरीदयाल विद्यार्थी

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
शाखायें
दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

संस्करण
अक्तूबर, १९४० २०००
मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइमटेबुल प्रेस, बनारस
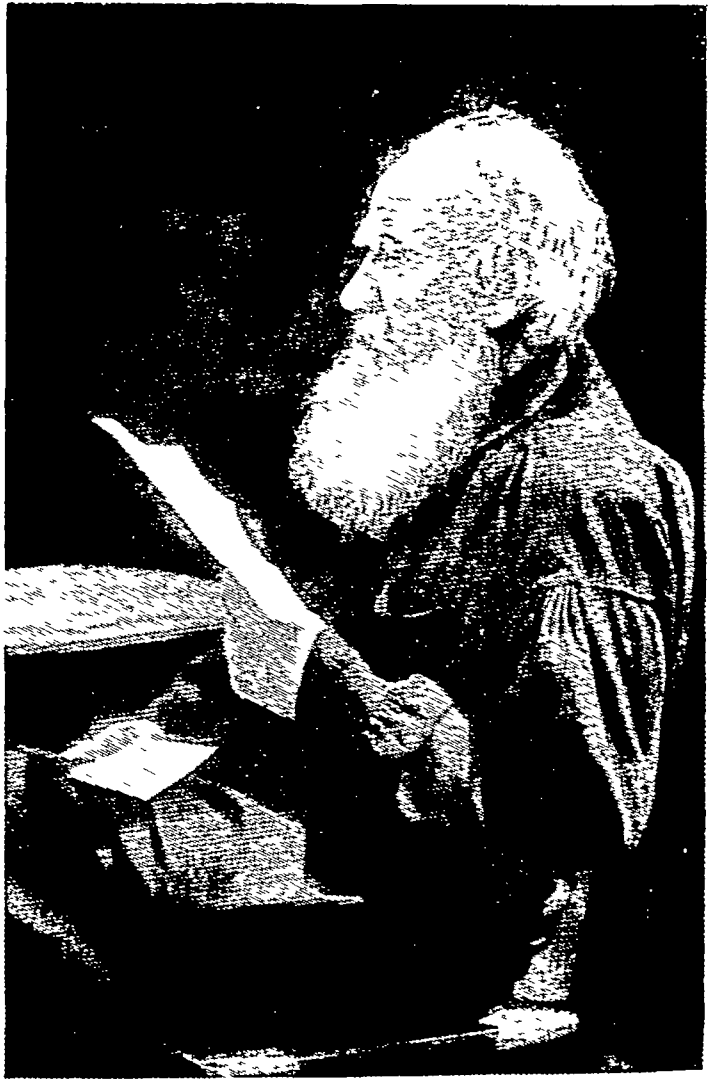
काउण्ट टॉल्स्टॉय

मेरी मुक्ति की कहानी

: १ :

मेरा बपतिस्मा कट्टर सनातनी ईसाई सम्प्रदाय के अनुसार हुआ और उसी में मेरा पालन-पोषण हुआ। मुझे बचपन में, और लड़कपन तथा जवानी-भर, इसी की तालीम दी गई। लेकिन जब मैं १८ साल की उम्र में यूनिवर्सिटी के दूसरे कोर्स के बाद अलग हुआ तो जो बातें मुझे सिखाई गई थीं उनमें से किसी में भी मेरा विश्वास न रह गया था।

जिन थोड़ी बातों की मुझे याद है उनकी कसौटी पर कसकर अगर फैसला करें तो कह सकता हूँ कि मुझे कभी पक्का विश्वास नहीं रहा, सिर्फ़ इतना ही कि मुझे जो कुछ सिखाया-पढ़ाया जाता था और मेरे इर्द-गिर्द के बड़े-बूढ़े लोग जिन बातों को मानते थे उन्ही पर मैं भी भरोसा कर लेता था। मेरा यह भरोसा भी बड़ा डावाँडोल था।

मुझे याद है कि जब मैं पूरे ग्यारह साल का भी नहीं था, तब व्याकरण-शाला का लाडीमीर मिलयूटिन नाम का छात्र (जिसकी बहुत दिन हुए मृत्यु हो गई) एक रविवार को हमारे यहाँ आया और एक सबसे ताज़ी नायाब बात हमें सुनाई, जिसकी खोज उसके स्कूल में हुई थी। खोज यह थी कि कोई ईश्वर नहीं है और उसके बारे में हम लोगों को जो कुछ सिखाया जाता है वह सब बनावटी है। (यह घटना १८३८ ई० की है)। मुझे याद आता है कि मेरे बड़े भाइयों को इस ख़बर में कितनी दिलचस्पी हुई थी। उन्होंने मुझे भी अपने मशविरे में शामिल किया; हम सब के सब खूब उत्तेजित हो गये थे और हम सब ने यह मंज़ूर किया कि यह ख़बर बड़ी दिलचस्प है और बिल्कुल मुमकिन है।

मुझे यह भी याद है कि जब मेरे बड़े भाई दमित्री ने, जो उस वक्त यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे, एकाएक अपने स्वाभाविक जोश-ख़रोश के साथ

धर्म की उपासना शुरू की, गिर्जे की सब प्रार्थनाओं एवं उपदेशों में हिस्सा लेना आरम्भ कर दिया, और उपवास करने तथा पवित्र एवं सदाचारपूर्ण जीवन का आचरण करने लगे तब हम सब—हमारे बड़े-बूढ़े तक—बराबर उनकी हँसी उड़ाते और न मालूम किस वजह से उनको 'नूह' कहते थे। उस ज़माने में मुज़िन-पुटिकन कज़ान यूनिवर्सिटी के प्रबंधक थे। एक बार उन्होंने हमें अपने घर नाच देखने का न्यौता दिया। मुझे याद है कि उस वक्त हमारे भाई उनका न्यौता मंजूर नहीं कर रहे थे, तब पुटिकन ने व्यंग से भरी यह दलील पेश करके उनको किसी तरह राज़ी किया कि डेविड तक आर्क के सामने नाचे थे। मेरे बड़े-बूढ़ों के इन मज़ाकों की तरफ़ मेरी भी हमदर्दी तो रहती ही थी और उनसे मैंने यह नतीजा निकाला था कि गो प्रश्नोत्तरपाठ (धर्मपुस्तक) की जानकारी और गिर्जे में जाना ज़रूरी है, पर किसी को इन बातों को ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। मुझे यह भी याद है कि जब मैं बहुत छोटा था, तब मैंने वाल्टेयर की रचनाएँ पढ़ीं और धर्म के प्रति उसके उपहासों से मुझे दुःख तो क्या होता, उलटे कुछ मनोरंजन ही होता था।

धर्म की आस्था से मेरा स्खलन ठीक वैसे ही हुआ जैसा हमारे समान तालीम पाये हुए लोगों में अक्सर देखा जाता है। मैं समझता हूँ कि ज्यादातर मामलों में यह बात यों होती है : और सबकी तरह एक आदमी ऐसे उसूलों के आधार पर ज़िन्दगी बसर करता है जिनका धर्म-विचारों से न सिर्फ़ कोई ताल्लुक नहीं होता, बल्कि आम तौर से वे उनके विरोधी होते हैं। धर्म-विचार ज़िन्दगी में कोई हिस्सा नहीं लेता, न दूसरों के साथ बर्ताव करने में ही उसके मुताबिक आचरण किया जाता है और आदमी अपनी ज़िन्दगी में तो उस पर ध्यान ही नहीं देता। धर्म-विचार या धर्म-सिद्धान्त ज़िन्दगी से अलग-अलग और दूर-दूर रहकर माने जाते हैं और उनका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अगर कहीं वह दिखाई भी पड़ता है तो वह ज़िन्दगी से अलग एक बाहरी घटना या बात की सूरत में ही दिखाई पड़ता है।

जैसी हालत इस वक्त है वैसी ही तब भी थी। किसी की ज़िन्दगी और चलन या आचरण से यह फ़ैसला करना कि कोई आदमी आस्तिक है या नहीं, असंभव था और असंभव है। अगर अपने को खुलेआम शुद्ध वा कट्टर धार्मिक कहनेवाले और धर्ममत से इन्कार करनेवाले में कोई फर्क है भी तो वह धार्मिकों के पक्ष में नहीं है। इस वक्त की तरह उस समय भी खुलेआम अपनी धार्मिकता का एलान करनेवाले ज्यादातर उन्हीं आदमियों मे मिलते थे जो दुर्बुद्धि और वेरहम होते थे, पर जो अपने को बहुत ज्यादा वकत देते थे। योग्यता, सच्चाई, विश्वसनीयता, शीलस्वभाव और सदाचरण वग़ैरा गुण अक्सर नास्तिकों मे ही पाये जाते थे।

स्कूलों मे धर्म-पुस्तकें पढाई जाती हैं और वहाँ से विद्यार्थियों को गिर्जे मे भी भेजा जाता है, सरकारी अफ़सरों तक को 'कम्यूनियन' (प्रभु ईसा के स्मरणार्थ भोज जिसमें ध्यान मे उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता है) प्राप्त करने का सर्टिफ़िकेट या प्रमाणपत्र पेश करना पड़ता है। पर हमारी तरह का कोई आदमी, जिसने अपनी तालीम ख़त्म कर दी है और सरकारी नौकरी में नहीं है, आज भी १०–२० साल विना इसकी एक वार भी याद किये विता दे सकता है कि वह ईसाइयो के वीच रह रहा है और खुद कट्टर वा शुद्ध ईसाई मत का सदस्य समझा जाता है। उस जमाने में तो यह वात और सरल थी।

इस तरह पहले भी यह वात होती थी और अब भी है कि जो धार्मिक सिद्धान्त लोगों की देखादेखी या सुनासुनी मान लिये गये है और वाहरी दबाव की वजह से वने हुए हैं वे ज़िन्दगी के ज्ञान और अनुभव के प्रभाव से (जिसका धार्मिक मत से विरोध है) विखरने और गलने लगते है और मज़ा यह है कि आदमी इसी कल्पना मे पड़ा हुआ ज़िन्दगी के दिन विता देता है कि वचपन में उसे जो धार्मिक सिद्धान्त वताये गये थे वे ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं, जबकि उनका नाम-निशान भी वाकी नहीं होता।

'क' नाम के एक होशियार और सच्चे आदमी ने एक वार मुझे अपनी कहानी सुनायी थी कि कैसे वह नास्तिक वन गया। जव वह २६ साल का

था, तब की बात है। एक बार वह शिकार खेलने गया। रात के वक्त एक जगह पड़ाव डाला गया। बचपन से चली आई आदत की वजह से उसने शाम के वक्त झुककर प्रार्थना शुरू कर दी। इस शिकार में उसका बड़ा भाई भी साथ था। वह घास पर लेटा हुआ अपने छोटे भाई के इस काम को देख रहा था। जब 'क' प्रार्थना खत्म कर चुका और रात के लिए सोने की तैयारी करने लगा तब उसके बड़े भाई ने कहा—'अच्छा! तुम अभी तक यह सब करते जाते हो?'

उन्होंने एक-दूसरे से और कुछ नहीं कहा। लेकिन उस दिन से 'क' ने प्रार्थना करना या गिर्जे में जाना छोड़ दिया और जब उसने अपनी कहानी सुनायी तब उसे प्रार्थना छोड़े, उपासना किये या गिर्जे में गये तीस साल गुज़र चुके थे। यह सब उसने इसलिए नहीं छोड़ा कि वह अपने भाई के विश्वासों या विचारों को समझ कर उन्हे अपना चुका था या खुद अपनी आत्मा में कुछ फैसला कर चुका था। यह सब नहीं। उसने इन्हें सिर्फ इसलिए छोड़ा कि उसके भाई के कहे हुए शब्द ने उस दीवार को धक्का देने वाली उँगली का काम किया जो खुद अपने बोझ से गिरने को हो रही हो। भाई के शब्द ने सिर्फ इतनी-सी बात जाहिर कर दी कि जहाँ 'क' समझता था कि अभी धर्मनिष्ठा कायम है तहाँ बहुत दिनों पहले सफ़ाया हो चुका था, बस्ती वीरान हो चुकी थी। इसलिए प्रार्थना के वक्त कुछ शब्दों का दोहराना, क्रास के चिन्ह बनाना या आराधना के लिए घुटने मोड़ कर बैठना, मतलब उसके जितने धार्मिक कृत्य थे सब अज्ञानपूर्ण कार्य थे। जब उसे उनकी निरर्थकता का अनुभव हुआ तब वह उन्हे कैसे जारी रख सकता था?

यही बात ज्यादातर आदमियों के साथ होती रही है और होती है। मै उन लोगो की बात कह रहा हूँ जिन्होने हमारे दर्जे या सतह की तालीम पाई है और जो अपने तई ईमानदार है; मै उन लोगो की बात नहीं कह रहा हूँ जो दुनियावी इरादो और आकाक्षाओं को पूरा करने के लिए धर्माचरण को साधन बनाते हैं। (ऐसे आदमी सबसे बड़े, बुनियादी, नास्तिक है,

क्योंकि अगर उनके लिए धर्मनिष्ठा दुनियाबी मकसदों को हासिल करने का उपाय है तो फिर वह धर्मनिष्ठा ही नहीं है)। हमारी तरह की तालीम पाये हुए ये लोग ऐसी स्थिति में हैं कि ज्ञान और जीवन के प्रकाश ने एक बनावटी इमारत को गलाकर बहा दिया है और उन्होंने या तो इस बात को देख लिया है और उस जगह को साफ कर दिया है या फिर अभी तक इधर उनका ध्यान ही नहीं गया है।

दूसरों की तरह मेरी भी गति हुई, बचपन से सिखाया हुआ धर्म-विचार मेरे पास से भी लुप्त हो गया। लेकिन फ़र्क इतना-सा जरूर रहा कि १५ साल की उम्र से मैंने दार्शनिक ग्रन्थों को पढ़ना शुरू कर दिया जिससे धर्म-मत का यह त्याग छोटी उम्र में ही चेतनापूर्वक किये काम-सा हो गया। १६ सोलह साल का होते ही मैंने प्रार्थना कहनी या करनी बन्द कर दी, मेरा चर्च (गिर्जा = ईसाईधर्ममन्दिर) जाना छूट गया और उपवास का भी अन्त हो गया और यह सब मैंने अपने ही संकल्प से किया। जो कुछ मुझे बचपन मे सिखाया गया था उसमें मेरा विश्वास नहीं था; लेकिन कोई-न-कोई चीज़ ऐसी ज़रूर थी जिसमें मै विश्वास करता था। वह कौन-सी चीज़ है जिसमें मेरा विश्वास था, यह उस वक्त मै नहीं बता सकता था। मै किसी ईश्वर में विश्वास करता था या यों कह सकते है कि ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता था, पर उस वक्त यह बताना मेरे लिए नामुमकिन था कि वह ईश्वर किस तरह का है। मै ईसा और उनकी शिक्षाओं को भी अस्वीकार नहीं करता था; लेकिन उनकी शिक्षाएँ क्या हैं, यह मै नहीं कह सकता था।

जब मैं उस ज़माने की तरफ़ नज़र दौड़ाता हूँ तो अब मुझे साफ़-साफ़ दिखाई पड़ता है कि मेरी निष्ठा, मेरी एकमात्र वास्तविक निष्ठा, वह निष्ठा जो पाशविक प्रेरणाओं के अलावा मेरे जीवन को गति देती थी, मेरा यह विश्वास था कि मुझे अपने को पूर्ण बनाना चाहिए। लेकिन इस पूर्णता के मानी क्या हैं या उसका प्रयोजन क्या है, इसे मै नहीं बता सकता था। मैंने मानसिक दृष्टि से अपने को पूर्ण बनाने की कोशिश की —मैंने हरएक

ऐसी चीज़ का अध्ययन किया, जिसका अध्ययन कर सकता था और जिसे ज़िन्दगी मेरे रास्ते पर डाल देती थी। मैंने अपनी संकल्प-शक्ति को पूर्ण करने की कोशिश की; मैंने ऐसे नियम बनाये जिनका पालन करने की मै कोशिश करता था; मैंने शारीरिक दृष्टि से भी अपने को पूर्ण किया—हर तरह की कसरतो से अपनी ताकत बढ़ाने और शरीर मे फुर्ती लाने की कोशिश की और सुख-साधनों के सब तरह के त्याग के ज़रिए अपनी सहन-शक्ति और धीरज को बढ़ाने का यत्न किया। मैं इन सब को पूर्णता की खोज या अनुसरण समझता था। निश्चय ही इन सब की शुरुआत नैतिक पूर्णता से हुई, पर जल्द ही उसका स्थान सब तरह की सामान्य परिपूर्णता ने ले लिया यानी मेरे अन्दर यह ख़्वाहिश पैदा हुई कि मैं न सिर्फ अपनी और ईश्वर की निगाह में, बल्कि दूसरे लोगो की निगाह मे भी अच्छा बनूं। और बहुत जल्द यह कोशिश फिर दूसरों से ज्यादा ताकतवर बनने की इच्छा में बदल गयी और मन मे यह बात पैदा हुई कि मै दूसरों से ज्यादा मशहूर, ज्यादा महत्त्वपूर्ण या वकत वाला और ज्यादा मालदार बनूं।

: २ :

किसी दिन मैं अपनी जवानी के दस सालो के जीवन की करुणा-जनक और शिक्षाप्रद कहानी बयान करूँगा। मेरा ख़याल है कि और भी बहुतेरे आदमियों को ऐसा ही अनुभव हुआ होगा। अपनी सम्पूर्ण आत्मा से मै अच्छा बनना चाहता था; लेकिन जब मैंने अच्छा बनने की कोशिश शुरू की तो मै जवान था, तीखे स्वभाव का या वासनाओं से भरा था और अकेला था— बिल्कुल अकेला। जब-जब मैंने नैतिक रूप से भला बनने की अपनी सच्ची ख़्वाहिश जाहिर की, तब-तब हर बार मेरा उपहास किया गया और दिल्लगी उड़ाई गई, लेकिन ज्योंही मै तुच्छ वासनाओं के आगे सिर झुका देता था, मेरी तारीफ की जाती और मुझे बढ़ावा दिया जाता था।

आकांक्षा, शक्ति का प्रेम, लोभ, कामुकता वा लम्पटता, घमण्ड, गुस्सा और प्रतिहिंसा सब की इज़्ज़त की जाती थी।

इन वासनाओ के आगे सिर झुकाकर मै बड़े-बूढों, सिनरसीदा लोगो की तरह हो गया और मैंने महसूस किया कि वे मेरी ताईद करते हैं। मेरी काकी, जिनके साथ मै रहता था, खुद बहुत ही शुद्ध और ऊँचे चरित्र की थीं, लेकिन वह भी मुझसे सदा कहा करती थीं कि उनको किसी बात की इतनी इच्छा नहीं है जितनी इस बात की कि मेरी किसी व्याहता औरत से साँठ-गाँठ लग जाय। 'Rien ne forme un jeune homme, comme une liaison avec une femme il faut' (कोई चीज़ जवान आदमी को बनाने मे उतना काम नही करती जितनी अच्छी जाति या पैदाइश की एक औरत से उसकी घनिष्टता करती है।) मेरे लिए दूसरा सुख वह यह चाहती थीं कि मैं एडीकाग (किसी सेनापति या प्रतिष्ठित पदाधिकारी का

शरीर-रक्षक), और मुमकिन हो तो सम्राट् का एडीकाग, बनूँ। पर सबसे बड़ा सुख तो उन्हें इस बात से होगा कि मैं किसी बड़ी मालदार लड़की से शादी करूँ ताकि मेरे पास गुलामो की ज्यादा-से-ज्यादा तादाद हो।

बिना त्रास, घृणा और हृदय-वेदना के मै उन सालों का ख़याल नहीं कर सकता। मैंने लड़ाई में आदमियो को क़त्ल किया, और मैंने लोगों को मारने के लिए उनको द्वन्द्वयुद्ध में ललकारा; मैंने जुआ खेला और उसमें हारा; मैंने किसानो से बेगार ली और उन्हे सजाएँ दीं, बुरे आचरण किये और लोगो को धोका दिया। झूठ बोलना, लोगों को लूटना, हर तरह का व्यभिचार, मद्यपता, हिंसा, खून—मतलब कोई ऐसा जुर्म नहीं था जिसे मैंने न किया हो, और मज़ा यह कि इन बातों के लिए लोगो ने मेरे आचरण की तारीफ़ की और मेरे ज़माने के आदमियो ने मुझे और लोगो के मुकाबिले मे सदाचारी व्यक्ति समझा और समझते हैं।

दस सालों तक मेरी जिन्दगी की यह सूरत थी!

इस ज़माने में मैंने लोभ और गरूर के कारण लिखना शुरू किया। मैंने अपनी रचनाओ में वही किया जो मै अपनी ज़िन्दगी में करता था। नामवरी और दौलत हासिल करने के लिए मै लिखता था और इसके लिए अच्छाई को छिपाना और बुराई का प्रदर्शन करना ज़रूरी था। मैंने यही किया। न जाने कितनी बार अपनी रचनाओं में उदासीनता और कभी-कभी उपहास के जामे में मैंने भलाई की तरफ़ जानेवाली अपनी उन प्रेरणाओं को छिपाने और दबाने की कोशिश की जिनकी वजह से मेरी ज़िन्दगी की सार्थकता थी। मै इसमें कामयाब हुआ और इसके लिए मेरी तारीफ़ की गई।

छब्बीस साल की उम्र में, लड़ाई के बाद, मै पीटर्सबर्ग लौटा और लेखकों से मिला। उन्होने मुझे अपनाया, स्वागत किया और मेरी चापलूसी की। और इसके पहले कि मै अपने इर्द-गिर्द नज़र डालता, मैंने उन लेखको के समूह के जीवन-सम्बन्धी विचारो को ग्रहण कर लिया था, जिनके बीच मे आया था। इन विचारो ने मेरे भला बनने की सारी पूर्व प्रेरणाओं का पूरी तरह लोप कर दिया। इन ख़यालों ने ऐसी विचार-प्रणाली मुहय्या कर

दी कि जिससे मेरी ज़िन्दगी की लम्पटता और विषयासक्ति सही साबित हो गई।

मेरे इन साथी लेखको के जीवन-सम्बन्धी विचार ये थे: 'सामान्य जीवन विकसित होता ही जाता है और इस विकास में हम विचार-प्रधान आदमी ख़ास हिस्सा लेते हैं; फिर विचार-प्रधान आदमियो में भी हमारा—कलाकारों और कवियो का—सबसे ज्यादा प्रभाव होता है। हमारा धन्धा मनुष्य-जाति को शिक्षा देना है।' और कही यह सीधासादा सवाल किसी के दिल मे न उठ खड़ा हो कि मै जानता क्या हूँ और शिक्षा किस बात की दे सकता हूँ, इसके लिए इस सिद्धान्त या विचार-प्रणाली में यह कहा जाता था कि इसका जानना ज़रूरी नही है और कलाकार और कवि अचेतावस्था (विना अपने काम का भान रक्खे हुए) में ही शिक्षा देते है। मै एक काबिल-तारीफ़ कलाकार और कवि समझा गया, इसलिए मेरे लिए इस उसूल को मान लेना स्वाभाविक हो गया। मै, कलाकार और कवि, ने लिखा और शिक्षा दी, खुद न जानते हुए कि मै क्या लिख रहा हूँ और क्या सीख दे रहा हूँ। और इसके लिए मुझे धन मिलता रहा, मुझे अच्छा लजीज़ खाना, निवास, औरत और समाज सब कुछ मिला: और फिर मेरा यश भी फैला जिससे यह दिखता था कि जो कुछ मै सिखा रहा हूँ वह बहुत अच्छी चीज़ है।

कविता के प्रयोजन और जीवन के विकास में इस तरह का विश्वास (अकीदा) एक मज़हब था और मै उसका एक पुरोहित। इसका पुरोहित या पुजारी होना बड़ा मज़ेदार और फ़ायदेमन्द था। मै बहुत दिनो तक इस मज़हब को, उसके औचित्य में किसी तरह का सन्देह किये बिना मानता रहा। लेकिन इस ज़िन्दगी के दूसरे और ख़ास तौर पर तीसरे साल में मै इस मज़हब की निर्भ्रान्तता पर शुबहा करने लगा और मैने उसकी जाँच करनी भी शुरू कर दी। इस शुबहे की पहली वजह यह थी कि मैंने देखा कि इस मज़हब के सब पुजारी या पुरोहित भी आपस में एक राय नही रखते। कुछ कहते थे: 'हम सबसे अच्छे और सबसे उपयोगी शिक्षक हैं;

हम वही सिखाते हैं जिसकी ज़रूरत है। पर दूसरे ग़लत बातें सिखाते हैं।' दूसरे कहते : 'नहीं, असली शिक्षक हम हैं, तुम ग़लत बातें सिखाते हो।' और वे एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते, गाली-गलौज करते और धोका दिया करते थे। हम में से बहुतेरे ऐसे भी थे जिनको इसकी परवा न थी कि कौन सही है और कौन ग़लत; वे सिर्फ़ हमारी इन कार्रवाइयों के ज़रिए अपना मतलब पूरा करने पर तुले हुए थे। इन सब बातों की वजह से मैं अपने मज़हब की सच्चाई पर शुबहा करने को मजबूर हो गया।

ख़ुद लेखकों के धर्म-मत या लक्ष्य में इस तरह शुबहा करना शुरू करने के बाद मैं पुरोहितों पर भी ज्यादा बारीकी की नज़र डालने लगा और मुझे पक्का यकीन हो गया कि इस मज़हब के करीब-करीब सब पुजारी यानी लेखक असदाचारी, और ज्यादातर दुराचारी एवं अयोग्य हैं तथा उनसे कहीं नीचे हैं जिनसे मैं अपने पहले के भ्रष्ट और सैनिक जीवन में मिला था। वे आत्म-विश्वासी एवं आत्म-सन्तुष्ट थे और ऐसा वे ही आदमी हो सकते हैं जो बिल्कुल पवित्र हों या फिर जो जानते भी न हों कि पवित्रता किस चिड़िया का नाम है। इन आदमियों से मुझे नफ़रत होने लगी; मुझे ख़ुद अपने तईं नफ़रत हो गयी और मैंने महसूस किया कि यह मत सिर्फ़ धोखा-धड़ी के सिवा कुछ नहीं है।

लेकिन ताज्जुब है कि गो मैं इस धोखेबाज़ी को समझ और छोड़ चुका था, पर मैंने उस पदमर्यादा का त्याग नहीं किया जो इन आदमियों ने मुझे दे रक्खी थी—यानी कलाकार, कवि और शिक्षक की मर्यादा। मैंने बड़े भोलेपन के साथ यह ख़याल बना लिया कि मैं कवि और कलाकार हूँ और बग़ैर जाने हुए कि मैं क्या सिखा रहा हूँ, मैं हर एक को शिक्षा दे सकता हूँ। मैं इसी कल्पना के मुताबिक काम भी करता रहा।

इन आदमियों के संसर्ग से मैंने एक नई बुराई सीखी : मेरे अन्दर ग़ैरमामूली तौर पर बढ़ा हुआ यह ग़रूर और मूर्खतापूर्ण विश्वास पैदा हुआ कि आदमियों को शिक्षा देना ही मेरा धन्धा वा पेशा है— फिर चाहे मुझे ख़ुद मालूम न हो कि मैं क्या सिखा रहा हूँ।

उस ज़माने की और अपनी तथा उन आदमियो (जिनके समान आज भी हजारो है) की मनोदशा की याद करना बड़ा दु खदाई, खौफ़नाक और भद्दा है और इससे ठीक वही भावना पैदा होती है जो आदमी पागलखाने में महसूस करता है ।

हॉ, तो उस वक्त हम सब का यकीन था कि हमें जितनी तेज़ी के साथ और जितना ज्यादा मुमकिन हो बोलना, लिखना और छपाना चाहिए और यह सब मनुष्य के हित के लिए ज़रूरी है । हममें से हजारों ने एक-दूसरे का खण्डन और परस्पर निन्दा करते हुए, दूसरों को शिक्षा देने के लिए लिखा और छपवाया—बग़ैर बताये हुए कि हम कुछ नही जानते या जिन्दगी के इस बिल्कुल सीधे सवाल का जवाब दिये बग़ैर कि आखिर अच्छाई क्या है और बुराई क्या है, हम जवाब देना भी नहीं जानते थे, एक-दूसरे की सुनते न थे और सब एक ही वक्त बोलते थे; कभी इस ख़याल से दूसरे का समर्थन और प्रशंसा करते थे कि वह भी मेरा समर्थन और प्रशंसा करेगा। और कभी एक दूसरे से नाराज हो उठते थे, जैसा कि पागलखाने में हुआ करता है ।

हजारो मजदूर दिन-रात अपनी पूरी ताकत से कम्पोज करते और उन लाखो शब्दो को छापने की मेहनत करते थे, जिन्हें डाकखाना सारे रूस मे फैला देता था, और हम सब शिक्षा देते ही जाते थे, जैसे हम को शिक्षा देने का काफ़ी वक्त ही न मिलता हो। हमें सदा इस बात पर खीझ भी होती थी कि हमारी तरफ़ काफ़ी तवज्जह नही दी जा रही है ।

यह बड़े ही ताज्जुब की बात थी, पर इसका समझना मुश्किल न था । हमारी असली और दिली मंशा तो यह थी कि ज्यादा-से-ज्यादा दौलत और नामवरी हासिल हो। इस मतलब को हल करने के लिए हम किताबें लिखने और अख़बार निकालने के अलावा और कुछ कर नही सकते थे, इसलिए हम यही करते थे। पर यह फिजूल का काम करने और इसका इत्मीनान रखने के लिए कि हम बड़े महत्वपूर्ण लोग है, हमें अपने कामों को उचित ठहरानेवाले एक मत—'थियरी'—की जरूरत थी। इसलिए हम लोगों के

बीच यह मत चल पड़ा : 'जितनी बातों का अस्तित्व है वे सब ठीक हैं। जो कुछ है उस सबका विकास होता है। यह सब विकास संस्कृति के जरिये होता है। और संस्कृति की माप किताबों और अखबारों के प्रचार से की जाती है। और चूँकि हम किताबें और अखबार लिखते हैं, इसलिए हमें धन और इज्जत मिलती है और इसीलिए हम सब आदमियों से अच्छे और उपयोगी हैं।' अगर सब लोग एक राय के होते तो यह मत या सिद्धान्त, हमारे लिए ठीक बना रहता, पर चूँकि हममें से हर एक आदमी जो खयाल जाहिर करता, दूसरा सदा उसके बिल्कुल विरोधी विचार प्रकट करता, हमारे मन में विचारशीलता और चिन्ता का भाव पैदा होना स्वाभाविक था। पर हमने उसकी उपेक्षा की। लोग हमको धन देते थे और हमारी तरफ़ के लोग हमारी तारीफ़ करते थे: इसलिए हम में से हर एक अपने को ठीक समझता था।

आज मुझे साफ-साफ मालूम पड़ता है कि यह सब पागलखाने-जैसी बातें थीं; पर उस वक्त मुझे सिर्फ इसका धुँधला आभास था और जैसा कि सभी पागलों का कायदा है, मैं अपने सिवा और सब को पागल कहता था।

: ३ :

अपने को इस पागलपन में डाले हुए मैंने छः साल और बिताये—यानी तबतक जबतक कि मेरी शादी नहीं हो गई। इस अवधि में मै विदेश गया। वहाँ, यूरोप में, मेरा जैसा जीवन रहा उससे और प्रधान-प्रधान विद्वान् यूरोपियनों के साथ परिचय में आने पर मेरा यह मत कि पूर्णता के लिए कोशिश करनी चाहिए, और दृढ़ हो गया; क्योंकि मैंने देखा कि वे भी ऐसा ही मानते हैं। इस निष्ठा ने मेरे अन्दर भी वही सूरत पकड़ी जो हमारे ज़माने के ज्यादातर तालीमयाफ्ता लोगों के साथ होती है। यह 'प्रगति' के नाम से ज़ाहिर की जाती थी। तभी मुझे खयाल आया कि इस शब्द के भी कुछ मानी हैं। दूसरे ज़िन्दा आदमियों की तरह मुझे यह सवाल परेशान किए हुए था कि मेरे लिए किस तरह ज़िन्दगी बसर करना सबसे अच्छा होगा और तब भी मैं ठीक-ठीक नहीं समझता था कि इस सवाल का मेरा जवाब—'प्रगति के अनुकूल जीवन बिताओ'—नाव पर सवार उस आदमी के जवाब की तरह है जो तूफान के बीच पड़ा हुआ है और 'किधर नाव खेना है' का जवाब यह कहकर देता है कि 'हम कहीं बहे जा रहे हैं।'

उस वक्त यह बात मेरे ध्यान में नहीं आई थी। कभी-कभी, बुद्धि से समझकर नहीं, बल्कि प्रेरणा के कारण, मैं इस मिथ्या-विश्वास के प्रति विद्रोह करता था, जो हमारे ज़माने में एक आम बात थी और जिसके ज़रिये आदमी ज़िन्दगी के मानी समझने में अपने अज्ञान को खुद अपने से ही छिपाते हैं। ...जब मै पेरिस मे ठहरा हुआ था तब एक आदमी को फाँसी दी जाती देख कर मुझे प्रगति में अपने मिथ्या विश्वास की अस्थिरता का पता चला। जब मैंने सिर को धड़ से जुदा होते देखा और उनको अलग-अलग होकर तख्ते पर गिरते देखा तब मैंने न सिर्फ़ अपने मन या

दिमाग़ से वल्कि सारी हस्ती के साथ महसूस किया कि हमारी मौजूदा तरक्की—प्रगति—के औचित्य की कोई दलील इस करतूत को मौज़ूँ या उचित नही वना सकती और गोकि दुनिया की शुरुआत से हर एक आदमी ने इसे ज़रूरी, चाहे किसी उसूल पर, वताया है, मैने समझ लिया कि यह ग़ैरज़रूरी और वुरी है; इसलिए वुरा क्या है, भला क्या है, इसका फ़ैसला यह देखकर नही किया जा सकता कि लोग क्या कहते और करते हैं; प्रगति भी इसका निर्णय नही कर सकती—इसका फ़ैसला तो मेरा हृदय और 'मै' ही कर सकता हूँ। प्रगति में मूढ विश्वास जिन्दगी की रहनुमाई करने के लिए नाकाफ़ी है, इसे दूसरी वार मैंने अपने भाई की मौत को देखकर महसूस किया। वह वुद्धिमान थे, भले थे और गंभीर स्वभाव के थे। फिर भी जवानी में ही वीमार पड़े, एक साल से ज्यादा वक्त तक कष्ट भोगते रहे और वग़ैर इसे समझे हुए कि वह किसलिए जिये और इससे भी कम यह कि उनको किसलिए मरना पड़ रहा है, वड़ी वेदना के साथ उनकी मौत हुई। जव वह आहिस्ता-आहिस्ता और कष्टपूर्वक यो मर रहे थे उस वक्त पैदा होने वाले इन सवालो का जवाब उनको या मुझको, किसी उसूल या मत से नहीं हासिल हो सका। पर इस तरह के सन्देह तो मेरे मनमें कभी-कभी ही उठते थे, दरअसल तो मै प्रगति का हामी और भक्त वनकर ही जिन्दगी गुज़ारता रहा। 'सब का विकास होता है और उसके साथ मेरा भी विकास होता है; सव के साथ मेरा विकास क्यो होता है, इसका पता भी कभी लग जायगा।' उस वक्त इस तरह का विश्वास मैंने वना रक्खा था।

विदेश से लौटने पर मै देहात में वस गया। यहाँ मुझे किसानो के स्कूलो में काम करने का मौका मिला। यह काम ख़ास तौर पर मेरी तवीयत के लिए मौज़ूँ था; क्योंकि इसमें मुझे उस झूठ का सामना नहीं करना पड़ता था जो मेरे सामने साहित्यिक साधनो (अदवी ज़रियो) से लोगो को शिक्षा देते वक्त होता था और मुझे घूरता था। यह ठीक है कि यहाँ भी मैंने 'प्रगति' के नाम पर काम किया; पर मै अव खुद 'प्रगति' को शुवहे की नज़र से देखता था। मैंने अपने तई कहा—'अपनी कुछ प्रवृत्तियो

में 'प्रगति' की चाल ग़लत रही है : शुरू के ज़माने के तौर-तरीक़े वाले इन सीधे-सादे किसानों के बच्चों के साथ तो पूरी आजादी की वृत्ति से ही बर्ताव किया जा सकता है—उनको खुद चुनने देना चाहिए कि वे प्रगति के किस रास्ते को पसन्द करते हैं।' दरअसल तो मै एक ही असाध्य मसले के चारों तरफ़ लगातार चक्कर काट रहा था; वह मसला यह कि 'बग़ैर जाने कि क्या सिखाया या पढ़ाया जाय, किस तरह सिखाया जा सकता है।' साहित्यिक कामों के ज्यादा ऊँचे क्षेत्र में मैंने यह महसूस कर लिया था कि कोई तब-तक शिक्षा नहीं दे सकता जबतक यह जान न ले कि क्या शिक्षा देनी है। वहाँ मैंने देखा कि सब लोग जुदा-जुदा ढंग से बताते या सिखाते है और आपस मे लड़ने की वजह से सिर्फ एक-दूसरे से अपने अज्ञान को छिपाने में कामयाब होते हैं। लेकिन यहाँ किसानों के बच्चों के बीच काम करते वक्त मैंने इस मुश्किल को दूर करने के लिए उन्हे पूरी आजादी दे दी कि वे जो चाहे उसे ही सीखें। मुझे याद आ रहा है कि मैं अपनी सिखाने की इच्छा को तृप्त करने के प्रयत्न में किस तरह की हरकते करता था। अपनी अन्तरात्मा मे तो मैं अच्छी तरह जानता था कि मै कोई उपयोगी या कारआमद चीज सिखा नहीं सकता; क्योंकि मैं जानता ही नही कि क्या उपयोगी या ज़रूरी है। साल भर तक स्कूल का काम करने के बाद मैं दूसरी बार इस बात का पता लगाने के लिए विदेश गया कि खुद कुछ न जानते हुए भी मैं दूसरों को कैसे शिक्षा दे सकता हूँ।

और मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैंने विदेश जाकर इसे सीख लिया और किसानों की मुक्ति के साल (१८६१) में मैं इस ज्ञान के साथ रूस लौटा। लौटते ही मैं पंच (किसानों और जमींदारों के बीच शान्ति बनाये रखने वाला) बना दिया गया। स्कूल में मैंने अशिक्षित किसानों को सिखाना-पढाना शुरू किया और शिक्षित वर्गों को एक पत्रिका निकालकर उसके ज़रिये शिक्षा देने लगा। दिन अच्छी तरह बीतते हुए मालूम पड़ते थे, पर मैं महसूस कर रहा था कि मानसिक दृष्टि से मेरी दशा अच्छी नहीं है और इस तरह से ज्यादा दिन तक चल नहीं सकता। उस वक्त शायद

मेरी ज़बर्दस्त निराशा की वही हालत होती जो पन्द्रह साल बाद हुई। पर चूँकि जिन्दगी का एक पहलू ऐसा था जिसका तजुरबा अभी मैं न कर पाया था, इसलिए उधर से सुखी होने की उम्मीद बनी रही। मेरा मतलब विवाह से है।

एक साल तक तो मैंने अपने को पंचायत, स्कूल और पत्रिका के काम में खूब व्यस्त रक्खा और मैं ख़ास तौर पर अपने मानसिक या दिमाग़ी व्यग्रता के कारण बिल्कुल पस्त हो गया। पंच की हैसियत से मुझे इतनी ज़बर्दस्त कशमकश करनी पड़ती थी, स्कूलों में मेरे काम का कुछ ऐसा अस्पष्ट परिणाम निकल रहा था और पत्रिका में मेरी जोड़-तोड़ इतनी घृणा-जनक थी (क्योंकि उसमें सिर्फ़ एक ही बात होती थी—हरएक को सिखाने की इच्छा और यह छिपाने की कोशिश कि क्या सिखाना चाहिए इसका मुझे ज्ञान नहीं) कि मैं बीमार पड़ गया। यह बीमारी शारीरिक की बनिस्बत मानसिक ही ज्यादा थी। मैंने सब काम छोड़ दिये और साफ़-ताज़ी हवा में सांस लेने, कूमीज़[1] पीने और सिर्फ़ जानवरों जैसी ज़िन्दगी बिताने के ख़याल से बशकीर के मैदानों में चला गया।

वहाँ से लौटने के बाद मैंने शादी कर ली। सुखी कौटुम्बिक जीवन की नई हालतों ने जीवन के सामान्य अर्थ-सम्बन्धी सब खोजों की तरफ़ से मुझे विमुख कर दिया। उस वक्त मेरी सारी ज़िन्दगी अपने कुटुम्ब, स्त्री और बच्चों में केन्द्रित थी, इसलिए मुझे अपनी जीविका के साधनों को बढ़ाने की भी फ़िक्र लग गयी। अपने को पूर्ण बनाने की कोशिश, जिसकी जगह मैं सामान्य पूर्णता यानी प्रगति के उसूल को अपना ही चुका था, फिर जाती रही और उसकी जगह मै अपने और अपने कुटुम्ब के लिए, जहाँ तक मुमकिन हो, अच्छी-से-अच्छी सुविधायें जुटाने की कोशिश में लग गया।

इस तरह पन्द्रह साल और बीते।

यद्यपि अब मैं लेखन-कार्य को कोई महत्व नहीं देता था फिर भी मैं

---

१ घोड़ी के दूध से बनाया हुआ एक तरह का हल्का नशा पैदा करनेवाला पेय।

उन पन्द्रह सालों में लिखता ही रहा। मैं पुस्तक लेखक होने—खूब आर्थिक पुरस्कार पाने और अपनी निकम्मी रचनाओं के लिए यश प्राप्त करने—के प्रलोभन का स्वाद पा चुका था। इसलिए अपनी दुनियावी या माली हालत अच्छी करने और खुद अपनी या सामान्य ज़िन्दगी के अर्थ के बारे में अन्तरात्मा के अन्दर उठने वाले सवालों को दबा देने के लिए मैंने लिखना जारी रक्खा।

मेरे लिए जो एकमात्र सच्चाई रह गई थी, वही मैं दूसरों को अपनी रचनाओं के ज़रिये सिखाने लगा—यानी आदमी को इस तरह रहना चाहिए कि वह अपने और अपने कुटुम्ब के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा सुख-सहूलियत का सामान मुहय्या कर सके।

इस तरह जिन्दगी की गाड़ी चलती रही; लेकिन पाँच साल पहले मुझे एक अजीब अनुभव होने लगा। शुरू में एक परेशानी और उलझन का अनुभव होता था; कुछ ऐसा महसूस होता था जैसे ज़िन्दगी की रफ़्तार बन्द हो गई है, उसमें कोई रुकावट पैदा हो गई है और मैं नहीं जानता कि किस तरह जीना चाहिए और क्या करना चाहिए। मैं अपने को खोया हुआ और मायूस अनुभव करने लगा। लेकिन धीरे-धीरे यह अवस्था बीत गई और मैं पहले-जैसी जिन्दगी बिताने लगा। कुछ दिनों बाद इस तरह की उलझन बार-बार होने लगी और उसकी सूरत भी एक ही होती थी। यह उलझन कुछ इस सवाल की सूरत में सामने आती थी : यह किसलिए है? यह कहाँ ले जाती है?

शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा लगता था कि ये बेमानी और बेसिर-पैर के सवाल हैं। मैंने सोचा कि यह सब अच्छी तरह जाना हुआ है और अगर कभी मैं इसे हल करना चाहूँगा तो मुझे कुछ ज़्यादा मेहनत न करनी पड़ेगी; फिलहाल मेरे पास इसके लिए वक्त नहीं है, पर जब मैं चाहूँगा, इसका जवाब ढूँढ़ लूँगा। पर ये सवाल बार-बार दिमाग़ में उठने लगे और जवाब देने के लिए ज्यादा जोर देने लगे। एक ही जगह गिरती हुई स्याही की तरह उन्होंने एक बड़ा काला निशान बना दिया।

इसका नतीजा वही हुआ जो घातक अन्दरूनी बीमारी से पीड़ित हुए एक आदमी का होता है। पहले तबीयत की गिरावट के हलके लक्षण दिखाई पड़ते हैं जिसकी तरफ़ अस्वस्थ आदमी ध्यान नहीं देता; फिर ये अलामात या लक्षण जल्द-जल्द, बार-बार, दिखाई पड़ने लगते हैं और फिर लगातार पीड़ा की अवधि में तब्दील हो जाते हैं। तकलीफ़ बढ़ती जाती है और इसके पहले कि बीमार आदमी अपने इर्द-गिर्द नजर डाले, वह चीज जिसे उसने महज़ तबीयत का भारीपन समझ रक्खा था, दुनिया में उसके लिए सब चीज़ों से ज़्यादा महत्वपूर्ण हो चुकी रहती है!—यह मौत है!

मेरे साथ यही वाक़आ हुआ। मैंने समझ लिया कि यह कोई आकस्मिक अस्वस्थता नही है, बल्कि कोई बड़ी महत्वपूर्ण बात है। और अगर ये सवाल इसी तरह बार-बार सामने आते रहे तो इनका जवाब देना ही पड़ेगा। मैंने उनका जवाब देने की कोशिश की। ये सवाल कितने मूर्खतापूर्ण, सीधे और बचपन से भरे हुए मालूम पड़ते थे, लेकिन ज्योंही मैंने उनको हाथ में लिया और हल करने की कोशिश की, त्योंही मुझे यकीन हो गया कि (१) वे बचपन से भरे हुए या मूर्खतापूर्ण सवाल नहीं हैं, बल्कि ज़िन्दगी के सवालों में सबसे महत्त्वपूर्ण और गम्भीर हैं और (२) मैं चाहे जितनी कोशिश करूँ उनको हल करने में असमर्थ हूँ। अपनी समारा नाम की जमीदारी सँभालने, अपने बेटे की तालीम का इंतजाम करने और किताब लिखने के पहले मेरे लिये यह जानना ज़रूरी हो गया कि मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ। जबतक मैं जान न लेता कि क्यों, तबतक कोई काम नही कर पाता था, यहाँ तक कि ज़िन्दगी नामुमकिन मालूम पड़ती थी। उस वक्त मैं जमींदारी के इन्तज़ाम में ज़्यादा फँसा हुआ था, लेकिन उसकी झंझटों के बीच भी एकाएक यह सवाल मेरे दिमाग़ में पैदा हो जाता कि—'तुम्हारे पास समारा सरकार में ६००० 'देसियातिना' * ज़मीन है, ३०० घोड़े हैं पर इसके बाद ?'...मैं परेशान हो जाता और समझ में नहीं आता कि क्या सोचूँ ? इसी तरह अपने बच्चों की तालीम की

* एक देसियातिना लगभग पौने-तीन एकड़ के बराबर होता है।

योजनाओं पर ग़ौर करते-करते मैं अपने तईं पूछने लगता—'किस लिए ?' जब इस बात पर विचार कर रहा होता कि किसानों को समृद्ध कैसे बनाया जा सकता है, मैं एकाएक अपने से सवाल कर बैठता—'बहुत अच्छा, तुम गोगल[1], पुश्किन[2], शेक्सपीयर[3] या मौलियर[4], बल्कि दुनिया के सब लेखकों से ज्यादा मशहूर होगे—पर इससे क्या ?' मुझे इसका कुछ भी जवाब नहीं सूझता था। उधर सवाल ठहरने को तैयार न थे, वे तुरन्त जवाब चाहते थे और अगर मैं उनका जवाब न देता तो मेरा जीना नामुमकिन था। पर क्या करता, कुछ जवाब ही न था।

मैंने महसूस किया कि जिस चीज़ पर मैं इतने दिनों से खड़ा था वह गिर गयी है और मेरे पाँव के नीचे कोई आधार नहीं है: जिस चीज के सहारे मैं इतने दिनों तक जी रहा था वह खत्म हो गयी है और ऐसी कोई चीज़ नहीं रह गयी है जिसको लेकर मैं जी सकूँ।

१-२ प्रसिद्ध रूसी लेखक ३ प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार ४ मशहूर फरांसीसी हास्य नाट्य लेखक।

: ४ :

मेरी ज़िन्दगी की हरकत बन्द हो गई। मै सॉस लेता, खाता-पीता और सोता था, इन कामो को करने के लिए मै मजबूर था; लेकिन जीवन नही रह गया था; क्योंकि ऐसी ख़्वाहिशें नही रह गई थी जिनका पूरा करना मेरे लिए मुनासिब हो। अगर किसी चीज़ की ख़्वाहिश होती तो भी मै पहले से ही समझ जाता था कि चाहे मै उसे पूरा करूँ या न करूँ, इससे कुछ होने-जानेवाला नही है। इस वक्त अगर कोई परी या देवी मेरे पास आकर वरदान मॉगने को कहती तो मुझे मालूम ही न पड़ता कि उससे क्या मॉगना चाहिए। कभी-कभी नशे की घड़ियों में मै कोई ऐसी चीज़ महसूस करता था जो इच्छा तो नहीं, हॉ, पहले की ख़्वाहिशों की वजह से पड़ी आदत होती थी, लेकिन चित्त के शान्त और स्वस्थ होने पर मैं समझ जाता था कि यह धोका है और दरअसल ख़्वाहिश करने लायक कोई चीज़ नहीं है। मै सत्य को जानने की इच्छा भी नहीं कर पाता था; क्योंकि मै एक कल्पना कर चुका था कि वह किन बातों मे है। मैने सत्य यह समझ लिया था कि ज़िन्दगी बेमानी है। मैंने तबतक ज़िन्दगी बसर की और बसर की, चलता गया और चलता गया जबतक खन्दक के पास नही पहुँच गया और साफ़-साफ़ यह देख नही लिया कि मेरे आगे विनाश के सिवा कुछ नही है। ठहरना या पीछे लौट जाना नामुमकिन था, पर अपनी आँखों को बन्द कर लेना या इस बात को न देखना भी नामुमकिन था कि कष्ट और मौत—पूर्ण विनाश के सिवा अब मेरे आगे कुछ नही है।

हालत यह हो गई थी कि मैं एक तन्दुरुस्त और भाग्यवान आदमी महसूस करता था कि अब मै जी नही सकता; कोई अप्रतिहत शक्ति (न रोकी जा सकनेवाली ताकत) इधर या उधर ज़िन्दगी से छुटकारा पाने के

लिए मुझे धकेल रही है। मै यह तो नही कह सकता कि मैं अपनी हत्या करना चाहता था। जो ताकत मुझे ज़िन्दगी से दूर धकेल रही थी, किसी ख्वाहिश या चाह से कहीं ज़्यादा बलवान, पूर्ण और विस्तृत थी। यह कुछ उस ताकत से मिलती-जुलती थी जो पहले मुझे एक अलग दिशा में, जीने के लिए प्रेरित करती थी। मेरी सारी शक्ति मुझे ज़िन्दगी से दूर लिये जा रही थो। जैसे पहले अपनी ज़िन्दगी को सुधारने और विकसित करने के ख़यालात मेरे मन में आते थे वैसे ही स्वभावतः आत्म-विनाश का विचार भी मेरे मन मे पैदा हुआ। और यह ख़याल कुछ ऐसा लुभावना था कि मुझे अपने साथ ज़बर्दस्ती करनी पड़ी; क्योंकि अन्देशा था कि कहीं मै ज़्यादा जल्दबाज़ी में कुछ कर न बैठूँ। मै जल्दबाज़ी नहीं करना चाहता था, क्योंकि मै इसके जाल से निकलने की पूरी कोशिश कर लेना चाहता था। 'अगर मै मामलो को सुलझा नहीं सकता तो भी इसके लिए सदा वक्त है।' तब भाग्य की अनुकूलता से, मैंने अपने पास से अपने कमरे के उस पार्टिशन (बँटवारा) की रस्सी हटा दी जिसमें रोज रात को मै अपने कपडे उतारता था क्योंकि मुझे डर पैदा हो गया कि कहीं मै इसके ज़रिये फाँसी न लगा लूँ। मैंने बन्दूक लेकर बाहर शिकार के लिए जाना भी बन्द कर दिया कि कहीं ऐसी आसानी से मै अपनी ज़िन्दगी का ख़ात्मा न कर दूँ। मै खुद नहीं जानता था कि मैं चाहता क्या हूँ; मै ज़िन्दगी से भय खाता था, उससे भागना चाहता था; फिर भी उसकी कुछ-न-कुछ उम्मीद मुझे लगी हुई थी।

और मेरी यह हालत उस वक़्त हो रही थी जब मै चारों तरफ़ वैभव से घिरा हुआ था। अभी मेरी उम्र ५० की भी न थी; मेरी पत्नी बड़ी नेक थी; वह मुझे प्यार करती थी और मै उसे प्यार करता था। मेरे बच्चे अच्छे थे, मेरे पास एक बड़ी ज़मीदारी थी जो मेरे कुछ ज्यादा मेहनत किये बग़ैर बढ़ती जा रही थी। मेरे रिश्तेदार और परिचित लोग मेरी जितनी इज्ज़त इस वक़्त करते उतनी पहले कभी न करते थे। दूसरे लोग भी मेरी तारीफ करते थे और बग़ैर कुछ ज़्यादा आत्म-वंचना के मै समझ सकता था कि मेरा नाम मशहूर हो गया है। और पागल या मानसिक दृष्टि से

अस्वस्थ होना तो दूर रहा, इस वक्त मेरे शरीर और दिमाग़ में इतनी ताकत थी जितनी मेरे दर्जे के आदमियों में शायद ही कभी पाई जाती है। शरीर की दृष्टि से देखें तो मैं किसानों की बरावरी से कटाई का काम कर सकता था और मानसिक दृष्टि से मैं लगातार ८ से १० घण्टे तक, बिना थकावट या बुरेअसर के, काम में लगा रह सकता था। ऐसी हालत में भी मुझे यह महसूस होता था कि मैं जी नहीं सकूँगा और मौत से डर कर अपने साथ ही ऐसी चालबाज़ियाँ करता था कि कहीं मैं खुद अपनी जान न ले बैठूँ।

मेरी मानसिक स्थिति मेरे सामने कुछ इस तरह आती थी · मेरी ज़िन्दगी एक मूर्खतापूर्ण और ईर्ष्या से भरी हुई दिल्लगी है जो किसी ने मेरे साथ की है। गो मैं अपने को पैदा करनेवाले इस 'किसी' को मानता न था फिर भी इस तरह का ख़याल स्वभावतः मेरे मन में पैदा होता था कि किसी ने इस दुनिया में लाकर मेरे साथ बुरा और भद्दा मज़ाक किया है।

बग़ैर किसी तरह की कोशिश के मेरे अन्दर यह ख़्याल पैदा हुआ कि कहीं-न-कहीं कोई ऐसा ज़रूर है जो यह देखकर अपना मनोरंजन कर रहा है कि मैं तीस या चालीस सालों में किस तरह रहता रहा हूँ; किस तरह इस ज़माने में शरीर और दिमाग़ से सीखता एवं विकसित और पुष्ट होता रहा हूँ—और पुष्ट मानसिक शक्तियों के साथ जीवन की उस चोटी पर पहुँचकर, जहाँ से यह सब चीजें मेरे सामने पड़ी दिखाई देती हैं, मैं चोटी पर ही खड़ा हो गया हूँ—और महामूर्ख की तरह यह साफ़ देखता रहा हूँ कि ज़िन्दगी में कुछ नहीं है, न कुछ रहा है और न कुछ होगा। और वह दिल वहला रहा है...

लेकिन मुझ पर हँसने वाला 'वह कोई' हो या न हो, मेरी हालत तो ख़राब ही थी। मैं अपने किसी काम का, या सारी ज़िन्दगी का कोई उचित तात्पर्य ढूँढ़ नहीं पाता था। मुझे इस पर ताज्जुब हुआ कि मैंने शुरू से इस बात की जानकारी से अपने को महरूम रक्खा—दूसरों को तो यह बहुत दिनों से मालूम है। जिनको मैं प्यार करता हूँ उन पर या मुझे आज या कल बीमारी और मौत आयेंगी (वे तो आ ही चुकी थीं); बदबू और

कीड़ों के अलावा कुछ बाकी न रह जायगा। जल्द या कुछ देर से मेरी बातें लोग भूल जायँगे और मेरा अस्तित्व न रह जायगा। तब कोशिश करने से क्या फ़ायदा ?... आदमी इस बात को महसूस किये बिना कैसे रह सकता है ? कैसे वह ज़िन्दगी बसर करता जा सकता है ? यह अचंभे की बात है ! कोई तभी तक जी सकता है जबतक वह जीवन से मतवाला हो; ज्योंही वह शान्त और संयमी हुआ उसका यह न देखना नामुमकिन है कि यह सब सिर्फ़ धोखा और मूर्खतापूर्ण प्रवञ्चना है ! यही ठीक है; इसमें चालाकी की या मनोरंजन की कोई बात नही है, यह सिर्फ़ निर्दय और मूर्खतापूर्ण है।

पूरब की एक बड़ी पुरानी कहानी है। एक मुसाफ़िर रास्ते से कहीं जा रहा था। एक मैदान में उसकी किसी क्रुद्ध जंगली जानवर से भेंट हो गयी। वह मुसाफ़िर जानवर से भागकर पास के सूखे कुएँ मे घुस गया। पर जब उसने नीचे नज़र डाली तो देखता क्या है कि एक अजगर उसे निगलने के लिए अपना मुँह खोले हुए है। अब वह अभागा आदमी न तो जानवर के डर से कुएँ से बाहर ही आने की हिम्मत करता है और न अजगर के डर से कुएँ के अन्दर ही कूदने का साहस करता है। बचने के लिए वह कुएँ की एक दरार में निकली हुई टहनी पकड़कर लटक जाता है। उसके हाथ शिथिल होते जा रहे हैं और वह महसूस करता है कि जल्द ही उसे अपने को ऊपर या नीचे मौत के हाथ मे सौंपना पड़ेगा। फिर भी वह लटका ही रहता है। इतने में ही वह देखता क्या है कि एक सफ़ेद और एक काला—दो चूहे बार-बार उस टहनी की जड के इर्द-गिर्द घूमते हुए उसे काट रहे हैं। जल्द ही टहनी टूट जायगी और उसे अजगर के मुँह में समा जाना होगा। मुसाफिर यह सब देखता है और जान लेता है कि उसे लाज़मी तौर पर मरना ही है। तब वह लटके-ही-लटके अपने चारों तरफ निगाह डालता है। देखता क्या है कि टहनी की पत्तियों पर शहद की कुछ बूँदे पडी हुई हैं। वह झुककर ज़बान से उन्हें चाट लेता है। यही हालत मेरी है। मैं भी यह जानते हुए कि मौत का अज़दहा टुकडे-टुकडे

कर देने के लिए मेरी बाट जोह रहा है। मै जीवन की टहनी को पकडे हुए हूँ और यह समझने में असमर्थ हूँ कि क्यों मै ऐसी यातना के बीच गिर पड़ा हूँ। मैने शहद चाटने की कोशिश की जिससे पहले मुझे कुछ शान्ति मिली, पर शहद से मुझे सुख नहीं मिला और दिन और रात-रूपी सफ़ेद और काले चूहे ज़िन्दगी की उस टहनी को बराबर काट रहे हैं जिसे मैं पकड़े हुए हूँ। मैंने साफ़-साफ़ अज़दहे को देख लिया है और अब शहद मीठा नहीं लगता। मैं सिर्फ़ अज़दहे और चूहों को देख रहा हूँ और उनसे अपनी नज़र हटाने में असमर्थ हूँ। यह कोई कहानी नही, बल्कि एक ऐसी वास्तविक सच्चाई है जिसका जवाब नही और जो सबकी समझ में आ सकती है।

जीवन के आनन्द की वंचनायें, जो मेरे अज़दहे के भय को दबा रखती थी, अब मुझे धोका देने में असमर्थ हैं। चाहे मुझसे कितनी ही बार कहा जाय कि—'तुम जिन्दगी का मतलब नही समझ सकते, इसलिए उसके बारे में कुछ मत सोचो और जिओ', मै अब ऐसा नहीं कर सकता; मैंने काफ़ी अरसे तक इसे कर लिया है। अब मै दिन-रात को चक्कर काटते और मेरी मौत को नजदीक लाते देख रहा हूँ और इससे आँख मूँदने में असमर्थ हूँ। मैं इतना ही देख पाता हूँ, क्योंकि इतना ही सत्य है। बाकी सब झूठा है।

शहद की जिन दो बूँदों ने औरो की बनिस्बत ज़्यादा दिन तक इस निष्ठुर सत्य से मेरी आँखों को दूर रक्खा, वे है: कुटुम्ब के प्रति मेरा प्रेम और लिखने की तरफ़ मेरी आसक्ति, जिसे मैं कला के नाम से पुकारता था। पर अब इन बूँदो में भी मिठास नही मालूम पडती थी।

मैंने अपने मन में कहा—'कुटुम्ब' पर मेरा कुटुम्ब—पत्नी और बच्चे—भी तो मानवीय है। उनकी भी वही स्थिति है जो मेरी है; उनको भी या तो झूठ के बीच रहना है या फिर भयंकर सत्य को देख लेना है। वे क्यो जिये? मैं उन्हें क्यों प्यार करूँ, क्यो उनकी हिफ़ाज़त करूँ और क्यों उनका पालन-पोषण या देख-रेख करूँ? इसलिए कि वे मेरी तरह नाउम्मेदी

और निराशा का अनुभव करे या फिर मूर्खता में पड़े रहे? जब मैं उन्हें प्यार करता हूँ तब उनसे सत्य को कैसे छिपा सकता हूँ: और ज्ञान—जानकारी—का हरएक क़दम उनको सत्य के नजदीक ले जाता है। और सत्य ही मौत है।

'कला, कविता?'. कामयाबी और लोगों के मुँह से तारीफ़ होने के कारण मैंने बहुत दिनों पहले से अपने दिल को समझा रक्खा था कि यह ऐसी चीज़ है जिसे आदमी करता रह सकता है—गो मौत नज़दीक आती जा रही थी—वह मौत जो सब चीजों को नष्ट कर देती है, मेरी रचना और उसकी याद को भी। लेकिन जल्द ही मैंने देख लिया कि यह भी एक धोखा ही है। मुझे ज़ाहिर था कि कला जीवन का आभूषण है, जीवन का प्रलोभन है। लेकिन मेरे लिए जीवन का आकर्षण दूर हो चुका था; तब दूसरों को मैं कैसे आकर्षित करता? जबतक मैं खुद अपनी ज़िन्दगी नहीं बिताता था, बल्कि किसी जुदी ज़िन्दगी की लहरों पर बह रहा था—जबतक मेरा विश्वास था कि जीवन के कुछ मानी (तात्पर्य) है, फिर चाहे उसे मैं व्यक्त न कर सकूँ—तबतक कविता और कला मे जीवन की छाया या विचार पाकर मुझे खुशी होती थी; कला के आइने में जीवन के दर्शन करना अच्छा लगता था। लेकिन जब मैंने जीवन का तात्पर्य जानने की कोशिश शुरू की और मुझे खुद अपनी ज़िन्दगी बिताने की ज़रूरत महसूस हुई, तब वह आईना मेरे लिए अनावश्यक, फालतू, बेहूदा और दुःखदाई हो गया। अब मैं आईने में देखता था कि मेरी स्थिति मूर्खतापूर्ण और निराशा से भरी हुई है। इसलिए अब मुझे इससे शान्ति नहीं मिलती थी। जब अपनी अन्तरात्मा की गहराई मे मैं विश्वास करता था कि जीवन का कुछ अर्थ है तबतक दृश्य देखने मे सुहावना लगता था; उस वक़्त जीवन में प्रकाश के खेलों—हास्यजनक, दुःखान्त, करुणाजनक, सुन्दर और भयंकर—से मेरा मनोरंजन होता था। पर जब मैं जान गया कि ज़िन्दगी बेमानी और भयंकर है, तब आईने मे प्रकाश के खेल मेरा दिल न बहला सकते थे। जब मैंने अजदहे को देख लिया और यह भी देख लिया कि मैं जिस चीज़ का

सहारा लिये हुए हूँ उसे चूहे काट रहे हैं तब शहद की कोई मिठास मुझे कैसे मीठी लग सकती थी ?

फिर बात यहीं तक न थी। और मैंने सिर्फ़ इतना ही समझा होता कि ज़िन्दगी के कोई मानी नहीं हैं तो मैं यह मान लेता कि मेरी किस्मत में यही था और इसलिए शान्ति से सब कुछ बर्दाश्त कर लेता। लेकिन मैं अपने को इतने से ही सन्तुष्ट न कर सका। अगर मैं जंगल में रहनेवाले उस आदमी की तरह होता जो जानता है कि इससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है तो मैं जी सकता था; पर मेरी दशा तो उस आदमी की तरह थी जो जंगल मे रास्ता भूल जाने के कारण, भयभीत होकर, रास्ता ढूँढ़ने के लिए, इधर-उधर दौड़ता फिरता हो। वह जानता है कि हरएक कदम उसे ज़्यादा उलझन में डाल रहा है, फिर भी वह दौड़ना बन्द नहीं करता।

निश्चय ही यह भयंकर अवस्था थी। और भय से बचने के लिए मैं खुद अपने को ही मार डालना चाहता था। आगे मेरा क्या होनेवाला है, इसका ख़ौफ़ भी मैं महसूस करता था और जानता था कि यह भय मेरी मौजूदा हालत से भी कहीं खराब है। इतने पर भी मैं शान्तिपूर्वक अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। चाहे यह दलील कितनी ही ज़ोरदार या यकीन दिलानेवाली लगती रही हो कि किसी दिन दिल की शिरा या और कोई चीज़ फट पड़ेगी और सब कुछ ख़त्म हो जायगा, पर मैं शान्ति के साथ उस दिन की बाट जोहने में असमर्थ था। अन्धकार का भय बहुत ज्यादा था और मैं गले में फाँसी डालकर या गोली मारकर, मतलब किसी तरह इससे जल्दी-से-जल्दी छूटना चाहता था। यह अनुभूति बड़े ज़ोरों से मुझे आत्महत्या की ओर ले जा रही थी।

: ५ :

'लेकिन शायद मैंने किसी चीज को नजरअन्दाज़ कर दिया है या कोई चीज़ समझने में मुझसे ग़लती हो गई है?' मैं कई बार अपने से कहा करता। 'यह तो नहीं हो सकता कि निराशा या मायूसी की यह हालत इन्सान के लिए स्वाभाविक हो।' तब मैंने मनुष्य द्वारा सीखे हुए ज्ञान की विविध शाखाओं में इन मसलों का हल ढूँढ़ने की कोशिश की। आलस्य से भरी उत्कण्ठा से या उदासीनता के साथ मैंने यह खोज नही की, बल्कि कष्ट उठाकर लगातार रात-दिन उसकी खोज में लग गया, जैसे कोई नष्ट होता हुआ आदमी अपनी रक्षा के लिए कोशिश करता है। लेकिन मुझे कुछ नहीं मिला।

मैंने सभी विज्ञानों में इन मसलों का हल खोजा, पर जो कुछ मैं खोजता था उसे पाना तो दूर रहा, उलटे मुझे यकीन हो गया कि मेरी तरह जितने लोगों ने भी ज्ञान में जीवन के अर्थ—ज़िन्दगी के मानी—की खोज की है, उनको कुछ नही मिला है। सिर्फ़ इतना ही नही कि उनको कुछ न मिला हो; बल्कि उनको साफ़-साफ़ कहना पड़ा कि जिस चीज—यानी जीवन की व्यर्थता वा अज्ञानता—ने मुझको इतना निराश कर रक्खा है वही एक ऐसी असंदिग्ध बात है जिसे आदमी जान सकता है।

मैंने सभी जगह खोजा; और चूँकि मेरा जीवन ज्ञान की साधना में ही बीता था और विद्वानों की दुनिया से मेरा जैसा ताल्लुक था उसकी वजह से ज्ञान की सभी शाखाओं मे वैज्ञानिकों और विद्वानो तक मेरी पहुँच थी। उन्होंने बड़ी ख़ुशी के साथ अपना सारा ज्ञान, न सिर्फ़ किताबों में, बल्कि बात-चीत के जरिये भी, मुझे दिखाया जिससे विज्ञान को ज़िन्दगी के सवाल पर जो कुछ कहना था उस सबकी जानकारी मुझे हो गई।

बहुत दिनों तक मैं यह यकीन करने में असमर्थ रहा कि यह (विज्ञान) ज़िन्दगी के सवालों का दरअसल जो जवाब देता है उसके अलावा दूसरा कोई जवाब नही दे सकता। जब मैंने उस महत्त्वपूर्ण और गम्भीर मुद्रा को देखा जिसके साथ विज्ञान अपने उन नतीजों या परिणामों का एलान करता है जिनका इंसान की ज़िन्दगी के असली सवालों के साथ कोई ताल्लुक नहीं, तो बहुत दिनों तक मैं यही समझता रहा कि इसमें कोई ऐसी बात जरूर है जिसे मैं नहीं समझ पाया हूँ। बहुत दिनों तक मैं विज्ञान के सामने भीरु बना रहा और मुझे ऐसा मालूम होता रहा कि मेरे सवालो और उनके जवाबों के बीच एक-रूपता या समानता का अभाव विज्ञान के दोष के कारण नहीं है, बल्कि मेरी नादानी के कारण है। लेकिन मेरे लिए यह कोई खेल या दिलबहलाव का मामला नहीं था, बल्कि ज़िन्दगी और मौत का सवाल था, इसलिए मैं अनिच्छा से या मजबूर होकर इस निश्चय पर पहुँचा कि मेरे सवाल ही उचित सवाल हैं जो सारे ज्ञान के आधार का निर्माण करते हैं और निन्दा मेरी तथा मेरे सवालो की नही, बल्कि विज्ञान की होनी चाहिए अगर वह इन सवालों का जवाब देने का छल करता है।

मेरा सवाल,—जिसने ५० सालकी उम्र में मुझे आत्म-हत्या के नज़दीक पहुँचा दिया,—एक बहुत ही सीधा और आसान सवाल था, जो मूर्ख बच्चे से लेकर एक बड़े अक़्लमन्द बुजुर्ग तक सबकी आत्मा के अन्दर पड़ा रहता है। यह एक ऐसा सवाल था जिसका जवाब दिये बग़ैर कोई जी नहीं सकता, जैसा कि मैंने तजुर्बे से समझा है। सवाल यह था : 'मैं आज जो कुछ कर रहा हूँ या कल जो कुछ करूँगा उसका नतीजा क्या निकलेगा—मेरी सारी ज़िन्दगी का क्या नतीजा निकलेगा ?'

दूसरी तरह से कहा जाय तो इस सवाल का यह रूप होगा : "मैं क्यों जिऊं ? क्यों किसी चीज़ की इच्छा करूँ ? क्यों कोई काम करूँ ?" इसे यों भी ज़ाहिर किया जा सकता है · "क्या मेरे जीवन का कोई ऐसा तात्पर्य है कि मेरी बाट जोहती हुई अनिवार्य मृत्यु से भी उसका नाश न होगा ?"

कई तरह से ज़ाहिर किये जाने वाले इस एक सवाल का जवाब मैंने विज्ञान से जानना चाहा और मुझे पता चला कि इस सवाल के बारे में इंसान का सारा ज्ञान दो गोलार्द्धों में बँटा हुआ है जिनके दोनों सिरों पर दो ध्रुव है—एक निषेधात्मक और दूसरा निश्चयात्मक। लेकिन न पहले और न दूसरे सिरे पर ज़िन्दगी के सवालों का जवाब मिलता है।

विज्ञानों की एक माला ऐसी है जो इस सवाल को स्वीकार नहीं करती, पर साफ़ और ठीक तौर पर खुद अपने स्वतन्त्र सवालों का जवाब देती है। मेरा मतलब प्रयोगात्मक वा अमली विज्ञानों की माला से है जिसके आख़िरी छोर पर गणित है। विज्ञानों की एक दूसरी माला ऐसी है जो इस सवाल को स्वीकार करती है, लेकिन इसका जवाब नहीं देती; यह निगूढ़ विज्ञानों की माला है, और इसके अन्तिम छोर पर अध्यात्म विज्ञान है।

शुरू जवानी से ही निगूढ़ विज्ञानों में मेरी दिलचस्पी थी, लेकिन बाद में गणित एवं प्राकृतिक विज्ञानों की ओर मेरा आकर्षण हो गया, और जबतक मैंने निश्चय रूप से अपना सवाल अपने तई पेश नहीं किया, जबतक वह सवाल खुद मेरे अन्दर बढ़कर मुझे तुरन्त जवाब देने के लिए मजबूर नहीं करने लगा तबतक मैंने उन नकली जवाबों पर ही सन्तोष किया, जो विज्ञान देता है।

प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र में तो मैंने अपने से यह कहा—"हरएक चीज़ जटिलता और पूर्णता की तरफ़ बढ़ती हुई खुद विकसित होती और भिन्नता वा विशेषता प्राप्त करती है और कुछ कानून हैं जो इस गति का नियन्त्रण करते हैं। तुम सम्पूर्ण का एक अंश हो। जहाँ तक जानना सम्भव है तहाँ तक सम्पूर्ण को जान लेने और विकास के नियम की जानकारी हासिल कर लेने पर तुमको सम्पूर्ण में अपने स्थान का पता भी चल जायगा और तुम अपने को भी जान जाओगे।" मुझे कहते हुए शर्म आती है कि एक ऐसा वक्त था कि मैं इस उत्तर से सन्तुष्ट दीखता था। यह वही समय था जब मैं खुद ज़्यादा जटिल या पेचीदा बनता जा रहा था और मेरा विकास

हो रहा था। मेरे पुट्ठे (माँस पेशियाँ) बढ़ और मज़बूत हो रहे थे; मेरी स्मरणशक्ति अच्छी होती जा रही थी; मेरी समझने-सोचने की शक्ति बढ़ रही थी; और अपने अन्दर की इस बाढ़ को महसूस करते हुए मेरे लिए यह सोचना स्वाभाविक था कि जगत् का नियम ऐसा ही होगा जिसमें मुझे अपनी ज़िन्दगी के सवाल का हल हासिल हो सकता है। लेकिन एक ऐसा वक़्त आया जब मेरे अन्दर की बाढ़ रुक गई। मैंने महसूस किया कि मेरा विकास नहीं हो रहा है; बल्कि मैं मुरझा रहा हूँ, मेरे पुट्ठे कमज़ोर होते जाते हैं, मेरे दाँत गिरते जाते हैं, और मैंने देखा कि कानून न सिर्फ़ कोई बात मुझे समझाता नहीं, बल्कि कभी ऐसा कानून नहीं था, न कभी हो सकता है और मैंने अपनी ज़िन्दगी की किसी अवस्था में अपने अन्दर जो कुछ पाया उसे ही कानून मान लिया था। अब मैंने इस क़ानून की परिभाषा पर ज़्यादा ग़ौर करना शुरू किया तो मेरे सामने यह बात स्पष्ट हो गई कि इस तरह अनन्त विकास या बाढ़ का कोई कानून (नियम) नहीं हो सकता। यह स्पष्ट हो गया कि यह कहना कि 'असीम अवकाश और समय में हरएक चीज़ बढ़ती है, ज्यादा पूर्ण और पेचीदा होती तथा भिन्नता वा विशेषता प्राप्त करती है' मानो कुछ न कहने के बराबर है। ये सब शब्द बेमानी हैं; क्योंकि असीम में न कुछ जटिल है, न सरल है, न आगे बढ़ना है, न पीछे हटना है, न अच्छा है, न बुरा।

फिर इन सबके ऊपर मेरा निजी सवाल कि 'मैं अपनी इच्छाओं के साथ क्या हूँ ?', अनुत्तरित ही रहा। मैं समझ गया कि वे विज्ञान बड़े दिलचस्प हैं, बड़े आकर्षक हैं; पर जीवन के प्रश्न के ऊपर उनकी संगति या प्रयोग का जहाँ तक सवाल है वे उलटी दिशा में ही ठीक और स्पष्ट हैं। ज़िन्दगी के सवाल पर उनकी संगति जितनी ही कम बैठती है उतने ही यथार्थ और स्पष्ट वे हैं। वे जीवन के प्रश्न का जवाब देने की जितनी ही कोशिश करते हैं, उतने ही दुर्बोध—अस्पष्ट—और आकर्षणहीन होते जाते हैं। अगर कोई विज्ञानों के उस विभाग की तरफ़ ध्यान दे जो ज़िन्दगी के सवाल का जवाब देने की कोशिश करता है (इस विभाग में शरीरविज्ञान,

मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, समाजविज्ञान वगैरा है) तो वहाँ उसे विचारो की आश्चर्यजनक दीनता, सबसे ज़्यादा अस्पष्टता, अप्रासंगिक प्रश्नों को हल करने का एक बिल्कुल अनुचित और झूठा दावा तथा हरएक आचार्य द्वारा दूसरे का, और अपने द्वारा अपनी ही बातों का भी, निरन्तर खण्डन होता दिखाई देगा। अगर हम उन विज्ञानों की तरफ़ देखते है, जिनका ज़िन्दगी के सवाल को हल करने से कोई सम्बन्ध नहीं है, पर जो खुद अपने विशेष वैज्ञानिक सवालों का जवाब देते है, तो इंसान की दिमाग़ी ताकत को देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है, पर हम पहले से ही जान चुके होते हैं कि वे ज़िन्दगी के सवालों का कोई जवाब नहीं देते। वे तो जीवन के प्रश्नों की उपेक्षा करते हैं। उनका कहना है 'तुम क्या हो और क्यों जीते हो, इस सवाल का न तो हमारे पास जवाब है और न उसके बारे में हम सोचते हैं। हाँ, अगर तुम प्रकाश और रासायनिक मिश्रणो के नियमों को जानना चाहो, अगर तुम चेतन पदार्थों के विकास के नियमों से अवगत होना चाहो, अगर तुम देह और उनके रूप के कानूनो की जानकारी हासिल करना चाहो, अगर तुम गुण और परिमाण का सम्बन्ध जानना चाहो, अगर तुम अपने मस्तिष्क के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो इन सबके हमारे पास स्पष्ट, यथार्थ और निर्विवाद उत्तर मौजूद है।'

साधारण ढंग से कहना चाहे तो जीवन के सवालो के साथ प्रयोगात्मक विज्ञानों के सम्बन्ध को यो व्यक्त किया जा सकता है : प्रश्न—'हम क्यो जी रहे हैं ?' उत्तर—'अनन्त अवकाश और अनन्त काल में अत्यन्त क्षुद्र अंश अनन्त जटिलताओं वाले रूपो को ग्रहण करते हैं। जब तुम इस रूप-परिवर्तन के नियमों को समझ लोगे तब तुम यह भी जान जाओगे कि पृथ्वी पर क्यों रह या जी रहे हो ?'

इसके बाद मैंने गूढ या सूक्ष्म विज्ञानो के क्षेत्र में अपने से कहा—'सम्पूर्ण मानवता आध्यात्मिक सिद्धान्तो और आदर्शों के आधार पर जीती और विकसित होती है। यही सिद्धान्त और आदर्श उसका पथ-प्रदर्शन करते है। ये आदर्श धर्म, विज्ञान, कला और शासन-पद्धति में व्यक्त होते हैं।

ये आदर्श दिन-दिन ऊँचे होते जाते हैं और मानवता अपने सर्वोच्च कल्याण की ओर वढती जाती है। मैं मनुष्यता का अंश हूं, इसलिए मेरा धन्धा मानवता के आदर्शों की स्वीकृति और साधना को आगे वढ़ाना है।' और अपनी मानसिक दुर्वलता के जमाने में मैं इस उत्तर से सन्तुष्ट था; पर ज्योंही ज़िन्दगी का सवाल मेरे सामने स्पष्ट रूप मे आया, ये विचार तुरन्त टुकडे-टुकड़े होकर खत्म हो गये। जिस सिद्धान्तहीन दुर्वोधता के साथ ये विज्ञान मनुष्य-जाति के एक छोटे हिस्से पर किये गये अध्ययन के वल पर स्थापित परिणामों को सामान्य परिणामों के रूप में व्यक्त करते हैं, जिस प्रकार मनुष्यता के आदर्शों के विषय मे इसके विभिन्न अनुयायी एक दूसरे के मत का खण्डन करते हैं, इन वातों को छोड़ भी दें तो भी इस विचार-धारा का आश्चर्य यह है कि हर आदमी के सामने आने वाले सवालों ('मैं क्या हूॅ ?' या 'मैं क्यों जीता हूॅ ?' या 'मुझे क्या करना चाहिए'?) का जवाव देने के लिए पहले इस सवाल का जवाव ढूॅढ़ना ज़रूरी समझा जाता है कि 'समष्टि का जीवन क्या है' (और यह उसके लिए अज्ञात है और समय की एक अत्यन्त क्षुद्र अवधि में वह इसके एक अत्यन्त क्षुद्र अंश से ही परिचित है)। इस मत से यह जानने के लिए कि वह क्या है, मनुष्य को पहले सारी रहस्यमयी मानव-जाति की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए—उस मानव-जाति की, जिसमें उसी की तरह अगणित आदमी हैं, जो एक-दूसरे को नहीं समझते जानते।

मैं मंजूर करता हूॅ कि ऐसा भी एक ज़माना था जव मैं इन वातों मे विश्वास करता था। यह वही ज़माना था जव अपनी सनकों को उचित ठहराने वाले कुछ प्रिय आदर्श मैंने वना रक्खे थे और एक ऐसा सिद्धान्त या विचार-प्रणाली का निर्माण करने का मैं प्रयत्न कर रहा था जिससे मेरी सनकों को ही मानवता का कानून माना जा सके। लेकिन ज्योंही मेरी आत्मा में ज़िन्दगी का सवाल पूरी स्पष्टता के साथ ज़ाहिर हुआ, त्योंही यह जवाव मिट्टी मे मिल गया और मैंने समझ लिया कि जैसे प्रयोगात्मक वा क्रियात्मक विज्ञानों में ऐसे सच्चे विज्ञान और अधूरे विज्ञान हैं जो अपनी शक्ति और

योग्यता के बाहर के सवालों का जवाब देने की कोशिश करते हैं उसी तरह इस क्षेत्र मे भी ऐसे मिश्र विज्ञानो की एक पूरी मालिका ही है जो अप्रासंगिक प्रश्नो का जवाब देने की कोशिश करते है। इस तरह के अधूरे विज्ञान (न्यायविधान-सम्बन्धी या कानूनी और सामाजिक-ऐतिहासिक) अपने-अपने ढंग पर, सम्पूर्ण मानवता के जीवन के सवाल को हल करने का बहाना करते हुए मनुष्य के जीवन के सवालों को हल करने की चेष्टा करते हैं।

पर मनुष्य के प्रयोगात्मक ज्ञान के क्षेत्र में जो व्यक्ति सच्चाई के साथ इस बात का शोध करता है कि उसे किस तरह जीवन विताना चाहिए उसको जैसे इस उत्तर से सन्तोष नही हो सकता कि—'असीम अवकाश मे अनन्त काल और अनन्त जटिलता वाले, असंख्य अणुओं के परिवर्तनो का अध्ययन करो, तब तुम जीवन को समझ सकोगे,—वैसे ही एक ईमानदार आदमी इस उत्तर से भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता कि—'मानव-जाति के उस सारे जीवन का अध्ययन करो, जिसके आदि-अन्त को भी हम नहीं जान सकते और जिसके बारे में एक अंश का भी हमें ज्ञान नही है, तब तुम अपनी ज़िन्दगी को समझ सकोगे।' प्रयोगात्मक अधूरे विज्ञानों की तरह ये दूसरी तरह के अर्द्ध-विज्ञान भी अस्पष्टताओं, अयथार्थताओं, मूर्खताओ और पारस्परिक विरोधों या खण्डनो से पूर्ण हैं। प्रयोगात्मक या क्रियात्मक विज्ञान की समस्या तो भौतिक व्यापार में कार्य-कारण के अनुक्रम वा परम्परा की समस्या है। पर क्रियात्मक विज्ञान ज्योंही एक अन्तिम कारण का प्रश्न उपस्थित करता है त्योंही वह मूर्खतापूर्ण वा निरर्थक हो जाता है। सूक्ष्म विज्ञान की समस्या जीवन के आदिम वा मूलतत्त्व की पहचान और स्वीकृति की समस्या है। ज्योंही पारस्परिक व्यापार की खोज आरम्भ होती है यह भी मूर्खतापूर्ण बन जाता है।

क्रियात्मक विज्ञान जब अपने शोध में अन्तिम कारण का सवाल नहीं उठाता तभी निश्चयात्मक ज्ञान देता और इन्सान के दिमाग़ की महानता को ज़ाहिर करता है। इसके ख़िलाफ़ सूक्ष्म (Abstract) विज्ञान जब दृश्य व्यापार के पारस्परिक कारणों से सम्बन्ध रखनेवाले सवालों को किनारे रख

देता है और आदमी को सिर्फ़ अन्तिम कारण के सम्बन्ध से देखता है तभी वह विज्ञान होता है और तभी मानवीय मस्तिष्क की महानता का प्रदर्शन करता है। विज्ञान के इस राज्य में, गोलक के ध्रुव रूप में, अध्यात्म-विद्या या तत्त्व-दर्शन है। यह विज्ञान इस सवाल का स्पष्ट वर्णन करता है कि 'मै क्या हूँ और जगत् क्या है? मेरा अस्तित्व क्यों है और जगत् का अस्तित्व क्यो है?' जब से इसका अस्तित्व है यह इसी तरह उत्तर देता रहा है। चाहे दर्शन-शास्त्री मेरे अन्दर मौजूद जीवन-तत्त्व को, या अन्य सब चीज़ों के अन्दर के जीवन के सार को, 'धारणा', 'सार', 'भावना' (स्पिरिट) अथवा 'संकल्प-शक्ति' किसी भी नाम से पुकारे, असल में वह एक ही बात कहता है कि यह तत्त्व मौजूद है और मै उसी तत्त्व से बना हूँ; पर यह क्यों है, इसे वह नही जानता और अगर वह सच्चा चिन्तक है तो ऐसा कहता भी नहीं। मैं पूछता हूँ: 'यह तत्त्व वा सार मौजूद ही क्यो रहे? यह है और रहेगा। इससे नतीजा क्या निकलता है?'... दर्शन न केवल इसका कोई उत्तर नही देता, वल्कि वह स्वयं यही प्रश्न पूछता रहता है। और अगर वह सच्चा दर्शन है तो उसकी सारी चेष्टा इस प्रश्न को स्पष्टतापूर्वक रखने तक ही है। अगर वह दृढ़तापूर्वक अपना काम करे तो सवाल का जवाब सिर्फ इस तरह देगा: 'मैं क्या हूँ और जगत् क्या है?'—'सब कुछ और कुछ भी नही।' इसी तरह वह 'क्यों' के जवाब में कहेगा—'मैं नही जानता।'

इस तरह मै दर्शन-शास्त्र के इन जवाबों को चाहे जिस तरह उलटूँ-पलटूँ, मुझे उनसे जवाब-जैसी कोई चीज कभी हासिल नही हो सकती—इसलिए नही कि स्पष्ट क्रियात्मक क्षेत्र की तरह उत्तर का मेरे सवाल से कोई सम्बन्ध नही, वल्कि इसलिए कि सम्पूर्ण मानसिक कार्य की गति मेरे सवाल की ओर होते हुए भी, उसका कोई उत्तर ही नहीं है और उत्तर की जगह वही सवाल हमें एक जटिल रूप में सुनाई पड़ता है।

: ६ :

ज़िन्दगी के सवालों के जवाव की खोज में मुझे ठीक वही अनुभव हुआ जो जंगल में रास्ता भूल जाने वाले आदमी को होता है।

वह जंगल के बीच की खुली ज़मीन में पहुँचता है, किसी वृक्ष या दरख्त पर चढ़ जाता है और उसे दूर तक की जगहें दिखाई देती हैं। इस दूरी की कोई सीमा नही है, पर वह देखता है कि उसका घर उधर नही है, न हो सकता है। तव वह फिर घने जंगल में घुस जाता है। वहाँ उसे अँधेरा दिखता है, पर घर का वहाँ भी कुछ पता नहीं चलता।

इसी तरह मैं मानवीय ज्ञान के जंगल में भटकता रहा। कभी मैं गणित-सम्बन्धी तथा प्रयोगात्मक विज्ञानों या अमली साइंसों की झलक में भटकता; इस झलक मे मुझे क्षितिज तो साफ़-साफ़ दिखाई देता रहा, पर उसी दिशा में जिधर घर नही हो सकता था। कभी मैं सूक्ष्म वा कल्पनात्मक विज्ञानों के अँधेरे मे भटकता फिरता। मै इनमें जितना ही आगे वढ़ा उतना ही गहरे अंधकार में फँसता गया और मुझे विश्वास हो गया कि इससे वाहर निकलने का रास्ता न है, न हो सकता है।

ज्ञान के प्रकाशमान या रौशन पहलू की तरफ़ झुककर मैंने समझा कि मैं सिर्फ़ सवाल से अपना ध्यान हटा रहा हूँ। मेरे सामने खुलनेवाले क्षितिज चाहे जितने ही लुभावने रूप में स्पष्ट हों, और उन विज्ञानों के असीम विस्तार मे प्रवेश करना चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो, मैं समझ चुका था कि वे जितना ही स्पष्ट और साफ़ होते हैं उतना ही मेरे लिए वेकार हैं और उतना ही मेरे सवाल का कम जवाव देते हैं।

मैंने अपने से कहा—'मैं जानता हूँ कि विज्ञान इतनी लगन के साथ किसकी शोध करना चाहता है और यह भी जानता हूँ कि उस रास्ते पर

चलकर मेरी ज़िन्दगी का क्या प्रयोजन है, इस सवाल का जवाव नही मिल सकता।' गूढ वा सूक्ष्म विज्ञानों के क्षेत्र में मैंने समझा कि यद्यपि विज्ञान का सीधा लक्ष्य मेरे सवाल का जवाव देना है, पर इसके वावजूद भी मेरे सवाल का कोई जवाव नहीं है—सिवाय उस जवाव के जो मैं ख़ुद दे चुका हूं : 'मेरी ज़िन्दगी का मतलव क्या है ?' जवाव : 'कुछ नहीं'; 'मेरे जीवन का नतीजा क्या होगा ?' जवाव—'कुछ नहीं', 'जितनी भी चीजें मौजूद है उनका अस्तित्व क्यो है, और मेरा अस्तित्व क्यों है ?' जवाव—'क्योंकि अस्तित्व है।'

ज्ञान के एक क्षेत्र में सवाल करने पर मुझे उन वातों के वारे मे असंख्य परिमाण में ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त हुए जिनके सम्वन्ध में मैने कुछ नही पूछा था—जैसे तारों के रासायनिक उपकरण, हरक्यूलीज़ नक्षत्र समूह की और सूर्य की गति, प्राणियों एवं मनुष्य की उत्पत्ति, ईथर के अत्यन्त सूक्ष्म कणो के रूप के विषय मे। परन्तु ज्ञान के इस क्षेत्र मे मेरे सवाल—'मेरे जीवन का तात्पर्य क्या है ?'—का सिर्फ़ यही जवाव था कि—'तुम वही हो जिसे तुम अपना "जीवन" कहते हो; तुम कणों के एक आकस्मिक और अनित्य संघटन हो। इन कणो की पारस्परिक अन्त.क्रियायें और तव्दीलियाँ तुम मे वह चीज़ पैदा करती है जिन्हे तुम अपना "जीवन" कहते हो। यह संघटन कुछ समय तक चलता रहेगा। इसके वाद इन कणों की अन्त.क्रियायें वन्द हो जायँगी और जिसे तुम "जीवन" कहते हो वह भी वन्द हो जायगा और साथ ही तुम्हारे सव सवालों का भी अन्त हो जायगा। तुम किसी चीज़ के अकस्मात् जुड़कर वन गये छोटे पिंड हो। इस क्षुद्र पिण्ड में उत्तेजन वा उवाल आता है। इसी को वह क्षुद्र पिण्ड अपना "जीवन" कहता है। पिण्ड विखर जायगा, जोश वा उत्तेजन का अन्त हो जायगा और साथ ही सव सवाल भी ख़त्म हो जायेंगे।' विज्ञान का स्पष्ट पहलू इस तरह जवाव देता है और अगर वह अपने उसूल पर ठीक-ठीक चले तो इसके सिवा दूसरा जवाव दे ही नही सकता।

इस तरह के जवाव से कोई भी आदमी देख सकता है कि इससे सवाल का कोई जवाव नही मिलता। मै अपने जीवन का तात्पर्य जानना चाहता हूँ,

पर 'यह असीम का एक क्षुद्र अंश है' इस प्रकार का उत्तर जीवन को कोई अभिप्राय सौंपने की जगह उसके प्रत्येक सम्भव तात्पर्य को नष्ट कर देता है। प्रयोगात्मक विज्ञान का यह पक्ष सूक्ष्म वा गूढ विज्ञान से जो अस्पष्ट समझौते करता और कहता है कि जीवन का मर्म विकास एवं विकास के साथ सहयोग मे निहित है तब इनकी अयथार्थता और स्पष्टता के कारण इन्हें उत्तर नही माना जा सकता।

विज्ञान का दूसरा यानी गूढ पक्ष, जब अपने उसूलो को दृढतापूर्वक पकड़कर चलता है और इस सवाल का सीधा जवाब देना चाहता है तो वह सदा यह एक ही जवाब एक ही तरह से देता है, सब युगो मे देता रहता है: 'जगत् असीम और अचिन्त्य है। मानव-जीवन उस अचिन्त्य 'समष्टि' का एक अचिन्त्य अंश है।' फिर मै गूढ एवं प्रयोगात्मक विज्ञानों के उन सब समझौतों या मिश्रणो को अलग रख देता हूँ जो न्यायविज्ञान सम्बन्धी, राजनीतिक और ऐतिहासिक नामधारी अर्द्ध-विज्ञानो के एक पूरे 'वैलेस्ट' (बोझ) की सृष्टि करते है। इन अर्द्ध-विज्ञानो में भी विकास और प्रगति की धारणायें ग़लत रूप में पेश की जाती है, फ़रक सिर्फ इतना होता है कि वहाँ प्रत्येक वस्तु की प्रगति की बात थी और यहाँ मनुष्य-जाति के जीवन के विकास की बात है। इसमें भी भूल पहले की तरह ही है: असीम में विकास और प्रगति का कोई लक्ष्य या निर्देश नही हो सकता, और जहाँ तक मेरे सवाल का ताल्लुक है, कोई जवाब नही मिलता।

सच्चे गूढ विज्ञान मे यानी सच्चे दर्शनशास्त्र मे (उसमे नही जिसे शापनहावर 'प्रोफेसोरियल फिलासफ़ी' या अध्यापकीय—किताबी—तत्वज्ञान कहता है जो सारी मौजूदा चीज़ों को नये दार्शनिक विभागों मे बॉटता है और उन्हें नये-नये नामों से पुकारता है), जहाँ दार्शनिक [illegible] ओर से अपनी दृष्टि नही हटाता, एक ही उत्तर मिलता है। यह सुकरात, शापनहावर, सोलोमन (सुलेमान) और बुद्ध देते [illegible]

सुकरात जब मरने की तैयारी कर रहा था तब उसने [illegible] जिन्दगी से जितनी ही दूर जाते है उतना ही सत्य के नजद[illegible]

चलकर मेरी ज़िन्दगी का क्या प्रयोजन है, इस सवाल का जवाब नही मिल सकता।' गूढ वा सूक्ष्म विज्ञानों के क्षेत्र में मैंने समझा कि यद्यपि विज्ञान का सीधा लक्ष्य मेरे सवाल का जवाब देना है, पर इसके बावजूद भी मेरे सवाल का कोई जवाब नहीं है—सिवाय उस जवाब के जो मै ख़ुद दे चुका हूँ : 'मेरी ज़िन्दगी का मतलब क्या है?' जवाब : 'कुछ नहीं'; 'मेरे जीवन का नतीजा क्या होगा?' जवाब—'कुछ नहीं', 'जितनी भी चीजें मौजूद है उनका अस्तित्व क्यो है, और मेरा अस्तित्व क्यों है?' जवाब—'क्योंकि अस्तित्व है।'

ज्ञान के एक क्षेत्र में सवाल करने पर मुझे उन बातों के बारे में असंख्य परिमाण में ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त हुए जिनके सम्बन्ध में मैंने कुछ नही पूछा था—जैसे तारों के रासायनिक उपकरण, हरक्यूलीज़ नक्षत्र समूह की ओर सूर्य की गति, प्राणियों एवं मनुष्य की उत्पत्ति, ईथर के अत्यन्त सूक्ष्म कणों के रूप के विषय में। परन्तु ज्ञान के इस क्षेत्र मे मेरे सवाल—'मेरे जीवन का तात्पर्य क्या है?'—का सिर्फ़ यही जवाब था कि—'तुम वही हो जिसे तुम अपना "जीवन" कहते हो; तुम कणो के एक आकस्मिक और अनित्य संघटन हो। इन कणो की पारस्परिक अन्तःक्रियायें और तब्दीलियॉ तुम मे वह चीज़ पैदा करती है जिन्हे तुम अपना "जीवन" कहते हो। यह संघटन कुछ समय तक चलता रहेगा। इसके बाद इन कणों की अन्त क्रियायें बन्द हो जायँगी और जिसे तुम "जीवन" कहते हो वह भी बन्द हो जायगा और साथ ही तुम्हारे सब सवालों का भी अन्त हो जायगा। तुम किसी चीज़ के अकस्मात् जुड़कर बन गये छोटे पिड हो। इस क्षुद्र पिण्ड मे उत्तेजन वा उबाल आता है। इसी को वह क्षुद्र पिण्ड अपना "जीवन" कहता है। पिण्ड बिखर जायगा, जोश वा उत्तेजन का अन्त हो जायगा और साथ ही सब सवाल भी ख़त्म हो जायेंगे।' विज्ञान का स्पष्ट पहलू इस तरह जवाब देता है और अगर वह अपने उसूल पर ठीक-ठीक चले तो इसके सिवा दूसरा जवाब दे ही नहीं सकता।

इस तरह के जवाब से कोई भी आदमी देख सकता है कि इससे सवाल का कोई जवाब नहीं मिलता। मै अपने जीवन का तात्पर्य जानना चाहता हूँ,

पर 'यह असीम का एक क्षुद्र अंश है' इस प्रकार का उत्तर जीवन को कोई अभिप्राय सौंपने की जगह उसके प्रत्येक सम्भव तात्पर्य को नष्ट कर देता है। प्रयोगात्मक विज्ञान का यह पक्ष सूक्ष्म वा गूढ विज्ञान से जो अस्पष्ट समझौते करता और कहता है कि जीवन का मर्म विकास एवं विकास के साथ सहयोग में निहित है तव इनकी अयथार्थता और स्पष्टता के कारण इन्हे उत्तर नहीं माना जा सकता।

विज्ञान का दूसरा यानी गूढ पक्ष, जव अपने उसूलों को दृढतापूर्वक पकड़कर चलता है और इस सवाल का सीधा जवाव देना चाहता है तो वह सदा यह एक ही जवाव एक ही तरह से देता है, सव युगो में देता रहता है· 'जगत् असीम और अचिन्त्य है। मानव-जीवन उस अचिन्त्य 'समष्टि' का एक अचिन्त्य अंश है।' फिर मै गूढ एवं प्रयोगात्मक विज्ञानों के उन सव समझौतों या मिश्रणो को अलग रख देता हूॅ जो न्यायविज्ञान सम्बन्धी, राजनीतिक और ऐतिहासिक नामधारी अर्द्ध-विज्ञानो के एक पूरे 'वैलेस्ट' (वोझ) की सृष्टि करते हैं। इन अर्द्ध-विज्ञानों मे भी विकास और प्रगति की धारणायें ग़लत रूप मे पेश की जाती हैं, फ़रक सिर्फ इतना होता है कि वहाॅ प्रत्येक वस्तु की प्रगति की वात थी और यहाॅ मनुष्य-जाति के जीवन के विकास की वात है। इसमें भी भूल पहले की तरह ही है असीम में विकास और प्रगति का कोई लक्ष्य या निर्देश नहीं हो सकता, और जहाॅ तक मेरे सवाल का ताल्लुक है, कोई जवाव नहीं मिलता।

सच्चे गूढ विज्ञान मे यानी सच्चे दर्शनशास्त्र मे (उसमे नहीं जिसे शापनहावर 'प्रोफेसोरियल फिलासफी' या अध्यापकीय—किताबी—तत्वज्ञान कहता है जो सारी मौजूदा चीज़ों को नये दार्शनिक विभागों मे वॉटता है और उन्हें नये-नये नामों से पुकारता है), जहाॅ दार्शनिक तात्विक प्रश्न की ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटाता, एक ही उत्तर मिलता है। यह वही उत्तर है जिसे सुकरात, शापनहावर, सोलोमन (सुलेमान) और वुद्ध देते रहे हैं।

सुकरात जव मरने की तैयारी कर रहा था तव उसने कहा था—'हम जिन्दगी से जितनी ही दूर जाते हैं उतना ही सत्य के नजदीक पहुॅचते हैं;

क्योंकि हम, जो सत्य के प्रेमी हैं, ज़िन्दगी में भी आख़िर किस चीज़ को पाने का प्रयत्न करते हैं ? दैहिक जीवन से पैदा होनेवाली सब बुराइयों, तथा स्वयं देह से मुक्ति का ही न ? अगर यह बात है तब मौत को पास आई देख हम .खुश हुए बिना कैसे रह सकते हैं ?

'ज्ञानी पुरुष अपनी सारी ज़िन्दगी भर मृत्यु की साधना करता है, इसलिए मृत्यु उसके लिए भयंकर नहीं होती।'

और शापनहावर कहता है :

'जगत् की अत्यान्तरिक प्रकृति को 'संकल्प' वा 'इच्छा' के रूप में पहचान लेने और प्रकृति की अस्पष्ट शक्तियों के अचेतन व्यापार से लेकर मनुष्य के पूर्णत चैतन्ययुक्त कार्यों तक प्रकृति के सम्पूर्ण गोचर पदार्थों को केवल उस 'संकल्प' वा 'इच्छा' की पादार्थिकता या सरूपता मान लेने पर उसकी शृङ्खला से हम भाग नही सकते और हमको मानना पडेगा कि स्वेच्छापूर्वक इस इच्छा का त्याग कर देने पर उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण गोचर पदार्थों का भी नाश हो जाता है; उन सम्पूर्ण अन्तहीन एवं अविश्रान्त कार्य-परम्पराओ का लोप हो जाता है जिसके अन्दर और जिनके द्वारा संसार का अस्तित्व है; एक के बाद एक आनेवाले विविध रूपों का अन्त हो जाता है और रूप के साथ इच्छा वा संकल्प की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी समाप्त हो जाती है और अन्त में इस अभिव्यक्ति के जागतिक रूपों यानी काल और अवकाश, तथा इसके अन्तिम मौलिक रूप चेतना और पदार्थ (आत्मा और भूत) सबका अन्त हो जाता है। जहाँ 'संकल्प' नही है, वहाँ प्रदर्शन नहीं है और जगत् भी नही है। केवल शून्य ही रह जाता है। इस शून्यता की अवस्था तक पहुँचने में हमारी प्रकृति बाधक होती है। और हमारी प्रकृति वही हमारी जीने की इच्छा (Wille Zum Leben) मात्र है—यही हमारी दुनिया है। हम विनाश से इतनी घृणा करते हैं या दूसरे शब्दो में जीने की इच्छा रखते हैं, यह इस बात का सूचक है कि हम जीवन की दृढ़ कामना करते है। हम इस कामना या संकल्प के अतिरिक्त कुछ नहीं है और इसके अलावा और कुछ जानते भी नही है। इसलिए इस संकल्प

या इच्छा के सम्पूर्ण क्षय के पश्चात् जो कुछ बचता है, वह हमारे जैसे संकल्प से भरे हुए लोगों के लिए निश्चय ही कुछ नहीं है। पर इसके विरुद्ध जिनके अन्दर सकल्प का स्वयं क्षय हो गया है उनके लिए हमारी यह वास्तविक-सी लगनेवाली दुनिया, अपने सम्पूर्ण सूर्यों एवं आकाशगंगाओं के साथ भी, शून्य ही है।'

सुलेमान कहता है—"वृथाभिमान का अभिमान, वृथाभिमान का अभिमान!—सब निस्सार है, वृथाभिमान है! आदमी सूर्य के नीचे जो सारी मेहनत करता है उससे उसे क्या फायदा होता है? एक पीढ़ी जाती है और दूसरी आती है · लेकिन पृथ्वी सदा बनी रहती है.. जो चीज पहले रही है, वही आगे भी होगी; जो काम किया गया है वह वही है जो आगे भी किया जायगा : सूर्य के नीचे (दुनिया मे) कोई भी चीज नई नहीं है। क्या कोई ऐसी चीज है जिसे देखकर कहा जा सके—देखो, यह नई है? जो है वह पुराने जमाने में पहले ही रह चुकी है। पूर्व वस्तुओ को कोई याद नही करता; आगे जो आवेंगे उनके साथ आनेवाली चीज़ों को भी लोग याद नही रक्खेंगे—भूल जायेंगे। मैं उपदेशक एक दिन जरुसलम मे इसराइलो का बादशाह था। और मैंने ज्ञान के सहारे आकाश के नीचे की वस्तुओं का शोध करने मे अपना मन लगाया : यह तीव्र-वेदना ईश्वर ने मनुष्य के उपयोग के लिए प्रदान की है। दुनिया मे जितने काम किये जाते हैं सबको मैंने देखा है; वह सब मिथ्याहंकार और आत्मा का उद्वेग मात्र है।...मैंने स्वय अपने हृदय मे ध्यान लगाया और कहा—'ओह! मैं बड़ी ऊंची अवस्था मे पहुंच गया हूँ और मेरे पहले जरुसलम मे जितने लोग हुए उन सबसे अधिक ज्ञान मुझे है। हाँ, मेरे हृदय को विवेक और ज्ञान का महान् अनुभव है।' और मैंने ज्ञान तथा पागलपन और मूर्खता को जानने मे मन लगाया। पर मैंने अनुभव किया कि यह सब भी आत्मा या अन्तःकरण का उद्वेग ही है। क्योंकि अधिक ज्ञान में अधिक दुःख है : और जो अपने ज्ञान को बढ़ाता है वह दुःख को भी बढ़ा लेता है।

'मैंने अपने दिल में कहा—'हटो, चलो, अब मैं प्रफुल्लता से तुझे सिद्ध

करूँगा, इसलिए सुख भोगूँगा। और देखो—यह भी मिथ्याहंकार है। मैंने हँसी के बारे में कहा: यह उन्मत्त है: उल्लास के बारे में कहा: यह क्या कर सकता है? मैंने अपने मन मे यह देखने की कोशिश की कि मैं अपने हाड़-मांस यानी देह को शराब से कैसे ख़ुश रख सकता हूँ। मैंने इसकी कोशिश की कि मेरे हृदय मे ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहे और साथ ही मै बुराइयो में प्रवेश करके देखूँ कि मनुष्य जो इतने दिन जीता है तो उसकी ज़िन्दगी के लिए सबसे अच्छी बात क्या है। मैंने बड़े-बड़े काम किये; मैंने अपने लिये मकान बनवाये; अंगूर की खेती की; मैंने बगीचे और उपवन खड़े किये और उनमें तरह-तरह के फलों के वृक्ष लगवाये। बाग के वृक्षों को सींचने के लिए मैंने नहरें बनवाईं; मैंने दास और दासियाँ रक्खीं और ख़ुद अपने मकान में दास पैदा कराये; पशुओं और चौपायो का जैसा सग्रह मेरे पास था वैसा मेरे पहले जरूसलम में कभी देखा नहीं गया था: मैंने राजाओ और बादशाहों तथा सूबों से सोना-चाँदी, रत्न और आश्चर्यजनक कोष इकट्ठा किया। मेरे पास गायकों और गायिकाओं की कमी न थी, सब तरह के वाद्य-यन्त्रों का, जिनसे मानव-जाति आनन्द-उपभोग करती है, मेरे पास ज़ख़ीरा था। इस तरह मैं महान् था और मेरे पहले जरूसलम मे जितने लोग हुए उन सबसे अधिक वैभव मेरे पास था। तिस पर मेरा विवेक और ज्ञान भी मेरे साथ था। मेरी आँखों ने जिस चीज की आकांक्षा की, मैंने उन्हे वही दिया। किसी तरह के सुख-भोग से मैंने अपने हृदय को वंचित नहीं रक्खा।...बाद मे मैंने अपने उन सब कामों पर ग़ौर किया; उन सब चीज़ों पर ध्यान दिया जिन्हे पाने के लिए मैंने इतना श्रम किया था। मैंने देखा—सब मिथ्याहंकार और आत्मोद्वेग-मात्र है; इन चीज़ों से कुछ भी लाभ नहीं है। तब मैंने इन पर से अपना मन हटाकर ज्ञान, पागलपन और बुराई को देखने की कोशिश की...पर मैंने अनुभव किया कि इन सब के साथ एक ही घटना घटित होती है। तब मैंने अपने दिल मे कहा कि मूर्ख के साथ भी वही बात होती है और मेरे साथ भी वही बात होती है, तब मैं उससे अधिक बुद्धिमान किस तरह हूँ? तब मैंने मन में

कहा कि यह भी एक मिथ्याहंकार ही है। क्योंकि जैसे मूर्ख की सदा याद नहीं रहती वैसे ही बुद्धिमान् को भी लोग सदा याद नहीं रखते, भूल ही जाते हैं। आज जो कुछ है वह सब लोग आने वाले दिनो यानी भविष्य मे भूल जायेंगे। और बुद्धिमान् आदमी कैसे मरता है? वैसे ही जैसे मूर्ख मरता है। इसलिए मेरी जीवन से घृणा हो गयी; क्योंकि संसार में जो कुछ काम है सब दु ख से पूर्ण है, क्योंकि सब कुछ मिथ्याहंकार और आत्मोद्वेग मात्र है। बस, मैंने अबतक जो कुछ किया था, जो काम किये थे, उन सबसे मुझे घृणा हो गयी; क्योंकि मैं देखता था कि इन सब को अपने बाद आनेवाले आदमी के लिए मुझे छोड़ जाना होगा।.. भला आदमी जो इतना श्रम करता और इतनी परेशानी उठाता है उसमें उसे क्या मिलता है? उसके सारे दिन शोक और दु ख से भरे हुए है; रात में भी उसके हृदय को कोई विश्राम नही मिलता। यह भी मिथ्याभिमान है। मनुष्य के जीवन को इतनी सुरक्षितता नही दी गयी है कि वह खाये, पीये और अपने काम-धाम से अपने हृदय को प्रफुल्ल रक्खे।.. सभी चीजें सब लोगो के पास एक ही तरह से आती है पुण्यात्मा और दुष्ट दोनो के साथ एक ही बात होती है; अच्छे और बुरे, स्वच्छ और अस्वच्छ, त्याग करने वाले और त्याग न करने वाले, सज्जन और पापी, कसम खाने वाले और कसम से डरने वाले सब के लिए एक ही बात है। सूर्य के नीचे (दुनिया मे) जो कुछ किया जाता है उस सब में यही दोष है कि सब के साथ एक ही घटना घटित होती है। आह ! मानव-पुत्रों का हृदय बुराइयो से भरा हुआ है और जबतक वे जीते हैं उनके हृदय में पागलपन रहता है और उसके बाद वे मृत्यु की गोद मे चले जाते हैं। जो जीवितो में हैं उनके लिए आशा है, एक जीवित कुत्ता मरे हुए शेर से अच्छा है। क्योंकि जीवित जानते है कि वे मरेंगे, परन्तु मरे हुए को कुछ पता नहीं—न उनको कोई और पुरस्कार ही मिलता है। उनकी याद भी भुला दी जाती है। मौत के साथ ही उनके प्रेम, उनकी घृणा, उनके ईर्ष्या-द्वेष सब का अन्त हो जाता है। फिर कभी दुनिया मे किये जानेवाले किसी काम मे उनका कोई हिस्सा नही रहता।'

ये सुलेमान अथवा जिसने भी इसे लिखा हो उसके शब्द हैं।*

अब भारतीय ज्ञान का कथन भी सुनिए :

शाक्यमुनि एक तरुण और सुखी राजकुमार थे। उनसे बीमारी, बुढ़ापे और मृत्यु के अस्तित्व की बात छिपा रक्खी गयी थी। एक दिन वह सैर को निकले और उन्होने एक अत्यन्त जीर्ण बूढ़े आदमी को देखा जिसके दाँत टूट गये थे और मुँह से फेन निकल रहा था। चूँकि राजकुमार से तबतक बुढ़ापे का अस्तित्व छिपाया गया था, इसलिए उनको यह दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने कोचवान से पूछा—'यह क्या चीज़ है और इस आदमी की इतनी बुरी और दुःखदाई हालत क्यो है?' जब उन्हे मालूम हुआ कि सभी आदमियो की किस्मत में यह बात लिखी है और ख़ुद उनकी भी, अनिवार्यतः वही हालत होगी तो वह आगे सैर जारी न रख सके। कोचवान को घर लौटने की आज्ञा दी ताकि वह इस घटना पर विचार कर सकें। घर लौटकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द कर लिया और घटना पर विचार करने लगे। शायद उन्होने अपने दिल को किसी तरह समझा-बुझा लिया होगा, क्योंकि बाद में वह फिर प्रफुल्ल और सुखी होकर सैर को निकले। इस बार उनको एक बीमार आदमी दिखायी दिया। इस आदमी का शरीर सूख गया था, वह नीला पड़ रहा था, शरीर काँप रहा था और आँखो में अँधेरा छा रहा था। चूँकि राजकुमार से बीमारी के अस्तित्व की बात छिपायी गयी थी, इसलिए उन्होने इस आदमी को देखते ही गाड़ी रोकवा दी और पूछा—'यह क्या बात है?' जब उन्हें मालूम हुआ कि यह बीमारी है जो सभी को होती है और ख़ुद स्वस्थ और प्रसन्न राजकुमार भी कल बीमार पड़ सकते हैं तो वह सैर का आनन्द भूल गये; घर लौटने की आज्ञा दी और शायद सोच-विचार के बाद अपने मन को किसी

---

* टाल्स्टाय का अनुवाद कई जगहों में प्रमाणिक माने जानेवाले अंग्रेजी अनुवाद से भिन्न है। यहाँ टाल्स्टाय का ही पाठ दिया गया है, क्योंकि उसने एक जगह लिखा है—'The Authorised English Version is bad.' (प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद खराब है)।

तरह सान्त्वना देने में समर्थ हुए; क्योंकि दूसरे दिन वह फिर तीसरी बार सैर का आनन्द लेने के लिए निकले। पर इस बार भी उन्हें एक नया दृश्य दिखाई दिया : उन्होंने देखा कि लोग किसी चीज़ को कन्धे पर रक्खे लिए जा रहे हैं। पूछा—'वह क्या है?' उत्तर मिला—'मुरदा है।' राजकुमार ने सवाल किया—'मुरदा क्या होता है?' उनको वताया गया कि उस आदमी की-सी अवस्था मे हो जाने पर मुरदा कहते है। राजकुमार अर्थी के नज़दीक गये, कपड़ा हटाया और उसे देखा। पूछा—'अव इसका क्या होगा?' लोगो ने कहा कि अव इसे जलायेंगे। 'क्यों?' 'क्योंकि अव वह फिर जी नही सकता और उसके शरीर से सिर्फ वदवू और कीड़े पैदा होंगे।' 'क्या सव आदमियो की यही गति होती है? क्या मेरी भी यही हालत होगी? क्या लोग मुझे भी जला देंगे? क्या मेरे शरीर से भी वदवू पैदा होगी और उसे कीड़े खा जायेंगे?' उत्तर मिला—'हॉ।' राजकुमार ने कोचवान से कहा—'घर लौटो। मैं फिर कभी मजे के लिए सैर-सपाटे को न निकलूँगा।'

तव से शाक्यमुनि के हृदय में वेचैनी पैदा हुई। उनको जीवन में कोई सान्त्वना न मिल सकी और उन्होंने निर्णय किया कि ज़िन्दगी सव से वड़ी वुराई है। उन्होंने अपनी आत्मा की सारी शक्ति इस वुराई से मुक्ति पाने और दूसरों को मुक्त करने मे लगा दी और इसे इस रूप मे करने की चेष्टा की कि मृत्यु के वाद फिर जीवन का चक्र न चल सके, वल्कि समूल उसका अन्त हो जाय।

यह भारतीय ज्ञान की वाणी है।

मानवीय ज्ञान जव जीवन के सवाल का जवाव देता है तव इसी तरह के सीधे जवाव उससे मिलते हैं।

'शरीर का, या दैहिक, जीवन वुरा एवं असत् है; और शून्यता (निर्वाण) का मार्ग ही जीवन मे एक अच्छाई है।' यह शापेनहावर का कथन है।

सुलेमान कहता है—'ज्ञान और अज्ञान, वैभव और गरीवी, सुख और दुःख—जो भी दुनिया मे है सव मिथ्याहंकार और पोल है। आदमी मर जाता है और उसका कोई चिन्ह नही वचता। कैसी मूर्खता है!'

ये सुलेमान अथवा जिसने भी इसे लिखा हो उसके शब्द हैं।*

अब भारतीय ज्ञान का कथन भी सुनिए :

शाक्यमुनि एक तरुण और सुखी राजकुमार थे। उनसे बीमारी, बुढापे और मृत्यु के अस्तित्व की बात छिपा रक्खी गयी थी। एक दिन वह सैर को निकले और उन्होंने एक अत्यन्त जीर्ण बूढ़े आदमी को देखा जिसके दाँत टूट गये थे और मुँह से फेन निकल रहा था। चूँकि राजकुमार से तबतक बुढ़ापे का अस्तित्व छिपाया गया था, इसलिए उनको यह दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होने अपने कोचवान से पूछा—'यह क्या चीज़ है और इस आदमी की इतनी बुरी और दुःखदाई हालत क्यो है ?' जब उन्हे मालूम हुआ कि सभी आदमियों की किस्मत में यह बात लिखी है और ख़ुद उनकी भी, अनिवार्यतः वही हालत होगी तो वह आगे सैर जारी न रख सके। कोचवान को घर लौटने की आज्ञा दी ताकि वह इस घटना पर विचार कर सकें। घर लौटकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द कर लिया और घटना पर विचार करने लगे। शायद उन्होने अपने दिल को किसी तरह समझा-बुझा लिया होगा, क्योंकि बाद में वह फिर प्रफुल्ल और सुखी होकर सैर को निकले। इस बार उनको एक बीमार आदमी दिखायी दिया। इस आदमी का शरीर सूख गया था, वह नीला पड़ रहा था, शरीर काँप रहा था और आँखो में अँधेरा छा रहा था। चूँकि राजकुमार से बीमारी के अस्तित्व की बात छिपायी गयी थी, इसलिए उन्होने इस आदमी को देखते ही गाड़ी रोकवा दी और पूछा—'यह क्या बात है ?' जब उन्हें मालूम हुआ कि यह बीमारी है जो सभी को होती है और ख़ुद स्वस्थ और प्रसन्न राजकुमार भी कल बीमार पड सकते हैं तो वह सैर का आनन्द भूल गये; घर लौटने की आज्ञा दी और शायद सोच-विचार के बाद अपने मन को किसी

* टाल्स्टाय का अनुवाद कई जगहों में प्रमाणिक माने जानेवाले अंग्रेजी अनुवाद से भिन्न है। यहाँ टाल्स्टाय का ही पाठ दिया गया है, क्योंकि उसने एक जगह लिखा है—'The Authorised English Version is bad.' (प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद खराब है)।

तरह सान्त्वना देने में समर्थ हुए; क्योंकि दूसरे दिन वह फिर तीसरी बार सैर का आनन्द लेने के लिए निकले। पर इस बार भी उन्हें एक नया दृश्य दिखाई दिया : उन्होंने देखा कि लोग किसी चीज़ को कन्धे पर रक्खे लिए जा रहे हैं। पूछा—'वह क्या है?' उत्तर मिला—'मुरदा है।' राजकुमार ने सवाल किया—'मुरदा क्या होता है?' उनको बताया गया कि उस आदमी की-सी अवस्था में हो जाने पर मुरदा कहते हैं। राजकुमार अर्थी के नज़दीक गये, कपड़ा हटाया और उसे देखा। पूछा—'अब इसका क्या होगा?' लोगों ने कहा कि अब इसे जलायेंगे। 'क्यों?' 'क्योंकि अब वह फिर जी नहीं सकता और उसके शरीर से सिर्फ बदबू और कीड़े पैदा होंगे।' 'क्या सब आदमियों की यही गति होती है? क्या मेरी भी यही हालत होगी? क्या लोग मुझे भी जला देंगे? क्या मेरे शरीर से भी बदबू पैदा होगी और उसे कीड़े खा जायँगे?' उत्तर मिला—'हाँ।' राजकुमार ने कोचवान से कहा—'घर लौटो। मैं फिर कभी मज़े के लिए सैर-सपाटे को न निकलूँगा।'

तब से शाक्यमुनि के हृदय में बेचैनी पैदा हुई। उनको जीवन में कोई सान्त्वना न मिल सकी और उन्होंने निर्णय किया कि ज़िन्दगी सब से बड़ी बुराई है। उन्होंने अपनी आत्मा की सारी शक्ति इस बुराई से मुक्ति पाने और दूसरों को मुक्त करने में लगा दी और इसे इस रूप में करने की चेष्टा की कि मृत्यु के बाद फिर जीवन का चक्र न चल सके, बल्कि समूल उसका अन्त हो जाय।

यह भारतीय ज्ञान की वाणी है।

मानवीय ज्ञान जब जीवन के सवाल का जवाब देता है तब इसी तरह के सीधे जवाब उससे मिलते है।

'शरीर का, या दैहिक, जीवन बुरा एवं असत् है; और शून्यता (निर्वाण) का मार्ग ही जीवन में एक अच्छाई है।' यह शापेनहावर का कथन है।

सुलेमान कहता है—'ज्ञान और अज्ञान, वैभव और गरीबी, सुख और दुःख—जो भी दुनिया में है सब मिथ्याहंकार और पोल है। आदमी मर जाता है और उसका कोई चिन्ह नहीं बचता। कैसी मूर्खता है!'

बुद्ध कहते हैं · 'दु ख की, कमजोर और वृद्ध होने तथा मृत्यु की अनिवार्यता की चेतना के बीच रहना असम्भव है। हमें जीवन, सब प्रकार के संभव जीवन के जाल से छूटना ही होगा।'

और इन महापुरुषो एवं चिन्तको ने जो कुछ कहा है उसे लाखों आदमियों ने कहा, सोचा और अनुभव किया है। मैंने भी इसे सोचा और महसूस किया है।

इस तरह विज्ञानो के बीच जो सैर मैंने की उससे अपनी निराशा से छूटने की जगह मै उसमें और भी ज़ोरो के साथ फँसता गया। मायूसी की गॉठ और मज़बूत होती गयी। ज्ञान के एक प्रकार ने जीवन के सवाल का उत्तर ही नही दिया; दूसरे ने सीधे जवाब दिया और मेरी निराशा को पक्का कर दिया : उसने यह कहने की जगह कि जिस नतीजे पर मैं पहुँचा हूँ वह मेरी भूल या मेरे मन की अस्वस्थ अवस्था का परिणाम है, उलटे कहा कि मैंने जो सोचा है, ठीक ही सोचा है और मेरे विचार सबसे शक्तिमान मानवी मस्तिष्को द्वारा पहुॅचे हुए नतीजो से मेल खाते हैं।

अपने को धोखे में रखने से कोई फ़ायदा नहीं है। यह सब मिथ्याहंकार है! जो पैदा नही हुआ है वही सुखी है—भाग्यवान् है; मृत्यु जीवन से अच्छी है और आदमी को अवश्य जीवन से मुक्ति-लाभ करना चाहिए।

: ७ :

जब मुझे विज्ञान के अन्दर कोई जवाब नहीं मिला तब मैंने जीवन में उसकी खोज शुरू की और इर्द-गिर्द के लोगो में ही उसे पा लेने की उम्मीद की। मैंने इस बात पर ध्यान देना शुरू किया कि मेरे आस-पास के मेरे ही जैसे लोग कैसे ज़िन्दगी बिताते है और उस सवाल की निस्वत उनका क्या रुख़ है जिसने मुझे निराशा के भँवर में लाकर छोड़ दिया है।

जो लोग मेरी जैसी स्थिति मे थे यानी जिनकी शिक्षा-दीक्षा और जीवन-प्रणाली मेरे समान थी उनके बीच मैंने यह जवाब पाया।

मैंने पता लगाया कि मेरे वर्ग के आदमी जिस भयानक स्थिति में थे उससे निकलने के लिए चार रास्ते हैं :

पहला अज्ञान का रास्ता है यानी इस बात को न जानना, न समझना कि ज़िन्दगी एक बुराई और फिजूल की चीज़ है। इस तरह के लोग—खास-तौर पर औरतें, वा बिल्कुल नवजवान या बिल्कुल सुस्त और कुन्दज़ेहन आदमी—अभी तक ज़िन्दगी के उस सवाल को समझ ही नही पाये हैं जो शापनहावर, सुलेमान और बुद्ध के सामने आया था। वे न तो उस अजगर को ही देख रहे हैं जो उनकी बाट जोह रहा है और न उस टहनी काटने वाले चूहे को ही देख रहे हैं जिनसे वे लटके हुए है। वे सिर्फ शहद की बूँदें चाटते हैं। पर शहद की बूँदे भी वे थोड़े ही समय तक चाट पाते हैं : कोई चीज़ उनका ध्यान अजगर और चूहे की तरह ज़रूर खींचेगी और शहद चाटने का अन्त हो जायगा। ऐसे लोगों से मुझे कुछ सीखना नहीं है—आदमी जिस बात को जानता है उसकी जानकारी की ओर से आँख कैसे मूँद सकता है?

इससे छूटने का दूसरा मार्ग विषयासक्ति है। इसका मतलब है—

ज़िन्दगी की व्यर्थता को जानते हुए भी जो कुछ सहूलियतें मिल गयी हैं उनका फिलहाल उपयोग करना और अजगर एवं चूहे की परवा न करते हुए अपनी पहुँच में जितना शहद हो उसे चाटते जाना। सुलेमान ने इसी भाव को यों ज़ाहिर किया है—'तब मैंने प्रमोद का रास्ता इख़्तियार किया, क्योंकि आदमी के लिए दुनिया में खाने, पीने और आनन्द मनाने से बढ़कर और क्या है। ईश्वर ने दुनिया में उसे ज़िन्दगी के जितने दिन दिये हैं उसमें उसके श्रम के बीच अगर प्रमोद, सुख-भोग का यह क्रम चलता रहे तो फिर और क्या चाहिए।

'इसलिए आनन्द के साथ अपनी रोटी खा और उल्लसित हृदय से अपनी शराब पी।...जिस पत्नी को अपने मिथ्याहंकार की ज़िन्दगी के दिनों में तू प्यार करता है उसके साथ सुखपूर्वक रह... क्योंकि दुनिया में तू जो श्रम करता है उसमें तुझे अपने हिस्से में यह चीज़ मिली है। तेरे हाथों को जो कुछ करने को मिले उसे अपनी सारी ताकत से कर; क्योंकि जिस कब्र की तरफ़ तू चला जा रहा है उसमें कोई काम, कोई तरकीब, कोई ज्ञान बाकी नहीं रह जाता।'

यही वह तरीका है जिसे इख़्तियार करके हमारे ढंग के ज़्यादातर आदमी अपने लिए ज़िन्दगी को संभव बनाते हैं। अपनी परिस्थिति के कारण उनकी ज़िन्दगी में कठिनाई की जगह आराम और सुख-भोग की अधिकता होती है और अपनी नैतिक अन्धता की वजह से वे यह भूल जाते हैं कि उनकी स्थिति की यह सुविधा आकस्मिक है और सुलेमान की तरह हर आदमी को हज़ार पत्नियाँ और महल नहीं मिल सकते। वे यह भी भूल जाते हैं कि हर ऐसे आदमी के बदले, जिसके पास हज़ार औरतें है, हज़ार आदमी बिना औरत के ही रह जाते हैं और हर महल को बनाने में हज़ार आदमियों को पसीना बहाकर काम करना पड़ता है और जिस घटनाचक्र ने आज मुझे सुलेमान बना दिया है वही कल मुझे सुलेमान का दास भी बना सकता है। चूँकि इन आदमियों की कल्पनाशक्ति बिल्कुल निकम्मी हो चुकी होती है इसलिए वे उन बातों को भुला सकते हैं जिनके कारण बुद्ध को शान्ति नहीं

मिलती थी—यानी उस बीमारी, बुढ़ापे और मौत की अनिवार्यता को वे भूल जाते है जो आज या कल इन सब सुखो का अन्त कर देगी।

हमारे ज़माने के और हमारी तरह ज़िन्दगी बितानेवाले ज़्यादातर आदमी इसी तरह सोचते और अनुभव करते हैं। यह ठीक है कि इनमें से कुछ लोग अपने विचारों और कल्पनाओ के निकम्मेपन को एक तत्त्वज्ञान के रूप में घोषित करते हैं और उसे 'निश्चयात्मक' (पाज़िटिव) नाम देते हैं; पर मेरी सम्मति में, इसके कारण वे उन लोगो के झुण्ड से अलग नही किये जा सकते, जो सवाल को नज़रअन्दाज़ करने के लिए, शहद चाटते हैं। मै इन आदमियो की नकल नही कर सकता, और उनकी जैसी कल्पना की मन्दता न होने के कारण मैं उनकी तरह इसे बनावटी तौर पर अपने अंदर पैदा भी नहीं कर सकता। मै अजगर और चूहे से अपनी आँखें हटा नही सकता; कोई चेतनाधारी मनुष्य एक वार उन्हें देख लेने के वाद ऐसा नही कर सकता।

पलायन का तीसरा रास्ता वल और शक्ति का है। इसके मानी यह है कि जव आदमी समझ ले कि ज़िंदगी महज़ एक वुराई और निरर्थक-सी चीज़ है तव उसे नष्ट कर दे। विशेष शक्तिमान और अपने उसूल को न छोड़ने वाले वहुत ही थोड़े लोग ऐसा करते हैं। उनके साथ जो मज़ाक किया गया है उसकी निरर्थता समझ लेने और जीने से मर जाना अच्छा है तथा अस्तित्व न रखना सवसे अच्छा है, यह जान लेने के वाद वे इस मूर्खतापूर्ण मजाक का ख़ात्मा कर देते हैं—क्योंकि खात्मा करने के साधन भी मौजूद हैं: गले के चारो ओर रस्सी का फंदा, पानी, कलेजे में घुसेड़ देने के लिए छुरा, रेल पर चलने वाली गाड़ियाँ। हम मे से जो लोग ऐसा करते हैं उनकी तादाद वढ़ती ही जाती है। इनमें से ज़्यादातर अपनी ज़िन्दगी की सब से अच्छी अवधि मे, जव उनके मन की शक्ति खूब विकसित होती है और मनुष्य के मन को विकृत और पतित करनेवाली आदतें भी उनमें वहुत कम होती हैं, ऐसा करते है।

मैंने देखा कि पलायन का यही सब से अच्छा तरीका है और मैंने इसे ही इख़्तियार करने की ख़्वाहिश की।

एक चौथा तरीका और है, पर वह कमज़ोरी का तरीका है। इस तरीके में परिस्थिति की सच्चाई को देखते हुए भी ज़िन्दगी से चिपटे रहना है—गो आदमी पहले से ही यह जानता होता है कि इसमें से कोई चीज नही हाथ आनी है। इस तरह के आदमी जानते हैं कि मौत ज़िन्दगी से बेहतर है; पर चूँकि बुद्धिमत्तापूर्वक आचरण करने की जल्दी इस धोखा-धड़ी को ख़त्म करने और मार डालने की ताकत उनमें नही होती, वे किसी चीज़ का इन्तज़ार करते हुए मालूम पड़ते हैं। यह कमज़ोरी का पलायन है; क्योंकि जब मैं जानता हूँ कि सबसे अच्छी बात क्या है और उसे करना मेरे बस की बात है तब उस सब से अच्छी बात के आगे क्यो सिर न झुकाया जाय ?.. मैंने अपने को इसी वर्ग में पाया।

इन चार तरीकों से मेरी जैसी स्थिति के आदमी भयंकर परस्पर-विरुद्धताओं से दूर भागने की कोशिश करते हैं। मैंने बड़ी कल्पना की, अपना दिमाग़ चारो तरफ़ दौड़ाया; पर इन चार तरीको के अलावा मुझे कोई दूसरा रास्ता नही दिखाई दिया। एक रास्ता था—जीवन मूर्खतापूर्ण, मिथ्या-हंकार और बुराई है और ज़िन्दा न रहना बेहतर है, इसे न समझने का। पर मैं इसे समझे-जाने बग़ैर न रह सका और जब एक बार मैं उसे जान-समझ चुका तब उससे ऑखे कैसे बन्द कर सकता था ? दूसरा रास्ता यह था—बग़ैर आगे का, भविष्य का विचार किये जैसी भी ज़िन्दगी है उसका इस्तेमाल किया जाय। मैं ऐसा भी नहीं कर सकता था। शाक्यमुनि की तरह जानते हुए कि बुढ़ापा, बीमारी और मौत का अस्तित्व है, मै सैर-शिकार को नही जा सकता था। मेरी कल्पना बड़ी प्रबल थी। मैं उन क्षणिक घटनाओं में भी ख़ुशी नही महसूस कर सकता था जो थोड़ी देर के लिए मेरे सामने सुख के टुकड़े फेंक जाती थीं। तीसरा रास्ता यह था कि इस बात को समझ लेने के बाद कि ज़िन्दगी एक बुरी और बेवकूफ़ी से भरी हुई चीज़ है, अपने को मारकर उसका ख़ात्मा कर दिया जाय। मैं जीवन की व्यर्थता को समझता था फिर भी किसी वजह से अपनी हत्या मैंने नही की। चौथा तरीका है—सुलेमान और शापेनहावर की तरह रहने का—यह जानते

हुए कि ज़िन्दगी हमारे साथ किया गया एक मज़ाक है, जीवन बिताने, नहाने-धोने, खाने-पहनने, बात करने और किताबें लिखने का। मेरे लिए यह घृणाजनक और दु:खदाई था। लेकिन मैं उस स्थिति में बना रहा।

आज मैं देखता हूँ कि मै जो अपनी हत्या नही कर सका उसका कारण एक तरह की धुंधली चेतना थी कि मेरे विचार भ्रमपूर्ण हैं। मेरे तथा विद्वानो के विचारो की वह प्रणाली चाहे कितनी ही विश्वासदायक और सन्देहरहित मालूम पड़ी हो जिसने हमें ज़िन्दगी की व्यर्थता को स्वीकार करने पर मजबूर किया। पर इस परिणाम के औचित्य के सम्बन्ध में मेरे अन्दर एक धुँधला सन्देह बना ही रहा।

यह सन्देह कुछ इस तरह का था : मै यानी मेरी बुद्धि ने मान लिया है कि जीवन व्यर्थ है। अगर बुद्धि से ऊँची कोई चीज़ नही है (और है भी नहीं; कोई चीज़ सिद्ध नही कर सकती कि इससे ऊँची वस्तु है), तब मेरे लिए बुद्धि ही जीवन की सृष्टि करने वाली है। अगर बुद्धि के अस्तित्व का लोप हो जाय तो मेरे लिए जीवन भी न रहेगा। पर बुद्धि जीवन से इन्कार कैसे कर सकती है, जब वह स्वयं जीवन की सृष्टि करनेवाली है? या इसे दूसरी तरह कहे : अगर जीवन न होता तो मेरी बुद्धि का अस्तित्व भी न होता, इसलिए बुद्धि जीवन की संतान है। जीवन ही सब कुछ है। बुद्धि उसका फल है, फिर भी बुद्धि स्वयं जीवन को अस्वीकार करती है! मैंने महसूस किया कि इसमें कोई-न-कोई भ्रम या ग़लती है।

मैने अपने तई कहा—यह ठीक है कि जीवन एक व्यर्थ की बुराई है। फिर भी मैं जीता रहा हूँ और अब भी जी रहा हूँ; सारी मानव-जाति जीती रही है और जी रही है। यह कैसी बात है? जब न जीना मुमकिन है तब फिर यह क्यो जीती है? क्या सिर्फ मै और शापेनहावर ही इतने अक्लमन्द है कि जीवन की व्यर्थता और बुराई को समझते है?

जीवन के मिथ्याहंकार को प्रदर्शित करनेवाला तर्क इतना कठिन नही है और बिल्कुल सीधे-सादे लोगों को भी अनन्तकाल से उसका परिचय रहा है, फिर भी वे जीते रहे हैं और आज भी जी रहे हैं। फिर क्या कारण

है कि वे सब जीते है और कभी जीवन के औचित्य में संदेह करने की बात नहीं सोचते ?

ऋषियो के विवेक द्वारा समर्थित मेरे ज्ञान ने मुझे बताया है कि पृथ्वी पर रहने वाली प्रत्येक वस्तु—शरीरी और अशरीरी—अत्यन्त चतुराई के साथ एक व्यवस्था और शृङ्खला मे पिरोई हुई है, केवल मेरी ही स्थिति हास्यास्पद है। और विस्तृत जन-समूह का निर्माण करनेवाले उन 'मूर्खों' को इस बात का कुछ ज्ञान नहीं है कि जगत् की प्रत्येक शरीरी और अशरीरी वस्तु में किस क्रम का विधान है। फिर भी वे जी रहे हैं और उनको ऐसा अनुभव होता है कि उनका जीवन बड़ी बुद्धिमत्ता और व्यवस्थापूर्वक क्रमबद्ध है !

तब मुझे यह ख़याल आया कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं किसी वस्तु को अभी तक न जानता होऊँ ? अज्ञान ठीक इसी रूप में अपना कार्य करता है। वह सदैव ठीक वही बात कहता है जो मैं कह रहा हूँ। जब वह किसी वस्तु को नहीं जानता तब वह यह कहता है कि जो कुछ मैं नहीं जानता वह सब मूर्खतापूर्ण है। इसमें संदेह नहीं और यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सारा-का-सारा मानव-समाज ऐसा है जो जीता रहा है और आज भी इस रूप में जी रहा है मानो उसने अपने जीवन का अर्थ समझ लिया हो, क्योंकि बिना इसे समझे वह जी नहीं सकता; किन्तु मै कहता हूँ कि यह सब जीवन निरर्थक है और मै जी नहीं सकता।

'आत्म-हत्या द्वारा जीवन को अस्वीकार करने से हमें कोई चीज नहीं रोकती। तब अपने को मार डालो और बहस मत करो। यदि जीवन तुम्हें दु:खी करता है तो अपनी हत्या कर लो ! तुम जीते हो, और फिर भी जीवन के तात्पर्य को समझ नहीं सकते तो इस जीवन का अन्त कर दो; और जीवन में आत्म-वंचना करते तथा उन बातो को कहते और लिखते हुए न फिरो जिसे तुम स्वयं समझने में असमर्थ हो। तुम एक अच्छे समाज में पैदा हुए हो, जिसमें लोग अपनी स्थिति से संतुष्ट है और जानते हैं कि वे क्या कर रहे है। यदि तुम इसे निरानन्द और घृणाजनक पाते हो तो इसे छोड़कर चल दो !'

हमारे जैसे लोग जो आत्म-हत्या की आवश्यकता को अनुभव करते हैं, फिर भी आत्म-हत्या करने का निश्चय नही कर पाते, अवश्य ही सबसे दुर्बल, अत्यंत असम्बद्ध और, यदि साफ-साफ कहें तो, सबसे मूर्ख हैं और उन मूर्खों की तरह अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करते फिरते है जो एक चित्रित पापिनी के विषय में प्रलाप करते हैं। हमारी बुद्धि और हमारा ज्ञान चाहे कितना ही संदेह-रहित हो; किंतु इसने हमारे जीवन का प्रयोजन समझने की शक्ति हमे नही दी है। किन्तु समग्र मानव-जाति जो जीवित है—कम-से-कम उनमें से करोडो की संख्या—जीवन के प्रयोजन के विषय में संदेह नहीं करती।

अत्यन्त प्राचीन काल से, जब जीवन का आरम्भ हुआ अथवा जिसके बारे मे हमे कुछ भी जानकारी है, तब से जगत् मे मनुष्य जी रहे हैं और वे जीवन की व्यर्थता के विषय में जो तर्क है उसका ज्ञान भी रखते रहे है—इसी तर्क का ज्ञान जिसने मुझे जीवन की निरर्थकता का विश्वास दिला दिया है—,और फिर भी वे जीवन का कुछ अर्थ बताकर बराबर जीते रहे।

जब से मनुष्यों में किसी प्रकार के जीवन का आरम्भ हुआ तब से ही उनको जीवन के प्रयोजन का भी पता रहा है और वे वही जीवन बिताते रहे हैं जो आज मेरे पास आया है। जो कुछ मेरे अन्दर और मेरे इर्द-गिर्द है, सब शरीरी और अशरीरी वस्तुये, उन्ही के जीवन-ज्ञान का परिणाम हैं। विचार के जिन साधनो से मै इस जीवन के विषय मे विचार करता और उसका तिरस्कार करता हूँ वे सब मेरे द्वारा नही, बल्कि उन्ही आदमियों द्वारा आविष्कृत हुए थे। यह भी उन्हीं की कृपा है जो मैं पैदा हुआ, पढाया-लिखाया गया और इस प्रकार विकसित हुआ। उन्होंने जमीन खोद कर लोहे का पता लगाया, उन्होंने हमे जंगलो को काट कर साफ करना सिखलाया, गायों और घोड़ों का पालन करना उन्होंने सिखलाया, उन्होने ही हमें बतलाया कि खेत में अन्न किस प्रकार बोना चाहिए और हम मिल-जुल कर किस प्रकार रह सकते हैं। उन्होने हमारे जीवन को संगठित किया, और मुझे सोचना और बोलना सिखलाया। और मैं, उन्हीं की सन्तति,

उन्हीं द्वारा पालित-पोषित, उन्हीं द्वारा ज्ञान प्राप्त कर और उन्हीं के विचारो और शब्दो का अपने चिन्तन में उपभोग करते हुए, तर्क करता हूँ कि वे मूर्ख और निरर्थक थे ! तब मैंने अपने मन मे कहा कि 'कहीं-न-कहीं अवश्य कोई ग़लती हो रही है और मै कुछ भूल अवश्य कर रहा हूँ।' लेकिन वह ग़लती कहाँ है और क्या है इसका पता मुझे बहुत बाद मे चला।

: ८ :

ये सब सन्देह, जिन्हे आज थोड़े-बहुत व्यवस्थित रूप में प्रकट करने मे समर्थ हुआ हूँ, उस समय मै व्यक्त नहीं कर सकता था। उस समय तो मैं इतना ही महसूस करता था कि जीवन के मिथ्या अहंकार के सम्बन्ध में मेरे निष्कर्ष तर्क की दृष्टि से चाहे कितने ही अनिवार्य जान पडते हों और ससार के महान् विचारको द्वारा उनको चाहे कितना ही समर्थन प्राप्त हुआ हो, किन्तु उनमे कोई-न-कोई ग़लती अवश्य है। यह ग़लती स्वयं उस तर्क-प्रणाली मे है अथवा इस प्रश्न के वक्तव्य में है, यह मैं नहीं जानता था। मै इतना ही महसूस करता था कि जिस नतीजे पर मै पहुँचा हूँ वह तर्क की दृष्टि से विश्वसनीय है; किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। ये सब परिणाम वा निष्कर्ष मुझे इस रूप मे विश्वास नहीं दिला सके कि मैं अपनी तार्किकताके अनुसार आचरण भी कर सकूँ अर्थात् अपनी हत्या कर लूँ। और यदि बिना अपनी हत्या किये मै कहता कि बुद्धि से ही मै इस स्थान पर पहुँचा हूँ तो यह एक झूठी बात होती। बुद्धि और तर्क अपना काम कर रहे थे, लेकिन कोई और चीज भी अन्दर-ही-अन्दर क्रियाशील थी, इससे हम जीवन की चेतना के नाम से पुकार सकते है। मेरे अन्दर एक शक्ति काम कर रही थी जो मेरा ध्यान इस तरफ खींचने को मुझे विवश करती थी; और यही वह शक्ति थी जिसने मुझे मेरी निराशापूर्ण स्थिति से उबारा औरएक बिल्कुल ही दूसरी दिशा में मेरे मन को नियोजित किया। इस शक्ति ने मुझे इस तथ्य की ओर ध्यान देने को मजबूर किया कि मै और मेरे जैसे कुछ थोड़े और आदमियों तक ही मानव-जाति का अन्त नहीं है और अभी तक मै मानव-जाति के जीवन का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका हूँ।

अपने बराबरी के लोगों की संकुचित परिधि की ओर जब मैंने ध्यान दिया तो देखा कि उनमें ऐसे ही लोग हैं जिन्होंने या तो इस सवाल को समझा ही नहीं है या यदि समझा भी है तो उसे जीवन के नशे में डुबा दिया है, अथवा समझ कर अपने जीवन का अन्त कर दिया है, या इसे समझा तो है; किन्तु अपनी दुर्बलता के कारण वे अपने निराशापूर्ण जीवन के दिन बिता रहे हैं। इसके सिवा मुझे दूसरे लोग दिखलाई न पड़ते थे। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि धनवान, शिक्षित और निठल्ले लोगों के उस संकुचित समाज तक—जिसमें मै शामिल था—ही सारी मनुष्य-जाति का खात्मा हो जाता है, और वे करोड़ों आदमी जो इस छोटे समाज के बाहर रहकर जीवन बिताते रहे हैं और आज भी बिता रहे है एक प्रकार के पशु है—वे असली आदमी नहीं है।

यद्यपि इस समय यह बात बिल्कुल असंगत और अविश्वस्नीय रूप से अचिन्त्य मालूम होती है कि मैं जीवन के विषय में तर्क करते हुए भी अपने चारो ओर के मानव-जाति के सम्पूर्ण जीवन को उस समय भूल जाता था और यह समझने की भूल कर बैठता था कि मेरा तथा सुलेमान और शापन-हावर का जीवन ही सच्चा जीवन है और करोड़ों मनुष्यों का जीवन हमारे ध्यान देने लायक नहीं—पर उस समय मेरे साथ यही बात थी। अपनी बुद्धि के अहंकार और आत्म-वंचना में मुझे यह बात असंदिग्ध मालूम पड़ती थी कि मैने एवं सुलेमान और शापनहावर ने जीवन के इस सवाल को ऐसे सच्चे और उचित रूप में रक्खा है कि उसके अतिरिक्त और कुछ भी सम्भव नहीं है। यह बात मुझे इतनी संदिग्ध प्रतीत होती थी कि अपने चारो ओर फैले हुए उन करोड़ों आदमियो के जीवन के विषय में कभी मेरे मन में एक बार भी यह प्रश्न नहीं उत्पन्न हुआ कि 'जो कोटि-कोटि व्यक्ति दुनिया में जीते रहे हैं और जी रहे हैं उन्होंने अपने जीवन का क्या प्रयोजन समझा था अथवा समझा है?'

मैं बहुत दिनों तक पागलपन की इस अवस्था मे रहा जो हम अत्यन्त उदार और सुशिक्षित आदमियों के औसत स्वभाव को प्रकट करती है।

किन्तु सच्चे श्रमिको के लिए मेरे हृदय में जो सद्भाव है उसके कारण मुझे उनकी ओर ध्यान देने और यह समझने के लिए विवश होना पड़ा कि वे उतने मूर्ख नहीं है जितना हमने मान रक्खा है। इस वृत्ति के कारण अथवा अपने विश्वास की इस सचाई के कारण कि अपनी हत्या कर देने के अतिरिक्त मैं और कुछ जानने में असमर्थ हूँ, मैंने आन्तरिक प्रेरणावश यह अनुभव किया कि यदि मैं जीना और जीवन के प्रयोजन को समझना चाहूँ तो मुझे उन लोगों मे इसकी खोज नहीं करनी चाहिए जिन्होने इसे खो दिया है अथवा जो अपनी हत्या करना चाहते हैं, बल्कि भूत और वर्तमान काल के उन करोड़ो आदमियो में उसकी खोज करनी चाहिए जो जीवन का निर्माण करते हैं और जो न केवल अपनी ज़िन्दगी का बोझा उठाते है, बल्कि हमारे जीवन का बोझ भी अपने कन्धो पर ले लेते हैं। तब मैने उन बहु-संख्यक सरल, अशिक्षित और गरीब लोगो के जीवन पर विचार करना आरम्भ किया जो जीवन व्यतीत कर चुके हैं अथवा आज भी जी रहे हैं। मैंने एक बिल्कुल ही नई बात देखी। मैंने देखा कि थोड़े से अपवादो को छोड़कर जी चुके अथवा जी रहे ये करोड़ों आदमी मेरी पूर्व-निश्चित श्रेणियो मे नहीं बाँटे जा सकते। मै उन्हे न तो उन आदमियो की श्रेणी में रख सकता हूँ जो सवाल को नहीं समझते; क्योंकि वे ख़ुद इसको बयान करते है और असाधारण स्पष्टता के साथ इसका जवाब देते है। मैं उन्हें विषयासक्त भी नहीं मान सकता; क्योंकि उनकी ज़िन्दगी में सुख-भोग की बनिस्बत दु ख-दर्द ही ज़्यादा है। इनकी गिनती मैं उन लोगो में तो कर ही कैसे सकता हूँ जो अविवेकपूर्वक अपनी अर्थहीन ज़िन्दगी का भार ढो रहे हैं, क्योंकि अपने जीवन के हरएक काम, और खुद मौत, की व्याख्या भी उनके ज़रिये हो रही है। आत्म-हत्या को वे सब से बड़ी बुराई या पाप समझते हैं। तब मुझ पर यह प्रकट हुआ कि सारी मानव-जाति को जीवन के अर्थ या प्रयोजन की जानकारी थी, पर मै उस जानकारी को मंजूर न करता था और उससे नफ़रत करता था। मुझे यह भी मालूम पड़ा कि तार्किक ज्ञान जीवन का अर्थ बताने मे असमर्थ है; वह जीवन को बहिष्कृत करता है.

उधर करोड़ो आदमी—सारा मनुष्य-समाज—जीवन का जो अर्थ लगाते हैं वह एक प्रकार के तिरस्कृत मिथ्या ज्ञान पर आश्रित है।

पण्डितो और विद्वानो द्वारा पेश किया जाने वाला तर्कपूर्ण या बुद्धि-सम्मत ज्ञान जीवन के अर्थ वा प्रयोजन से इन्कार करता है, परन्तु मनुष्यो की बहुत बड़ी संख्या, करीब-करीब सारी मनुष्य-जाति, इस अर्थ को अतार्किक ज्ञान में प्राप्त करती है। और यह अतार्किक ज्ञान ही श्रद्धा है—वह वस्तु जिसे मैं अस्वीकार किये बिना रह नहीं सकता था। यह ईश्वर है, यह त्रिमूर्ति में एक है, यह छः दिनो में सृष्टि करने के समान है। पर इन सब बातो को मै उस वक्त तक स्वीकार नहीं कर सकता जबतक मेरी बुद्धि सही-सलामत है।

मेरी स्थिति बड़ी भयंकर थी। मै जान चुका था कि तार्किक ज्ञान के रास्ते पर चलकर तो मै जीवन की अस्वीकृति के सिवाय कुछ और प्राप्त नहीं कर सकता; और उधर श्रद्धा के पक्ष में बुद्धि की अस्वीकृति के सिवा दूसरी कोई बात नहीं थी जो मेरे लिए जीवन की अस्वीकृति की अपेक्षा कहीं असम्भव थी। तार्किक ज्ञान से तो यह प्रकट होता था कि जीवन एक बुराई है, और लोग इसे जानते हैं कि न जीना ख़ुद उन्हीं पर निर्भर है; फिर भी उन्होने अपनी ज़िन्दगी के दिन पूरे किये और आज भी वे जी रहे है। ख़ुद मै जी रहा हूँ, यद्यपि बहुत दिनो से मुझे इस बात का ज्ञान है कि जीवन अर्थहीन और एक दूषण है। श्रद्धा द्वारा यह प्रकट होता है कि जीवन के प्रयोजन को समझने के लिए मुझे अपनी बुद्धि का तिरस्कार करना चाहिए—उसी वस्तु का जिसके लिये जीवन का अर्थ जानने की ज़रूरत है।

: ९ :

इस प्रकार जो संघर्ष और परस्पर-विरोधी स्थिति पैदा हुई उससे निकलने के दो मार्ग थे। या तो यह कि जिसे मै बुद्धि कहता हूँ वह इतनी तर्क-संगत नहीं है जितनी मै माने बैठा हूँ; अथवा यह कि जिसे मैं अबौद्धिक और अतार्किक समझता हूँ वह इतना अबौद्धिक और तर्क-विरोधी नहीं है जितना मै समझता हूँ। तब मैं अपने तार्किक ज्ञान की तर्क-प्रणाली पर विचार और उसकी छान-बीन करने लगा।

अपने बौद्धिक ज्ञान की तर्क-प्रणाली पर विचार करने पर मुझे वह बिल्कुल ठीक मालूम हुई। यह निष्कर्ष अनिवार्य था कि जीवन शून्यवत है; किन्तु मुझे एक भूल दिखलाई पड़ी। भूल यह थी कि मेरा तर्क उस सवाल के अनुरूप नहीं था जो मैंने पेश किया था। प्रश्न था—'मै क्यों जीऊं अर्थात् मेरे इस स्वप्नवत् क्षणिक जीवन से क्या वास्तविक और स्थायी परिणाम निकलेगा; इस असीम जगत् में मेरे सीमित अस्तित्व का प्रयोजन क्या है ?' इसी प्रश्न का जवाब देने के लिए मैंने जीवन का अध्ययन किया था।

जीवन के सब संभव प्रश्नो के हल मुझे सन्तुष्ट न कर सके; क्योंकि मेरा सवाल यद्यपि यों देखने मे सीधा-सादा था; परन्तु इसमें सीमित वस्तु को असीम के रूप मे और असीम को सीमित वस्तु के रूप में समझने की मॉग भी शामिल थी।

मैंने पूछा—'काल, कारण और अवकाश के बाहर मेरे जीवन का क्या अर्थ है ?' और मैंने इस प्रश्न का यो उत्तर दिया—'काल, कारण और अवकाश के अन्दर मेरे जीवन का क्या अर्थ है ?' बहुत सोच-विचार के बाद मै यही उत्तर दे सका कि कुछ नहीं।

अपने तर्कों में मैं बराबर सीमित की सीमित के साथ और असीम की

असीम के साथ तुलना करता रहा। इसके सिवा और मैं कर ही क्या सकता था ? इसी तर्क के कारण मैं इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचा—शक्ति शक्ति है, पदार्थ पदार्थ है, संकल्प संकल्प है, असीम असीम है, शून्य शून्य है—इससे ज्यादा और किसी परिणाम पर पहुँचना संभव न था।

यह वात कुछ वैसी ही थी जैसी गणित के क्षेत्र मे उस समय होती है जव हम किसी समीकरण को हल करने का विचार करते हुए यह देखते हैं कि हम समान संख्याओं को ही हल कर रहे हैं। यह तर्क-प्रणाली तो ठीक है; लेकिन उत्तर में इसका परिणाम यह निकलता है कि 'क' 'क' के वरावर है या 'ख' 'ख' के वरावर है या 'ग' 'ग' के वरावर है। अपने जीवन के प्रयोजन वाले प्रश्न के विषय में तर्क करते समय भी मेरे साथ यही वात हुई। सव प्रकार के विज्ञानो द्वारा इस प्रश्न का एक ही उत्तर मिला।

और सच तो यह है कि शुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान (वह ज्ञान जो डिकार्टे की भाँति प्रत्येक वस्तु के विषय में पूर्ण संदेह के साथ शुरू होता है) श्रद्धा द्वारा स्वीकृत सव प्रकार के ज्ञान को अस्वीकार करता है और प्रत्येक वस्तु का बुद्धि, तर्क और अनुभव के नियमो के आधार पर नवीन रूप से निर्माण करता है, और जीवन के प्रश्न के विषय में उसके अलावा और कोई जवाव नहीं दे सकता जो मैं पहले ही प्राप्त कर चुका था—यानी एक अनिश्चित उत्तर। शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि विज्ञान ने मुझे एक निश्चयात्मक उत्तर दिया है—वह उत्तर जो शापेनहावर ने दिया था यानी जीवन का कोई अर्थ नहीं है और यह एक वुराई है। किन्तु इस विषय की भलीभाँति परीक्षा करने पर मैंने देखा कि यह उत्तर निश्चयात्मक नहीं है, केवल मेरी अनुभूति ने उसे इस रूप में प्रकट किया है। ठीक तौर से उसे व्यक्त किया जाय—जैसा कि व्राह्मणो, सुलेमान और शापनहावर ने व्यक्त किया है—तो जवाव अनिश्चित अथवा एकसा मिलता है—वही 'क' वरावर 'क' अथवा जीवन कुछ नहीं है। इस प्रकार यह दार्शनिक ज्ञान किसी वस्तु को अस्वीकार तो नहीं करता; किन्तु यह उत्तर देता है कि यह प्रश्न हल करना उसकी शक्ति के वाहर है और उसके लिए हल अनिश्चित ही रहेगा।

इसे समझ चुकने के बाद मैने यह देखा कि तार्किक ज्ञान के द्वारा अपने प्रश्न का कोई उत्तर खोज निकालना संभव नहीं है और तार्किक ज्ञान के द्वारा मिलने वाला उत्तर केवल इस बात का सूचक है कि इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न के एक भिन्न वक्तव्य के द्वारा और तभी प्राप्त हो सकता है जब उसमें असीम के साथ सीमित के सम्बन्ध को शामिल कर लिया जाय। और मैंने समझा कि श्रद्धा एवं विश्वास द्वारा मिलने वाला उत्तर चाहे कितना ही तर्क-हीन और विकृत हो, किन्तु उसमें ससीम के साथ असीम के सम्बन्ध की भूमिका होती है जिसके बिना कोई हल संभव नहीं है।

मैने जिस रूप मे भी इस सवाल को रक्खा, यह असीम और ससीम के बीच का सम्बन्ध उत्तर मे अवश्य प्रतिध्वनित हुआ। मुझे किस प्रकार रहना चाहिए? ईश्वरीय नियमों के अनुसार। मेरे जीवन से क्या वास्तविक परिणाम निकलेगा? अनन्त कष्ट वा अनन्त आनन्द। जीवन मे जीवन का वह कौन सा अर्थ है जिसे मृत्यु नष्ट नहीं करती?—अनन्त प्रभु के साथ सम्मिलन : स्वर्ग।

इस प्रकार उस तार्किक या बौद्धिक ज्ञान के अलावा, जिस तक मै ज्ञान की इति समझता था, अनिवार्य रूप से मुझे एक दूसरी ही बात स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि समस्त जीवित मानवता के पास एक दूसरे प्रकार का ज्ञान—अतार्किक ज्ञान—भी है जिसे श्रद्धा या निष्ठा कहते है और जो मनुष्य का जीना सम्भव करती है। अब भी यह श्रद्धा वा निष्ठा मेरे लिए उसी प्रकार अबौद्धिक या अतार्किक है जैसे वह पहले प्रतीत होती थी, पर अब मैं यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि सिर्फ इसी के ज़रिये मनुष्य-जाति को ज़िन्दगी के इस सवाल का जवाब मिल सकता है और इसलिए इसी के कारण ज़िन्दगी सम्भव है। ज्ञान ने हमें यह स्वीकार करने को विवश किया था कि जीवन अर्थहीन है। उसकी वजह से मेरी ज़िन्दगी में एक रुकावट पैदा हो गयी थी और मैं अपना अन्त कर देना चाहता था। पर इसी बीच मैंने अपने चारो तरफ फैली मनुष्य-जाति पर निगाह डाली और देखा कि लोग जीते हैं और इसका एलान भी करते हैं कि उनको जीवन का अर्थ मालूम है। मैंने अपनी तरफ़ देखा। मैंने तभी तक अपने अन्दर जीवन-प्रवाह

का अनुभव किया था जबतक मुझे जिन्दगी के किसी प्रयोजन का ज्ञान था। इस तरह न सिर्फ दूसरों के लिए, बल्कि खुद मेरे लिए भी श्रद्धा ने जीवन को सार्थक कर दिया और मेरे लिये जीना सम्भव हुआ।

जब मैंने दूसरे देशों के लोगों, मेरे समकालिकों और उनके पूर्वजों, पर ध्यान दिया तो वहाँ भी मुझे यही बात दिखाई पड़ी। जब से पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म हुआ तबसे जहाँ-कहीं भी जीवन है मनुष्य इस श्रद्धा के कारण ही जी सका है और इस श्रद्धा की प्रधान रूप-रेखा सब जगह मिलती है और सदा एक रहती है।

श्रद्धा चाहे कुछ हो, वह चाहे जो उत्तर देती हो और चाहे जिन्हे वह उत्तर दे; पर उसका प्रत्येक उत्तर मनुष्य के सीमित अस्तित्व को एक असीम तात्पर्य प्रदान करता है—वह तात्पर्य जिसका कष्ट, विपत्ति और मृत्यु से अन्त नहीं होता। इसका मतलब यह है कि सिर्फ श्रद्धा मे ही हम जीवन के लिए एक अर्थ और एक सम्भावना प्राप्त कर सकते है। तब, यह श्रद्धा क्या है? विचार करके मैंने समझा कि श्रद्धा या निष्ठा 'अदृश्य वस्तुओं का प्रमाण' मात्र नहीं है और सिर्फ दैवी प्रेरणा ही नहीं है (इससे श्रद्धा का एक निर्देश-मात्र होता है), न सिर्फ ईश्वर के साथ मनुष्य का सम्बन्ध है (पहले आदमी को श्रद्धा की और फिर ईश्वर की परिभाषा करनी पड़ती है, ईश्वर के द्वारा या उसके साधन से श्रद्धा की नहीं), यह सिर्फ उन बातों को मान लेना ही नहीं है जो बताई गई हो (यद्यपि श्रद्धा या निष्ठा का आम तौर पर यही मतलब लिया जाता है); श्रद्धा तो मानव-जीवन के प्रयोजन या तात्पर्य का वह ज्ञान है जिसके फल-स्वरूप मनुष्य अपना नाश नहीं करता; बल्कि जीता है। श्रद्धा जीवन का बल है। अगर कोई आदमी जीता है तो वह किसी-न-किसी वस्तु में श्रद्धा या विश्वास रखता है। यदि उसका विश्वास नहीं है कि किसी चीज़ के लिए उसे जीना चाहिए तो वह जी न सकेगा। यदि वह ससीम की मिथ्या प्रकृति को नहीं देख और पहचान पाता तो वह ससीम में विश्वास करता है; यदि वह ससीम की मिथ्या प्रकृति को समझ लेता है तो फिर उसके लिये असीम में विश्वास रखना जरूरी है। बिना श्रद्धा या विश्वास के तो वह जी ही नहीं सकता।

तब मैंने अपने इतने दिनों तक के सारे मानसिक श्रम का स्मरण किया और भय से कॉप उठा। अब मेरे सामने यह बात साफ हो गयी थी कि अगर आदमी को जीना है तो उसे या तो असीम की तरफ से ऑखें मूँद लेनी पड़ेंगी या फिर जीवन के प्रयोजन की ऐसी व्याख्या स्वीकार करनी पड़ेगी जिससे ससीम और असीम के बीच सम्बन्ध स्थापित हो सके। ऐसी व्याख्या पहले भी मेरे सामने थी; परन्तु जबतक मै ससीम में विश्वास रखता रहा तबतक मुझे इस व्याख्या या स्पष्टीकरण की आवश्यकता ही न थी, और मै तर्क की कसौटी पर कसकर उसकी परख करने लगा। तर्क के प्रकाश मे मेरी पहले की सम्पूर्ण व्याख्या टुकड़े-टुकड़े हो गयी। पर एक वक्त ऐसा आया कि ससीम मे से मेरा विश्वास उठ गया। तब मैं जो कुछ जानता था उसके सहारे एक बौद्धिक आधार का निर्माण करने लगा—एक ऐसी व्याख्या या स्पष्टीकरण की खोज में लगा जो जीवन को एक अर्थ, एक तात्पर्य प्रदान कर सके; लेकिन मैं कुछ भी बना न पाया। दुनिया के सर्वोच्च मस्तिष्कों की तरह मैं भी इसी नतीजे पर पहुँचा कि 'क' 'क' के बराबर है। मुझे इन नतीजे पर बड़ा ताज्जुब हुआ, यद्यपि इसके सिवा दूसरा कोई नतीजा निकल ही न सकता था।

जब मैंने प्रयोगात्मक विज्ञानो में जीवन के सवाल का जवाब ढूँढ़ना शुरू किया तब मैं कर क्या रहा था? मैं जानना चाहता था कि मैं क्यों जीता हूँ, और इसके लिए मैंने उन सब चीजो का अध्ययन किया जो मेरे बाहर हैं। इसमें शक नहीं कि मैंने बहुत सी बातें सीखीं; पर जिस चीज़ की मुझे ज़रूरत थी, वह न मिली।

जब मैंने दार्शनिक विज्ञानो मे जीवन के सवाल का जवाब ढूँढा तब मैं क्या कर रहा था? मै उन लोगों के विचारो का अध्ययन कर रहा था जिन्होंने अपने को मेरी ही स्थिति में पाया था और जो इस सवाल का— 'मैं क्यो जीता हूँ?'— कोई जवाब न पा सके थे। इस खोज में मैं उससे ज्यादा कुछ न जान सका जो मैं खुद जानता था—यानी यह बात कि कुछ भी जाना नहीं जा सकता।

मै क्या हूँ ? अनन्त का एक अंश। इन थोड़े शब्दों में सारी समस्या निहित है।

क्या यह मुमकिन है कि मानवता ने अपने तईं यह सवाल करना सिर्फ कल शुरू किया है ? क्या मुझसे पहले किसी ने इस सवाल को हल करने की कोशिश ही नहीं की—यह सवाल जो इतना सीधा है और हरएक बुद्धिमान बच्चे की ज़बान पर उठता है ?

निस्सन्देह यह सवाल उस ज़माने से पूछा जाता रहा है जब से इंसान की शुरुआत हुई। और इंसान की शुरुआत से ही इस सवाल के हल के बारे में यह बात भी उतनी ही साफ़ रही है कि ससीम से ससीम और असीम से असीम की तुलना इस काम के लिए अपर्याप्त है। इसी तरह से मनुष्य के आरंभ काल से ससीम और असीम के बीच के सम्बन्ध की खोज लोग करते रहे हैं और उसे उन्होंने व्यक्त भी किया है।

इन सब धारणाओं को जिनमें ससीम का मेल असीम के साथ बैठाया गया है और जीवन के प्रयोजन की प्राप्ति की गई है, यानी ईश्वर की धारणा, संकल्प शक्ति की धारणा, पुण्य की धारणा, हम तर्क की कसौटी पर परखते हैं। और ये सब धारणाये तर्क एवं बुद्धि की टीका व आलोचना का सामना करने में अक्षम रहती हैं।

अगर यह बात इतनी भयंकर न होती तो जिस अहंकार और आत्मतुष्टि के साथ हम बच्चों की तरह घड़ी के पुर्जे-पुर्जे अलग कर देने और स्प्रिंग या कमानी को निकाल कर उसका खिलौना बना लेने के बाद इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि घड़ी चल क्यो नहीं रही है, वह अत्यन्त असगत और भद्दी मालूम पड़ती।

ससीम और असीम के बीच की परस्पर-विपरीतता का हल, और ज़िन्दगी के सवाल का ऐसा जवाब, जो उसका जीना सम्भव कर सके, आवश्यक और बहुमूल्य है। और यही एक हल है जिसे हम हर जगह, हर वक्त और सब तरह के लोगों में पा सकते हैं : यह हल, जो मानव जीवन के आदिम युग से चला आ रहा है; यह हल, जो इतना कठिन है

कि हम इसके जैसा दूसरा कोई हल निर्माण करने में असमर्थ हैं।—और इस हल को हम वडे हलकेपन के साथ ख़त्म कर देते है, इसलिए कि फिर वही सवाल खडा कर सकें जो हरएक के लिए स्वाभाविक है और जिसका हमारे पास कोई जवाव नहीं है।

अनन्त ईश्वर, आत्मा के दैवत्व, ईश्वर से मानवीय वातो का सम्वन्ध, आत्मा के ऐक्य और अस्तित्व, नैतिक पाप-पुण्य की मानवीय धारणा—ये सव ऐसी धारणायें है जो मानवीय विचारो या चिन्तन की प्रच्छन्न असीमता में निर्मित होती हैं;—ये वे धारणायें है जिनके विना न जीवन और न मेरा अस्तित्व सम्भव है। फिर भी सम्पूर्ण मानव-जाति के उस सारे श्रम का तिरस्कार करके मैं उसे नये सिरे से और अपने मनमाने ढंग पर वनाना चाहता था।

यह ठीक है कि उस वक्त मै इस तरह सोचता नही था, पर इन विचारो के अंकुर तो मेरे अन्दर आ ही चुके थे। सव से पहले तो मैंने यह समझा कि शापनहावर और सुलेमान का साथ देने की मेरी स्थिति मूर्खतापूर्ण है हम जानते और देखते है कि जीवन वुराई है—वुरा है फिर भी ज़िन्दगी की गाडी-चलाते जाते है। यह स्पष्टत मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि अगर जीवन निरर्थक वा निष्प्रयोजन है और हम सिर्फ सार्थकता और औचित्य के भक्त है तो हमें जीवन का अन्त कर देना चाहिए; तव कोई इसे चुनौती देनेवाला न होगा। दूसरी वात मैंने यह अनुभव की कि हमारे सारे तर्क धुरी और दाँते से अलग हो जानेवाले पहिये की भाँति एक भ्रमपूर्ण वृत्त मे ही घूम रहे है। चाहे हम कितना ही और कैसी भी अच्छी तरह से तर्क करें, हमें उस सवाल का जवाव नहीं मिल सकता। वहाँ तो सदा 'क' 'क' के वरावर ही रहेगा, इसलिए सम्भवत हमारा यह मार्ग ग़लत है। तीसरी वात जो हमारी समझ में आने लगी, यह थी कि श्रद्धा एवं निष्ठा ने इस सवाल के जो उत्तर दिये हैं उनमें गम्भीरतम मानव-ज्ञान एवं विवेक सन्निहित है और यह कि मुझे तर्क के नाम पर इनको इन्कार करने का कोई अधिकार नहीं था, और वे ही ऐसे उत्तर है जो ज़िन्दगी के सवाल का जवाव दे पाते है।

: १० :

मैंने इसे समझ तो लिया, पर इससे मेरी स्थिति कुछ ज़्यादा अच्छी नहीं हुई। अब मैं ऐसे हरएक विश्वास को स्वीकार कर लेने को तैयार था जिसमें बुद्धि या तर्क का सीधा तिरस्कार न होता हो—क्योंकि वैसा होने पर तो वह असत्य हो जाता है। मैंने किताबों के सहारे बौद्ध-धर्म और इस्लाम का अध्ययन किया; सबसे ज़्यादा मैंने किताबों के जरिये और अपने इर्द-गिर्द के लोगो से ईसाई-धर्म का अध्ययन किया।

स्वभावतः पहले मैं अपनी मण्डली के कट्टरमतावलम्बियों यानी उन लोगों की तरफ़ झुका जो विद्वान् माने जाते थे। इसके साथ ही मैंने गिर्जों के धर्मशास्त्रवेत्ताओ, पादरियों तथा इवैंजेलिकलो (जो ईसा द्वारा विश्व के मुक्ति-दान के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं) की तरफ़ भी ध्यान दिया। मैंने इन आस्तिकों से उनके विश्वासों के बारे में सवाल किये और यह भी पूछा कि वे जीवन के प्रयोजन का क्या मतलब समझते है।

पर गो कि मैंने उनको हर तरह की छूट दी और हर तरह से संघर्ष या विवाद बचाने की कोशिश की फिर भी मैं इन लोगों के धर्म वा विश्वास को स्वीकार न कर सका। मैंने देखा कि वे जिन बातो में विश्वास करते हैं या जिन्हे अपना धर्म बताते है उनके सहारे जीवन का तात्पर्य स्पष्ट होने की जगह उलटा धुँधला हो जाता है। और वे खुद अपने विश्वासो से कुछ इसलिए नही चिपके हुए है कि जीवन के उस सवाल का जवाब दे सकें जिसके कारण मैं श्रद्धा वा निष्ठा तक पहुँचा, बल्कि ऐसे कुछ दूसरे ही उद्देश्यों के कारण उनको ग्रहण किये हुए है जो मेरे लिए अस्वाभाविक या प्रतिकूल हैं।

मुझे याद है कि इन लोगों के संसर्ग मे बार-बार आशान्वित होने के बाद

मुझे भय होने लगा कि कहीं मै फिर निराशा की अपनी पूर्ववर्त्ती स्थिति मे न गिर जाऊँ।

वे लोग जितना ही ज़्यादा, या जितनी ही पूर्णता के साथ, अपने सिद्धान्त मुझे समझाते, उतनी ही स्पष्टता के साथ मुझे उनकी ग़लतियाँ नज़र आतीं। मैं अनुभव करने लगा कि उनके विश्वासों में जीवन के प्रयोजन की व्याख्या की खोज करना व्यर्थ है।

यद्यपि वे अपने सिद्धान्तो या मान्यताओं मे ईसाई-धर्म के सत्यो के साथ वहुतेरी अनावश्यक और अनुचित वातें मिला देते थे, पर इसके कारण मेरे मन में उनके प्रति विरोध या खीझ नहीं पैदा होती थी। उनकी तरफ़ से मन उचटता और भागता इसलिए था कि इन लोगों की ज़िन्दगी भी मेरी ही तरह थी। फ़र्क सिर्फ़ इतना था कि वे अपनी शिक्षाओं और उपदेशों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते थे, उनका दर्शन उनके जीवन में नहीं होता था। मैंने साफ़-साफ़ अनुभव किया कि वे अपने को धोखा दे रहे हैं और मेरी तरह ही वे जीवन का इससे ज़्यादा कुछ तात्पर्य नही समझते कि जबतक ज़िन्दगी है तबतक जिओ और जो कुछ मिलता जाय लेते चलो। अगर उनको जीवन के ऐसे प्रयोजन या अर्थ का ज्ञान होता जो क्षति, दुःख और मृत्यु के भय को नष्ट कर देता है तो फिर वे इन चीज़ो से इतने डरते न होते। पर मेरी मंडली के ये आस्तिक, ठीक मेरी ही तरह, वैभव और वहुतायत के वीच रहते हुए भी इन सुविधाओं को और ज़्यादा चढाने और अपने लिए उनको सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे। वे भी विपत्ति, पीड़ा और मृत्यु के भय से पीड़ित थे और मेरी तरह या हम जैसे अन्य नास्तिकों की तरह ही वे अपनी वासनाओं एवं आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए जीते थे—वे उतनी ही वुरी तरह जीवन व्यतीत करते थे जिस तरह नास्तिक करते हैं।

कोई तर्क मुझे उनके विश्वास की सच्चाई के वारे में यकीन नही दिला सकता था। उनके आचरण या कार्य में ग़रीवी, वीमारी और मौत का वह भय न दिखाई पडता जो मेरे अन्दर मुझे दिखाई पड़ा था।

मानता कि वे जीवन का कुछ अर्थ समझते है। मुझे अपनी मंडली के आस्तिकों में ऐसा आचरण दिखाई न पड़ा, बल्कि इसके ख़िलाफ़ हमारे दायरे के उन लोगों को हमने इस तरह का कार्य और आचरण करते देखा, जो ज़बर्दस्त अविश्वासी या नास्तिक थे*; आस्तिकों में कहीं वैसा आचरण दिखाई नहीं पड़ा।

तब मैंने समझा कि मैं उस श्रद्धा की खोज नहीं कर रहा हूँ जो इन लोगो के विश्वासो मे निहित है और यह कि उनका विश्वास कोई सच्चा विश्वास नहीं है, बल्कि जीवन का एक इन्द्रियासक्त आश्वासन मात्र है।

मैंने समझ लिया कि इस तरह की श्रद्धा चाहे अनुतापयुक्त सुलेमान को उसकी मृत्युशय्या पर, यदि शान्ति नहीं तो कम-से-कम कुछ, भुलावा दे सके, पर यह मनुष्य-जाति के उन ज़्यादातर आदमियों की कोई सेवा नहीं कर सकती जिनका कर्त्तव्य दूसरों की मेहनत के ऊपर आनन्द उड़ाना नहीं, बल्कि जीवन की सृष्टि करना है।

अगर सम्पूर्ण मानवता को जीने के लिए समर्थ बनाना है और अगर हम चाहते है कि वह जीवन का एक अर्थ, एक प्रयोजन समझते हुए ज़िन्दगी को कायम रक्खे तो इसके लिए इन करोड़ो आदमियों को श्रद्धा वा विश्वास का एक दूसरा ही सच्चा ज्ञान होना चाहिए। यह बात सच्ची नहीं है कि शापनहावर और सुलेमान के साथ ही मैंने भी जो अपने जीवन का अन्त नहीं किया तो कुछ उससे मुझे श्रद्धा के अस्तित्व की जानकारी हुई; श्रद्धा के अस्तित्व का विश्वास तो मुझे यह देखकर हुआ कि वे करोड़ो आदमी जीते

---

* टाल्स्टाय का यह वाक्य बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने इस जमाने मे क्रांतिकारी या 'जनता की ओर लौटो' आन्दोलन का बहुत ही कम जगहों में ज़िक्र किया है। इस आन्दोलन में बहुतेरे युवक-युवतियों ने अपने गृह, सम्पत्ति और जीवन तक का बलिदान किया था। टाल्स्टाय और इन क्रान्तिकारियों के विचारों में समानता थी और दोनों किसी-न-किसी रुप में मानते थे कि समाज के ऊपरी तल के लोग या उच्च वर्ग परान्नभोगी या परोपजीवी है और उन लोगों का ही खून चूस रहे हैं जो उनका बोझ अपने कन्धों पर उठाये हुए हैं।

रहे हैं और जी रहे हैं और उन्होने ही अपनी जीवन-धारा पर हमारा और सुलेमान का बोझ उठा रक्खा है।

तब मैं दीन-हीन, सीधे-सादे और अशिक्षित आस्तिकों यानी तीर्थ-यात्रियो, पुरोहितो, सम्प्रदायवादियों और किसानो के नज़दीक खिचने लगा। ये मामूली आदमी भी उसी ईसाई-धर्म को मानते थे जिसको मानने का दावा हमारे दायरे के झूठे वा कृत्रिम आस्तिक लोग करते थे। इन आदमियों में भी मैंने देखा कि ईसाई सत्यो के साथ बहुतेरे अन्ध-विश्वासो को मिला दिया गया है; लेकिन दोनो में फ़र्क यह था कि हमारे दायरे के आस्तिकों के लिए तो ये अन्ध-विश्वास सर्वथा अनावश्यक थे और वे उनके जीवन से मेल न खाते थे—वे एक तरह की विषयाशक्ति के झुकाव के द्योतक थे, पर मेहनत-मजूरी करनेवाले मामूली लोगो के बीच प्रचलित अन्ध-विश्वास उनके जीवन के अनुरूप थे और उनका उनके जीवन से कुछ ऐसा मेल बैठता था कि उन अन्ध-विश्वासो के बिना उनके जीवन की कल्पना ही न की जा सकती थी—वे उनके जीवन की एक आवश्यक स्थिति—एक जरूरी शर्त थे। हमारे दायरे के आस्तिको का सारा जीवन उनके विश्वासों के प्रतिकूल था; पर मेहनत-मजूरी करनेवाले आस्तिकों की सारी ज़िन्दगी जीवन के उस अर्थ को दृढ और पुष्ट करती थी जो वे श्रद्धा से प्राप्त करते थे। इसलिए मैं इन मामूली लोगों के जीवन और विश्वास पर अच्छी तरह ध्यान देने लगा और जितना ही मैं इस पर विचार करता, उतना ही मेरा विश्वास पक्का होता जाता था कि उनके पास सच्ची श्रद्धा है—ऐसी श्रद्धा जिसकी उनको ज़रूरत है और जो उनके जीवन को सार्थक करती और उनका जीना सम्भव बनाती है। हमारे दायरे मे जहाँ श्रद्धा-रहित जीवन सम्भव है और हज़ार मे मुश्किल से एक आदमी अपने को आस्तिक कहता है, तहाँ उनमें मुश्किल से हज़ार मे एक नास्तिक मिलेगा। हमने अपने दायरे मे देखा था कि लोगों का सारा जीवन बेकारी, सुस्ती, राग-रंग और असन्तोष में बीतता है, पर इसके ख़िलाफ़ इन मामूली आदमियो मे मैंने यह देखा कि उनका जीवन घोर श्रम मे बीतता है, फिर भी वे अपनी ज़िन्दगी से सन्तुष्ट हैं। हमारे

दायरे के लोग जब अभाव या दु:ख पड़ने पर किस्मत का विरोध करते और उसे कोसते हैं तब उनके ढंग के खिलाफ़ ये लोग बग़ैर किसी परेशानी या विरोध के इस शांत एवं दृढ विश्वास के साथ बीमारी और दु:ख को स्वीकार कर लेते है कि जो होता है अच्छा ही है, या सबकुछ अच्छा है। हम में जो जितना ही चतुर और बुद्धिमान है, वह उतना ही जीवन के अर्थ वा प्रयोजन को कम समझता है और हमारे दु:ख और मृत्यु मे एक कूट व्यंग देखता है, परन्तु हमारे इस ढंग के खिलाफ़ ये मामूली आदमी जीते है और दु:ख भी भोगते है और वे मृत्यु और कष्ट को शाति एवं स्थिरता-पूर्वक, और ज़्यादातर मामलो में हँसी-खुशी के साथ, ग्रहण करते हैं। जब हमारे दायरे में शातिपूर्ण मृत्यु, भय और निराशा से रहित मृत्यु, दुर्लभ अपवाद है, तब इन लोगो में चिन्तापूर्ण, छटपटाहट से भरी हुई और दु:खपूर्ण मृत्यु बहुत ही कम देखी जाती है। और ऐसे लोगो से दुनिया भरी पड़ी है जिनके पास उन सब वस्तुओ का सर्वथा अभाव है जो हमारे लिए या सुलेमान के लिए जीवन की विभूति है, फिर भी जो ऊँचे-से-ऊँचे आनन्द का अनुभव करते है। मैंने अपने इर्द-गिर्द और दूर तक देखा। मैने गुजरे हुए ज़माने के और आजकल के असंख्य लोक-समुदाय पर ध्यान दिया। इनमें जीवन का अर्थ समझने वाले और जीने एवं मरने में समर्थ एक-दो या दस-बीस नही, बल्कि सैकडो, हजारो और लाखो मनुष्य मुझे दिखाई पड़े। और यद्यपि उनमें भिन्न-भिन्न रंग-ढंग, आचार-व्यवहार, मन, शिक्षा और स्थिति के आदमी थे फिर भी मेरे अज्ञान के सर्वथा प्रतिकूल वे सब जीवन और मृत्यु का अर्थ समझते थे तथा अभाव एवं दु:ख-कष्ट को सहते हुए शातिपूर्वक काम करते, जीते तथा मरते थे—उनको इनमें मिथ्याहंकार नही, बल्कि कुछ अच्छाई दिखाई देती थी।

मैंने इन आदमियों से प्रेम करना सीखा। जितनी ही मुझे उन लोगो के जीवन की जानकारी होती गई—उन लोगो के जीवन की जो जी रहे है तथा उनकी भी जो मर चुके हैं, पर उनके बारे में मैंने पढ़कर या सुनकर जानकारी हासिल की है—उतना ही उनके लिए मेरा प्रेम बढता गया

और मेरे लिए जीना आसान होता गया। लगभग दो वर्षों तक मेरी यह हालत रही और इस बीच मेरे अन्दर एक जबर्दस्त परिवर्तन हो गया—वह परिवर्तन जो बहुत दिनों से धीरे-धीरे घनीभूत हो रहा था और जिसकी आशा सदा मुझमें बनी रही थी। इसका नतीजा यह हुआ कि अपने दायरे के लोगों यानी धनवान और विद्वान् आदमियों की ज़िन्दगी न सिर्फ मेरे नज़दीक फीकी और बेस्वाद हो गयी; बल्कि मेरी नजरों में उसकी कोई कीमत ही न रह गयी। हमारा सम्पूर्ण आचरण, वाद-विवाद, कला और विज्ञान हमारे सामने एक नई रोशनी में आया। मैंने समझ लिया कि यह सब आत्म-असंयम मात्र है और उनमें कुछ अर्थ ढूंढ़ लेना असम्भव है; इसके प्रतिकूल श्रम करने वाले सब लोगों का, जो जीवन का निर्माण करते है, जीवन मुझे सच्चे अर्थ से भरा दिखायी पड़ा। मैंने समझा कि यही जीवन है और इस जीवन से प्राप्त होने वाला अर्थ ही सच्चा है : और मैंने इसे स्वीकार कर लिया।

: ११ :

मुझे याद आया कि जब मैं उन आदमियों को इन विश्वासों की घोषणा करते देखता था जिनके जीवन और आचरण में उनका विरोध होता था तो इन्हीं विश्वासों के प्रति मेरे हृदय में विरक्ति पैदा होती थी और वे मुझे निस्सार प्रतीत होते थे, पर जब मैंने उन लोगों को देखा जो इन विश्वासों के अनुकूल जीवन व्यतीत करते थे तब उन्हीं विश्वासों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया और वे मुझे ठीक मालूम पड़ने लगे। इन बातों की याद आने पर मैंने समझा कि क्यों तब मैंने इन विश्वासों को अस्वीकार कर दिया था और उन्हें निरर्थक पाया था, और क्यों अब उन्हीं को स्वीकार करता हूँ और उन्हें अर्थ एवं प्रयोजन से पूर्ण पाता हूँ। मैं समझ गया कि मैंने ग़लती की थी और क्यों ग़लती की थी। इस ग़लती का कारण मेरा ग़लत तरीके पर सोचना उतना न था जितना मेरा ग़लत तरीके पर जीवन व्यतीत करना था। मैंने समझ लिया कि मेरे किसी विचार-दोष ने सत्य को मुझसे छिपा नहीं रक्खा था; बल्कि आकांक्षाओं और वासनाओं की तृप्ति के प्रयत्न में बीतने वाले मेरे विषयासक्त जीवन ने ही इस सत्य को मेरी आँखों की ओट कर रक्खा था। अब यह भी मेरी समझ में आ गया कि मेरा सवाल कि 'मेरा जीवन क्या है' और उसका जवाब—'वह एक बुराई है'—बिल्कुल ठीक था। ग़लती सिर्फ़ इतनी थी कि यह जवाब सिर्फ़ मेरी ज़िन्दगी की ओर संकेत करता था, पर मैं इसे सब लोगों के सामान्य-जीवन पर घटाता था। अब मैंने फिर अपने तईं सवाल किया कि मेरा जीवन क्या है और मुझे जवाब मिला एक बुराई और असंगति। और सचमुच मेरा जीवन—भोग-विलास और आकांक्षाओं का जीवन—बुरा और निरर्थक था, इसलिए वह उत्तर—'जीवन एक बुराई और असंगति है'—सिर्फ़ मेरे जीवन की ओर संकेत करता

था, न कि सामान्य मानव जीवन की ओर। तब मैंने उस सत्य को समझा, जिसे बाद में 'गास्पेल' या महात्मा ईसा के सदुपदेशों में पाया, कि 'मनुष्य प्रकाश की अपेक्षा अंधकार को ज़्यादा प्रेम करते हैं; क्योंकि उनके आचरण पाप-पूर्ण है। ग़लती या पाप करने वाला प्रत्येक आदमी प्रकाश से घृणा करता है और इसलिए प्रकाश के समीप नहीं जाता कि उसके आचरणों और कामों का तिरस्कार किया जायगा।' मैंने यह भी अनुभव किया कि जीवन के अर्थ को समझने के लिए पहले तो यह ज़रूरी है कि हमारी ज़िन्दगी बुराई से भरी और निरर्थक न हो; और फिर उसकी व्याख्या करने के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ती है। तब मेरी समझ में आया कि क्यों इतने लम्बे अर्से तक मैं ऐसे स्पष्ट सत्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहा और यह भी कि अगर किसी को मानव-जाति के जीवन के विषय में सोचना और बोलना हो तो उसे उसी जीवन के बारे मे सोचना और बोलना चाहिए, न कि उन लोगों के जीवन के विषय मे जो पंगु और परोपजीवी जीवन बिताते है। यह सत्य तो सदा उतना ही सच्चा था जितना दो और दो मिलकर चार होते है। पर मैंने इसे स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि दो-दो चार मान लेने पर मुझे यह भी मानना पड़ता कि मैं बुरा हूँ, और मेरे लिए यह अनुभव करना कि मैं अच्छा-भला हूँ, दो-दो बराबर चार के स्वीकार करने से कहीं ज़्यादा ज़रूरी और महत्त्वपूर्ण था। यह ज्ञान होने पर मै अच्छे-भले आदमियो के प्रति आकर्षित हुआ, उनको प्यार करने लगा, अपने प्रति मेरे मन में घृणा पैदा हुई और मैंने सत्य को स्वीकार किया। अब सब बातें मेरे सामने स्पष्ट हो गयीं।

अगर एक जल्लाद जिसकी सारी ज़िन्दगी लोगो को दारुण-यंत्रणा देने और उनका सिर काटने मे बीती हो,—या एक शराबी या पागल जो एक ऐसे ऑंधेरे कमरे मे ज़िन्दगीभर रहा हो जिसे उसने अपवित्र कर रक्खा है और जो सोचता हो कि इसे छोड़कर बाहर निकलते ही वह नष्ट हो जायगा—अपने तई सवाल करे कि 'जीवन क्या है?' तो वह इसके सिवा और क्या जवाब पा सकता है कि जीवन सबसे बड़ी

बुराई है। इस पागल का जवाब बिल्कुल ठीक होगा, पर वहीं तक जहाँ-तक यह ख़ुद उस पर लागू होता है। अगर कहीं मैं भी ऐसा ही एक पागल होऊँ? और कहीं हम सब धनवान और निठल्ले आदमी इसी तरह पागल हों तब? मैंने अनुभव किया कि हम सब सचमुच ऐसे ही पागल है। कम-से-कम मै तो ज़रूर ऐसा था।

चिड़िया का निर्माण ही इस तरह का होता है कि वह ज़रूरी तौर पर उड़े, चारा इकट्ठा करे और अपना घोंसला बनाए और जब मै किसी चिड़िया को ऐसा करते देखता हूँ तो उसके आनन्द से मुझे भी खुशी होती है। बकरी, ख़रगोश और भेड़िए भी इस तरह बनाये गये है कि वे अपने लिए भोजन जुटायें, बच्चे पैदा करें और कुटुम्ब को खिलायें, उनका पालन-पोषण करें और जब वे ऐसा करते हैं तब मुझे दृढ़ विश्वास होता है कि वे सुखी है और उनका जीवन ठीक तौर से बीत रहा है। फिर आदमी को क्या करना चाहिए? उसे भी जानवरो की तरह अपनी जीविका उपार्जन करना चाहिए। दोनों में सिर्फ़ एक फ़र्क है कि अगर आदमी यह काम इकले करेगा तो मिट जायगा; उसे जीविका न सिर्फ़ अपने लिए, बल्कि सबके लिए प्राप्त करनी चाहिए। और जब वह ऐसा करता है तब मुझे पक्का विश्वास हो जाता है कि वह सुखी है और उसकी ज़िन्दगी ठीक तौर पर बीत रही है। पर मैंने अपने ज़िम्मेदारी से भरे जीवन के सारे तीस वर्षों में क्या किया? सब के लिए जीविका उपार्जन करना तो दूर, मैंने कभी अपने लिए भी खाद्य-सामग्री पैदा न की। मैं एक परान्नजीवी की तरह जीता रहा और अपने तई सवाल करता रहा कि मेरे जीवन का प्रयोजन क्या है? मुझे उत्तर मिला · 'कोई प्रयोजन नहीं।' अगर मानव-जीवन का अर्थ उसे पुष्ट करने में है तो फिर मैं—जो तीस साल तक जीवन का समर्थन और पुष्टि करने में नहीं, बल्कि अपने अन्दर और दूसरों के अन्दर उसका विनाश करने में लगा रहा—इसके सिवा और कोई जवाब कैसे हासिल कर सकता था कि मेरा जीवन निरर्थक और दूषित है?...निस्सन्देह वह निरर्थक और दूषित दोनों था।

विश्व का जीवन किसी के संकल्प से चल रहा है—सारे विश्व के जीवन और हमारे जीवन से कोई अपना तात्पर्य सिद्ध करता है। उस संकल्प-शक्ति का अर्थ समझने की आशा करने के लिए पहले हमसे जिस कार्य की उम्मीद की जाती है, उसे करना चाहिए। लेकिन यदि मैं वह न करूँ जिसकी उम्मीद मुझसे की जाती है तो मैं कभी समझ न सकूँगा कि मुझसे क्या करने की उम्मीद की जाती है और यह समझना तो और मुश्किल होगा कि हम सब लोगों से और सारे विश्व से क्या करने की आशा की जाती है।

अगर एक नंगे भिखारी को सड़क से पकड़कर सुन्दर भवन में ले जाकर रक्खा जाय, उसे अच्छी तरह खिलाया-पिलाया जाय और उसे ऊपर-नीचे एक हैंडिल घुमाने का काम दिया जाय तो प्रकट है कि इस बात पर बहस करने के पहले कि क्यों उसे सड़क से वहाँ लाया गया और क्यों उसे हैंडिल घुमाना चाहिए और यह कि क्या वहाँ का सारा काम सुव्यवस्थित है, मतलब और सब बातों के पहले उसे हैंडिल घुमाना चाहिए। अगर वह हैंडिल को घुमायेगा तो उसे खुद पता लग जायगा कि इससे एक पम्प चलाया जाता है और पम्प के ज़रिये पानी निकलता है और उस पानी से बाग़ की क्यारियों की सिंचाई होती है। तब वह पम्पिंग स्टेशन से दूसरी जगह ले जाया जायगा, जहाँ वह फल चुन कर इकट्ठे करेगा और अपने मालिक के आनन्द मे साझीदार होगा,—इस तरह धीरे-धीरे तरक्की करते हुए और छोटे पदों से बड़े पदों की ओर बढ़ते हुए वह दिन-दिन वहाँ की व्यवस्था की ज़्यादा जानकारी प्राप्त करता जायगा और इस तरह जब वह खुद वहाँ के काम में हिस्सा लेने लगेगा तो उसके मन में यह प्रश्न करने का ख़याल ही न उठेगा कि वह क्यों वहाँ है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि तब वह मालिक की बुराई न करेगा।

इसी तरह जो लोग उसकी इच्छा का पालन करते है यानी सीधे-सादे, अशिक्षित श्रमिक, जिन्हे हम जानवर समझते है, मालिक की बुराई नहीं करते, लेकिन हम बुद्धिमान लोग मालिक का दिया भोजन तो कर लेते है लेकिन मालिक जो चाहता है उसे नहीं करते,—करना तो दूर रहा उलटे एक

गोल में बैठ कर बहस करते हैं : 'क्यों हमें उस हैंडिल को चलाना चाहिए ? क्या यह वाहियात नहीं है ?' और निर्णय करते हैं। हम निर्णय करते हैं कि मालिक मूर्ख है, या उसका अस्तित्व ही नहीं है, और हम बुद्धिमान हैं, पर सिर्फ यह अनुभव कर पाते हैं कि हम बिल्कुल निरर्थक है और हमें किसी तरह अपने से पिंड छुड़ाना चाहिए।

: १२ :

तार्किक ज्ञान के भ्रम की चेतना ने मुझे फालतू मुक्ति, तर्क वा विवाद के प्रलोभन से छुडाने मे सहायता की। यह विश्वास कि सत्य का ज्ञान तदनुकूल आचरण से ही हो सकता है, मुझे अपनी जीवन-विधि के औचित्य और सच्चाई मे सन्देह पैदा करने का कारण हुआ; लेकिन मेरी रक्षा केवल इस कारण सम्भव हुई कि मै अपने अलग-अलग रहने और अपने को एक विशिष्टवर्ग का मान लेने के भाव को छोड सका और देहात के लोगो, मेहनत-मजूरी करने वालो के वास्तविक जीवन को देख सका तथा यह समझ सका कि केवल यही सच्चा जीवन है। मैंने समझ लिया कि यदि मैं जीवन और उसके अर्थ वा प्रयोजन को समझना चाहूँ तो मुझे परान्नजीवी की नहीं, वल्कि सच्ची ज़िन्दगी वितानी चाहिए और सच्ची मानवता ने जीवन को जो अर्थ प्रदान किया है उसे ग्रहण करना और अपने को उस जीवन में निमग्न करके उसको पहचानना चाहिए।

उस ज़माने में मेरे ऊपर जो गुज़री उसकी दास्तान यों है। पूरे साल भर तक, जब प्रतिक्षण मेरे मन मे यह प्रश्न उठता था कि क्यों न मै गोली या फॉसी की रस्सी से सारे झगडे का खा़त्मा कर दूँ, तभी उन विचार-धाराओ के साथ-साथ, जिनके वारे में मै ऊपर जिक्र कर चुका हूँ, मेरा हृदय एक वेदनामयी अनुभूति से दव रहा था। इसे मै ईश्वर की खोज के सिवा और कुछ कहने में असमर्थ हूँ।

मै कहना चाहता हूँ कि ईश्वर की इस खोज में तर्क नही, अनुभूति थी; क्योकि यह खोज मेरे विचार-प्रवाह से नहा पैदा हुई थी, (उसमें उसका प्रत्यक्ष विरोध भी था) वल्कि हृदय से उद्भूत हुई थी। यह किसी अज्ञात प्रदेश में अनाथ और इकले पडजाने और किसी से सहायता पाने की आशा की भावना थी।

केवल दो या तीन वार नहीं, वल्कि सैकड़ों वार मेरी यही दशा हुई, पहले आनन्द एवं उल्लास और फिर जीवन की असंभवनीयता की चेतना और निराशा।

मुझे याद है, वसन्त की शुरूआत के दिन थे। मै वन में अकेला चुपचाप वैठा उसकी ध्वनि सुन रहा था। जैसा कि मैने वरावर पिछले तीन वर्षों में किया था, उसी विषय पर मैं ध्यान लगाकर सोच रहा था। मैं पुन' ईश्वर की खोज में था।

मैने झुंझलाकर अपने से कहा—'अच्छा, मान लो कोई ईश्वर नहीं है। कोई ऐसा नहीं है जो मेरी कल्पना के वाहर की वस्तु हो और मेरे सारे जीवन की तरह वास्तविक हो। उसका अस्तित्व नहीं है और कोई चमत्कार उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकते, क्योंकि चमत्कार तो मेरी ही कल्पना के अन्तर्गत हैं, फिर वे वुद्धि-ग्राह्य भी नहीं हैं।

'लेकिन जिस ईश्वर की मै खोज करता हूँ उसके प्रति मेरा यह अन्तर्वोध, मेरी यह अन्तर्धारणा? यह अन्तर्वोध कहाँ से आया?' वस यह सोचते ही, फिर मेरा अन्तर जीवन की आनन्दमयी लहरों से भर गया। मेरे चतुर्दिक जो कुछ था सव जीवन से पूर्ण और सार्थक हो उठा। लेकिन मेरा यह आनन्द अधिक समय तक स्थिर न रह सका। मेरा मन फिर अपनी उधेड़-वुन में लग गया।

मैने अपने मनमें कहा—'ईश्वर की धारणा तो ईश्वर नहीं है। धारणा तो वह चीज़ है जो मेरे ही अन्दर जन्म लेती है। ईश्वर की धारणा तो एक ऐसी चीज़ है जिसे हम अपने अन्दर वना सकते या वनने से रोक सकते हैं। यह तो वह चीज़ नहीं है जिसकी खोज में मै हूँ। मैं तो उस चीज़ की खोज कर रहा हूँ जिसके विना जीवन सम्भव ही न हो।' वस फिर मेरे वाहर-भीतर जो कुछ था मानो सव निर्जीव होने लगा, और फिर मेरे मनमें अपने को ख़त्म कर देने की इच्छा पैदा हुई।

किन्तु तव मैने अपनी नज़र अपने पर, और मेरे अन्दर जो कुछ चल रहा था उसपर, डाली, और जीवन की गति के वन्द होने और फिर प्रफुल्लता और स्फूर्ति का प्रवाह जारी होने की उन क्रियाओ का स्मरण किया

जो मेरे अन्दर सैकड़ो वार घटित हो चुकी थी। मुझे याद आया कि मुझमें सिर्फ़ तभी तव जीवन की अनुभूति हुई जव-जव मैने ईश्वर में विश्वास रक्खा। जो वात पहले थी, वही अव भी है; जीने के लिए मुझे सिर्फ़ ईश्वर के अस्तित्व के निश्चय की ज़रूरत है; और ज्योंही मै उसे भूलता हूँ या उसमे अविश्वास करता हूँ त्योंही मेरी मृत्यु निश्चित है।

तव स्फूर्ति और मृत्यु के ये अनुभव क्या है? जव ईश्वर के अस्तित्व मे मेरे विश्वास का लोप हो जाता है तव मानो मेरी जीवन-शक्ति का अन्त हो जाता है, तव मैं अपने को जीता हुआ नहीं अनुभव करता। अगर मेरे अन्दर उसे पाने की एक धुँधली-सी आशा न होती तो अवतक कभी का मैं अपनी हत्या कर चुका होता। अपने को सचमुच जीता हुआ तो मै तभी तक अनुभव करता हूँ जव तक मुझे 'उसकी' अनुभूति होती रहती है और मुझे उसकी खोज रहती है। 'तुम और क्या खोजते हो?' मेरे अन्दर एक आवाज़ हुई। 'यही वह है। वह है जिसके विना कोई जी नही सकता। ईश्वर को जानना और जीवित रहना एक ही वात है। ईश्वर ही जीवन है।'

'ईश्वर की खोज करते हुए जीओ, तव तुम्हारा जीवन ईश्वरहीन न होगा।' तव मेरे अन्दर और वाहर जो कुछ था वह सव प्रकाश से पूर्ण हो उठा और उस प्रकाश ने फिर मुझे परित्याग नही किया।

इस तरह मै आत्म-हत्या से वच गया। यह मैं नही कह सकता कि कव और कैसे यह परिवर्तन हुआ। जैसे धीरे-धीरे मेरे अन्दर की जीवन-शक्ति नष्ट हो गई थी और मेरे लिए जीना असम्भव हो उठा था, जीवन की गति वन्द हो गई थी और मुझे आत्म-हत्या करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसी तरह धीरे-धीरे मेरे अन्दर जीवन-शक्ति का प्रत्यागमन हुआ। और यह एक आश्चर्यजनक वात है कि जीवन की जो शक्ति मेरे अन्दर लौटी वह कोई नई नही थी, वल्कि वही पुरानी शक्ति थी जिसने मेरे जीवन के प्रारम्भिक दिनो में मेरा भारवहन किया था।

मै पुन उसी अवस्था मे पहुँच गया जो वचपन और किशोरावस्था

के प्रारम्भिक दिनों में थी। पुनः मेरे हृदय में उस संल्कप-शक्ति* के अन्दर विश्वास हुआ जिसने मुझे उत्पन्न किया और जो मुझसे कुछ आशा रखती है। मैं पुनः इस विश्वास पर पहुँचा कि मेरे जीवन का प्रधान और एक-मात्र उद्देश्य पहले से अधिक अच्छा होना अर्थात् उस संकल्प-शक्ति के अनुसार जीवन-व्यतीत करना है। मैं इस विश्वास पर पहुँचा कि मानव-जाति ने अपने पथ-प्रदर्शन के लिए जो कुछ उत्पन्न किया है उसमें ही मैं उस संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति को प्राप्त कर सकता हूँ और जो सुदूर अतीतकाल में मेरी आँखों की ओट रही है। मतलव यह कि मैं ईश्वर मे, नैतिकपूर्णता में और जीवन के प्रयोजन की परम्परा में विश्वास करने लगा। दोनों अवस्थाओ में अन्तर इतना ही था कि उस समय ये सव वातें विना ज्ञान के स्वीकार किये हुए था, किन्तु अव मैं जान गया था कि इसके विना मेरा जीवन ही असम्भव है।

मुझ पर जो वीती वह कुछ इस तरह की बात थी : मै एक नाव में (मुझे याद नही है कव) चढ़ा दिया गया और किसी अज्ञात किनारे से धक्का देकर नदी की ओर वढ़ा दिया गया। मुझे दूसरे किनारे की तरफ इशारा करके गन्तव्य स्थान का एक धुँधला-सा आभास दे दिया गया और मेरे अनभ्यस्त हाथों में डाँड पकड़ा देने के वाद लोगों ने मुझे अकेले छोड़ दिया। मैने अपनी शक्ति-भर खेकर नाव को आगे वढ़ाया, लेकिन ज्यों-ज्यो मै मध्यधारा की ओर वढ़ा त्यों-त्यों प्रवाह तीव्र होता गया और वह वार-वार मुझे मेरे लक्ष्य से दूर वहा ले जाने लगा। अपनी तरह मैंने और भी वहुत से लोगों को धारा में वह जाते देखा। कुछ ऐसे नाविक थे जो वरावर खेते भी जा रहे थे; दूसरे कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपनी पतवार डाल दी थी। वहाँ मैंने आदमियो से भरी हुई अनेक वड़ी-वड़ी नावें देखीं। कुछ धारा से संघर्ष करती थीं; कुछ ने उसके आगे आत्म-समर्पण कर दिया था। जितना ही आगे मै वढ़ता गया उतना ही मेरा ध्यान अपनी

* टाल्सटाय ने 'ईश्वरेच्छा' के अर्थ में इस शव्द का प्रयोग किया है।

दिशा भूलकर धारा की ओर बहे जाते हुए लोगो की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया और उतना ही मै अपना मार्ग और लक्ष्य, जिधर जाने का संकेत मुझे किया गया था, भूलता गया। ठीक मध्य-धारा में, जहाजो और नावों की भीड़ मे, जिन्हे धारा बहाये लिए जा रही थी, मै अपनी दिशा बिल्कुल भूल गया और मैंने भी अपनी पतवार डाल दी। मेरे चारो तरफ़ हँसते और उल्लास मनाते हुए वे सब लोग जो धारा के साथ बहे जा रहे थे; वे सब लोग मुझे तथा परस्पर यह विश्वास दिला रहे थे कि और किसी दिशा में जाना संभव नही है। मैने उनका विश्वास कर लिया और उनके साथ बहने लगा। मै बहुत दूर तक बहता हुआ चला गया इतनी दूर तक कि मुझे नदी की तीव्र धाराओ के गिरने का जोरदार शब्द सुनाई पड़ने लगा; मैने समझ लिया कि अब मेरा नाश निश्चित है। मैने उस प्रपात में नावो को टुकड़े-टुकड़े होते देखा। मैंने अपना होश-हवास दुरुस्त करने की चेष्टा की। एक अर्से से मै यह समझने में असमर्थ था कि मेरे साथ क्या घटनायें हुई है। मुझे अपने सामने सिवाय उस विनाश के और कुछ दिखलाई न देता था, जिसकी ओर मैं तेज़ी से बहता चला जा रहा था और जिसका भय मेरे प्राणो मे समा गया था। मुझे कही रक्षा का कोई स्थान दिखाई न पड़ता था, और मै नही जानता था कि मुझे क्या करना चाहिए; किन्तु जब मैने पीछे की ओर दृष्टि फेरी तो यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गया कि असंख्य नौकायें श्रमपूर्वक लगातार धारा को काट कर बढ़ रही है और तब मुझे किनारे का, डाडों का और अपनी दिशा का स्मरण आया और मैने पीछे लौटकर और धारा को चीर कर तट की ओर बढने में अपनी शक्ति लगाई।

यह तट ईश्वर था, दिशा परम्परा थी, और तट की ओर बढ़ने तथा ईश्वर से मिलने की जो स्वतन्त्रता मुझे दी गई थी, वही पतवार थी। इस प्रकार जीवन की शक्ति पुन मेरे अन्दर जाग्रत हुई और पुन मैंने जीना शुरू किया।

मुझे ईश्वर से मिला है, वैसे ही मेरा विवेक और जीवन का मेरा ज्ञान भी मुझे ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। इसलिए जीवन के उस ज्ञान या जानकारी के विकास की विभिन्न अवस्थायें वा श्रेणियाँ झूठी नहीं हो सकती। जिन सब बातो में सर्वसाधारण का सच्चा विश्वास है वे अवश्य सत्य होंगी; उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न तरह से हुई हों, पर वे असत्य नहीं हो सकती। इसलिए अगर वे मेरे सामने असत्य के रूप में आती है तो इसका सिर्फ़ यही मतलब है कि मैं उनको समझ नहीं पाया हूँ। मैंने अपने से यह भी कहा कि हरएक धर्म वा धर्म-निष्ठा का तत्त्व जीवन को ऐसा अर्थ प्रदान करना है जिसे मृत्यु नष्ट नहीं कर सकती। धर्म-निष्ठा द्वारा विलासिता में मरते हुए राजा, शक्ति से अधिक श्रम करने के कारण पीड़ित वृद्ध दास, बुद्धि-हीन बच्चे, ज्ञानवान वृद्ध, खर-दिमाग़ बुढ़िया, तरुण-सुखी पत्नी, वासनाओं से सन्तप्त नौजवान, मतलब हर तरह की शिक्षा और जीवन मर्यादा के आदमियो के सवालो का जवाब दिया जा सके, इसके लिए यह समझ लेना ज़रूरी है कि यद्यपि जीवन के इस नित्य प्रश्न—कि 'मै क्यो जीता हूँ और मेरे जीवन से क्या नतीजा निकलेगा ?'—का एकही उत्तर है यानी वह उत्तर तत्त्वतः एक है, परन्तु उसके रूप अनेक होने ही चाहिएँ, और वह जितना ही एक, सच्चा और गहरा होगा, प्रयत्न-पूर्वक की जाने वाली उसकी अभिव्यक्ति में उतनी ही विचित्रतायें एवं विकृतियाँ दिखाई पड़ेंगी। ये विचित्रतायें और विकृतियाँ प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षण और मर्यादा के अनुकूल होगी। परन्तु इस तर्क ने यद्यपि धर्म के कर्मकाण्ड पक्ष की अनेक असंगतियो को मेरी आँखो के सामने उचित सिद्ध करके पेश किया, फिर भी वह इतना काफ़ी नहीं था कि जीवन के इस महान् मामले—धर्म—में ऐसी बातें करने की आज्ञा देता जो मुझे आपत्तिजनक प्रतीत होती थी। अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण के साथ मैं ऐसी स्थिति में पहुँचने की कामना करता था जिसमें सर्वसाधारण के साथ हिलमिल सकूँ और उनके धर्म के कर्मकाण्ड पक्ष का पालन एवं आचरण कर सकूँ; लेकिन मै वैसा कर नहीं सका। मुझे अनुभव होता था कि अगर मै ऐसा करता हूँ तो मानो अपने से ही झूठ बोलता हूँ और जो कुछ मेरे

निकट पवित्र है, उसका उपहास करता हूँ। जब मै इस उधेड़बुन में पड़ा हुआ था तब नूतन रूसी धार्मिक लेखकों ने मुझे इस संकट से बचाया।

इन धर्मवेत्ताओ ने जो व्याख्या की वह यों थी कि 'हमारे धर्म का मुख्य सिद्धान्त चर्च (ईसाई मंदिर–संस्था) की निर्भ्रान्तता का सिद्धान्त है यदि हम इस सिद्धान्त को मान लेते है तो इससे अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि चर्च जो कुछ मानता है वह सब सत्य है। बस, प्रेम द्वारा ग्रथित सच्चे आस्तिको के एक समुदाय के रूप में और प्रेम द्वारा ग्रथित होने के कारण सत्य-ज्ञान के स्वामी या ज्ञाता के रूप मे चर्च को मैने अपने विश्वास वा निष्ठा का आधार वना लिया। मैने अपने तईं कहा कि एक अलग व्यक्ति को दैवी वा ईश्वरीय सत्य प्राप्त नही हो सकता; वह सत्य केवल प्रेम द्वारा जुड़े हुए लोगो के सम्पूर्ण समुदाय में के सामने ही प्रकट हो सकता है। सत्य को पाने के लिए जुदा नही होना चाहिए और जुदा न होने के लिए यह ज़रूरी है कि आदमी प्यार करे और उन सब बातों को सहन करे जिनको वह नही मानता है। सत्य प्रेम के सामने अपने को प्रकट करता है और अगर तुम चर्च या ईसाई धर्मसंस्था के आचारों के सामने सिर नही झुकाते तो तुम प्रेम का उल्लंघन या तिरस्कार करते हो; और प्रेम का उल्लंघन करने के कारण तुम अपने को सत्य पहचानने और पाने की संभावना से वंचित करते हो।'

इस तर्क में जो हेत्वाभास या वाक्छल था उसे उस समय मैं देख न सका। मै नहीं समझ सका कि प्रेम के संग्रथन से यद्यपि परमोच्च प्रेम की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु वह ईश्वरीय सत्य को देने में असमर्थ है। मै यह भी नहीं देख सका कि प्रेम कभी सत्य की किसी खास अभिव्यक्ति को संग्रथन या सम्मिलन की आवश्यक शर्त के रूप में नही रख सकता। मेरे तर्क मे जो दोप थे उन्हे उस समय मैंने नही देखा, इसलिए कट्टर धर्म-संस्था के सम्पूर्ण आचारों को मानकर मै उन्हे कार्यान्वित करने लगा—यद्यपि उनमे से अधिकाश का अर्थ मेरी समझ मे न आया था। उस समय मैंने अपने सम्पूर्ण अन्त करण के साथ सब तरह के तर्कों और विरोधों से वचने की कोशिश की और चर्च के जो वक्तव्य या वयान मेरे सामने आये उन्हे, जहाँ

मुझे ईश्वर से मिला है, वैसे ही मेरा विवेक और जीवन का मेरा ज्ञान भी मुझे ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। इसलिए जीवन के उस ज्ञान या जानकारी के विकास की विभिन्न अवस्थायें वा श्रेणियाँ झूठी नहीं हो सकतीं। जिन सब बातों मे सर्वसाधारण का सच्चा विश्वास है वे अवश्य सत्य होंगी; उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न तरह से हुई हों, पर वे असत्य नहीं हो सकतीं। इसलिए अगर वे मेरे सामने असत्य के रूप में आती है तो इसका सिर्फ़ यही मतलब है कि मैं उनको समझ नही पाया हूँ। मैंने अपने से यह भी कहा कि हरएक धर्म वा धर्म-निष्ठा का तत्त्व जीवन को ऐसा अर्थ प्रदान करना है जिसे मृत्यु नष्ट नही कर सकती। धर्म-निष्ठा द्वारा विलासिता मे मरते हुए राजा, शक्ति से अधिक श्रम करने के कारण पीड़ित वृद्ध दास, बुद्धि-हीन बच्चे, ज्ञानवान वृद्ध, ख़र-दिमाग़ बुढ़िया, तरुण-सुखी पत्नी, वासनाओं से सन्तप्त नौजवान, मतलब हर तरह की शिक्षा और जीवन मर्यादा के आदमियो के सवालो का जवाब दिया जा सके, इसके लिए यह समझ लेना ज़रूरी है कि यद्यपि जीवन के इस नित्य प्रश्न—कि 'मैं क्यो जीता हूँ और मेरे जीवन से क्या नतीजा निकलेगा ?'—का एकही उत्तर है यानी वह उत्तर तत्त्वत. एक है, परन्तु उसके रूप अनेक होने ही चाहिएँ; और वह जितना ही एक, सच्चा और गहरा होगा, प्रयत्न-पूर्वक की जाने वाली उसकी अभिव्यक्ति में उतनी ही विचित्रतायें एवं विकृतियाँ दिखाई पड़ेंगी। ये विचित्रतायें और विकृतियाँ प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षण और मर्यादा के अनुकूल होंगी। परन्तु इस तर्क ने यद्यपि धर्म के कर्मकाण्ड पक्ष की अनेक असंगतियो को मेरी आँखों के सामने उचित सिद्ध करके पेश किया, फिर भी वह इतना काफ़ी नहीं था कि जीवन के इस महान् मामले—धर्म—में ऐसी बातें करने की आज्ञा देता जो मुझे आपत्तिजनक प्रतीत होती थीं। अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण के साथ मैं ऐसी स्थिति में पहुँचने की कामना करता था जिसमें सर्वसाधारण के साथ हिलमिल सकूँ और उनके धर्म के कर्मकाण्ड पक्ष का पालन एवं आचरण कर सकूँ; लेकिन मै वैसा कर नहीं सका। मुझे अनुभव होता था कि अगर मै ऐसा करता हूँ तो मानो अपने से ही झूठ बोलता हूँ और जो कुछ मेरे

तक मुझसे हो सका, उचित समझने और सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ईसाई-धर्म-संस्था (चर्च) के आचारों और विधियों का पालन करते हुए मैंने अपनी बुद्धि वा तर्क-शक्ति को दबा दिया और उस परम्परा के आगे सिर झुका दिया जो सम्पूर्ण मानव-जाति में पाई जाती है। मैंने अपने को अपने पूर्वजों यानी पिता, माता और दादा-दादी वगैरा के साथ—जिन्हें मैं प्रेम करता था—मिला दिया। उन्होने तथा मेरे सारे पूर्वजों ने इसी प्रकार चर्च में विश्वास रखते हुए ज़िन्दगी गुज़ारी थी और उन्होंने ही मुझे उत्पन्न किया था। मैंने उन लाखों-करोड़ों सामान्य लोगों के साथ भी अपने को मिला लिया जिनकी मै इज़्जत करता था। फिर इन आचारो के पालन मे कोई 'बुराई' तो थी नही। (मै अपनी वासनाओं के प्रति आसक्ति को ही 'बुराई' मानता था)। गिर्जे की उपासनाओं में शामिल होने के लिए जब मैं सुबह जल्दी उठता था तो समझता था कि मैं कोई अच्छा ही काम कर रहा हूँ क्योंकि अपने पूर्वजों और समकालिको के साथ ऐक्य स्थापित करने और जीवन का अर्थ प्राप्त करने के लिए, मैं अपने मानसिक अहंकार का त्याग करते हुए अपने शारीरिक सुखो को छोड़ रहा हूँ। इसी तरह घुटने मोड़कर प्रार्थना कहने, व्रत-उपवास करने, ईसा के स्मरणार्थ भोज में बैठने (कम्यूनियन) वगैरा में भी अच्छाई देखता था। चाहे ये त्याग कितने ही नगण्य हो, मैं उनको कुछ अच्छे के लिए ही करता था। मैं व्रत-उपवास रखता, घर पर तथा गिर्जे में नियत समय पर प्रार्थना करता एवं अन्य आचारों का पालन करता था। गिर्जे में जब धर्मोपदेश होता तो मैं उसके एक-एक शब्द पर ध्यान देता और जहाँ तक हो सकता उसमें अर्थ ढूंढ़ने की कोशिश करता था। धर्मोपदेश में मेरे लिए सबसे महत्वपूर्ण शब्द ये होते थे : 'हम एक-दूसरे को एक समान प्यार करें।' आगे के इन शब्दों को—'हम परमपिता, उसके पुत्र और 'होली घोस्ट'* की एकता में विश्वास रखते हैं।' मैं दरगुज़र कर जाता था, क्योंकि उन्हें समझ न सकता था।

* 'होलीघोस्ट'=ईसाई त्रिमूर्ति का तृतीय पुरुष : जीवात्मा—परमपिता एवं पुत्र (ईसा) से उद्भूत।

ईसा के सूली पर पुनः जीवित हो उठने के स्मारक-रूप में मनाया जाता था और इस पुनर्जीवन की सचाई की मै किसी प्रकार कल्पना या अनुभूति न कर पाता था। रविवार की साप्ताहिक छुट्टी को भी 'पुनर्जीवन दिवस' का नाम दिया गया था। क्रिसमस या बड़ा दिन को छोड़कर शेष ग्यारह बडे त्योहार चमत्कारों के स्मारक थे। इन दिवसो को मनाते समय मुझे अनुभव होता था कि उन्ही बातों को महत्व दिया जा रहा है जिनका मेरे निकट कोई महत्व न था। मैं मनको समझाने और खीच-तानकर अर्थ निकालने की कोशिश करता या अपने को प्रलुब्ध करनेवाली इन बातों को न देखने के लिए उधर से ऑख मूँद लेता था।

इनमें से ज़्यादातर विचार सामान्य और महत्वपूर्ण धार्मिक विधियो को करते समय मेरे दिल में पैदा हुए थे। इनमें बपतिस्मा और 'कम्यूनियन' (ईसा के स्मरणार्थ भोज : प्रसाद जिसे ईसाई ईसा का रक्त-मॉस समझकर ग्रहण करते है) की प्रथाये मुख्य थीं। इनमे कोई ऐसी बात न थी जो दिमाग़ में न आ सकनेवाली हो; सब बातें साफ़ और समझ मे आने लायक थी और ऐसी बातें थी जो मुझे प्रलोभन की तरफ ले जाती मालूम पड़ती थीं। मै बड़ी खीचातानी में पड़ गया कि मुझे अपने तई झूठ बोलना चाहिए या उन्हे अस्वीकार कर देना चाहिए।

बहुत वर्षों के बाद जब पहली बार मुझे 'यूकारिस्ट' (प्रभु ईसा के भोज का प्रसाद ईसा के रक्त-मॉस रूप मे) मिला तो मेरे मनकी जो हालत हुई, उसे मैं कभी भूल न सकूँगा। पूजा, पापो की स्वीकृति और प्रार्थनायें सब समझ में आ सकनेवाली चीज़ें थी और उनसे मेरे मनमे आह्लाद हुआ कि जीवन का अर्थ मेरे सामने खुल रहा है। 'कम्यूनियन' को तो मैंने एक ऐसा कृत्य समझ लिया जो ईसा के स्मरणार्थ किया जाता हो और ईसा की शिक्षाओं को पूर्णत ग्रहण करने एवं पाप से मुक्त होने का निर्देश करता हो। यदि इस व्याख्या में कुछ बनावट, कुछ कृत्रिमता थी तो मुझे उस वक्त उसका कुछ ध्यान न था। उस सीधे-सादे देहाती पादरी के सामने अपनी आत्मा की सम्पूर्ण गंदगी निकाल देने और अपने पापो को स्वीकार

करके अपने को दीन-हीन प्रदर्शित करने में मुझे [illegible]
मैं गिर्जे के लिए प्रार्थनायें लिखनेवाले अर्नानकाल के [illegible]
तन्मयता प्राप्त करके इतना खुश था; पूर्वमत और इस [illegible]
के सान्निद्धय प्राप्त करके मुझे इतनी खुशी हासिल हुई थी कि [illegible]
वा सफ़ाई की कृत्रिमता की ओर ध्यान देने का मुझे मौका ही [illegible]।
लेकिन जब मैं वेदी के द्वार के निकट पहुँचा और पुरोहित ने मुझसे
कहलवाया कि 'मुझे विश्वास है कि जो कुछ मैं निगलने जा रहा हूँ वह
सचमुच (ईसा का) रक्त और मांस है' तो मुझे [illegible]
अनुभव हुआ। इसमें केवल असत्य की झलक ही नहीं थी; यह एक [illegible]
आदमी के द्वारा की जाने वाली निर्दय माग थी जिसने कभी [illegible]
कि धर्म-निष्ठा वा श्रद्धा क्या चीज़ है।

आज मैं यह कह रहा हूँ कि यह एक निर्दय माँग थी; लेकिन उस वक्त
मैं ऐसा नहीं समझता था। उस वक्त तो मुझे सिर्फ़ एक गहरी [illegible]
अनुभव हुआ था, यह वेदना अवर्णनीय थी। युवावस्था की मेरी वह स्थिति
अब न थी जिसमे मैं समझता था कि जीवन में सब कुछ स्पष्ट है। यह
ठीक है कि मैंने श्रद्धा वा धर्म-विश्वास को स्वीकार कर लिया; क्योंकि श्रद्धा या
धर्मनिष्ठा को छोड़कर दुनिया में विनाश के अतिरिक्त मैंने और कुछ न पाया
था। इसलिए उस धर्मनिष्ठा का त्याग कर देना असंभव था और इसलिए मैं
झुक गया—मैंने माथा टेक दिया। मुझे अपने अन्तःकरण में एक ऐसी
अनुभूति प्राप्त हुई जो इस स्थिति को सहन करने योग्य बनाने में मुझे
सहायता देती रही। यह आत्म-दैन्य और नम्रता की अनुभूति थी। मैंने
अपने को दीन-हीन बना लिया, और पाखंड वा नास्तिकता की किसी अनुभूति
के वग़ैर उस रक्त माँस को निगल गया। ऐसा करते वक्त मेरे मन में यही
इच्छा थी कि मुझे विश्वास रखना चाहिए। लेकिन चोट पड़ चुकी थी और
मैं फिर दूसरी बार वहाँ न जा सका।

फिर भी मैं चर्च या धर्म-संस्था की विधियों का पालन करता रहा और
विश्वास करता रहा कि जिन धर्म-सिद्धान्तों का मैं पालन कर रहा हूँ उनमें

सत्य निहित है। इसी वक्त मेरे साथ कुछ ऐसी बात हुई जिसे आज तो मैं समझता हूँ, पर जो उस समय आश्चर्यजनक मालूम पड़ती थी।

एक दिन मै एक अशिक्षित किसान की बातें सुन रहा था। वह ईश्वर, धर्म, जीवन और मुक्ति के बारे में कह रहा था। इसी वक्त धर्मनिष्ठा का रहस्य अपने-आप मेरे सामने प्रकट हुआ। मैं जन-साधारण के निकट और भी खिंच गया; जीवन और धर्म-विश्वास के विषय मे उनकी सम्मतियाँ सुनने लगा और दिन-दिन सत्य को मैं अधिकाधिक समझने लगा। यही बात उस वक्त भी हुई जब मैं सन्तों की जीवन-गाथायें पढ़ रहा था। ये मेरी बड़ी प्रिय पुस्तकें बन गई थी। इनमें चमत्कार की जो कथाये थी उन्हें मैंने यह समझकर अलग कर दिया कि वे विचारो को चित्रित करनेवाली कथायें हैं। बाकी जो बचा उसके अध्ययन ने मेरे सामने जीवन का अर्थ प्रकाशित कर दिया। इन पुस्तकों में मकैरियस महान की जीवनी थी; बुद्ध की कथा थी; संत जॉन च्रीसोस्तम के उपदेश थे और कुएँ में पड़े यात्री, सोना प्राप्त करनेवाले संन्यासी, तथा पीटर भठियारे की कथायें थी। उनमें शहीदों की कथायें थीं और सबमें यह घोषणा की गई थी कि मृत्यु के साथ जीवन का अन्त नही होता; ऐसे लोगों की भी कथायें थीं जो अशिक्षित और मूर्ख थे और चर्च वा धर्म-संस्था की शिक्षाओ के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे; लेकिन फिर भी वे त्राण पा गये।

लेकिन ज्योंही मैं शिक्षित और विद्वान आस्तिको से मिला, अथवा उनकी पुस्तकें पढ़ी, त्योंही अपने विषय में सन्देह, असन्तोष और निराशापूर्ण संघर्ष एवं विवाद से मेरा मन भर गया, और मैंने अनुभव किया कि मैं इन लोगो की वाणी के अर्थ मे जितनाही घुसता हूँ उतनाही मै सत्य से दूर जाता हूँ और अथाह खाई की ओर बढ़ता हूँ।

: १५ :

न जाने कितनी बार मैंने किसानो की निरक्षरता और पांडित्य-हीनता पर उनसे ईर्ष्या की होगी ! धर्म के लक्ष्य-सम्बन्धी वक्तव्य मेरे लिए फिजूल और मिथ्या थे, परन्तु उनको उनमें कोई झुठाई नही प्रतीत होती थी। वे उन्हे स्वीकार कर सकते और उस सत्य में विश्वास करते थे, जिसमें विश्वास रखने का मेरा भी दावा था। पर एक मै ही अभागा और दुखिया ऐसा था जिसको साफ़ दिखाई दे रहा था कि इस सत्य के साथ असत्य के बड़े बारीक तार एक-दूसरे से गुँथे हुए है और मैं इस रूप मे सत्य को स्वीकार नही कर सकता।

लगभग तीन साल तक मेरी यह हालत रही। शुरू-शुरू मे जब मै ईसाई-धर्म का एक प्रारम्भिक साधक वा विद्यार्थी था, सत्य से मेरा क्षीण सम्पर्क था और जो कुछ मुझे साफ़ मालूम पड़ता था उसका आभास-मात्र मै पा सका था तबतक यह आन्तरिक संघर्ष उतना प्रबल न था। क्योंकि जब मै किसी बात को न समझता तो कह देता—'यह मेरा दोष है, मै पापी हूँ।' लेकिन ज्यो-ज्यो मै सत्य को अपनाता गया, और वे मेरे जीवन का आधार बनते गये त्यो-त्यो यह संघर्ष अधिकाधिक दुःखदाई और पीड़ाकारी होता गया। इसके साथही और समझने मे अपनी असमर्थता के कारण जो कुछ मै नही समझ सकता उसके और जो कुछ बिना झूठ बोले या अपने को धोखा दिये समझा ही नही जा सकता उसके बीचकी रेखायें गहरी होती गई।

इन शंकाओं और पीड़ाओ के बावजूद भी मैं सनातन ईसाई सम्प्रदाय को ग्रहण किये रहा। लेकिन जीवन के ऐसे सवाल उठते रहे जिनका निर्णय करना ज़रूरी था। कट्टर सनातनी चर्च इन पर जो निर्णय देता था, वह तो धर्म-निष्ठा के उन मूलाधारों के ही खिलाफ़ था जिनपर मेरा जीवन खड़ा

था। इस कारण विवश होकर मुझे स्वीकार करना पड़ा कि कट्टर सनातनी सम्प्रदाय में रहकर सत्य की प्राप्ति करना असंभव है। इन सवालों में एक ख़ास सवाल इस कट्टर ईसाई सम्प्रदाय का अन्य ईसाई सम्प्रदायों के प्रति प्रकट होने वाला दृष्टिकोण और व्यवहार भी था। चूँकि धर्म में मेरी दिलचस्पी थी, इसलिए मैं अनेक सम्प्रदायों के अनुयायियों के सम्पर्क में आता रहता था। इसमें कैथलिक, प्रोटेस्टेण्ट, 'पुराने विश्वासी' (ओल्ड बिलीवर्स), सुधारवादी मोलोकंस (जो कर्मकाण्ड की अनेक विधियों के विरोधी थे)—मतलब सभी तरह के लोग थे। इनमें मुझे ऊँचे चरित्र के बहुतेरे ऐसे आदमी मिले जो सचमुच धर्मात्मा थे। मैं उनके साथ भाईचारा स्थापित करना चाहता था—उनको अपने बंधु-रूप में ग्रहण करना चाहता था। पर कट्टर सनातनी चर्च में स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। जिस शिक्षा ने सबको एक धर्मनिष्ठा और प्रेम-बंधन में बाँधने का दावा किया था उसी शिक्षा के सर्वोत्तम प्रतिनिधियों ने मुझे बताया कि ये सारे आदमी असत्याचारी हैं, असत्य के बीच रह रहे है; उनके जीवन मे जो शक्ति दिखाई देती है, वह शैतान का प्रलोभन-मात्र है और जो कुछ हमारे पास है बस वही सत्य है। मैंने यह भी देखा कि जो लोग हर बात में उनसे सहमत नहीं हैं या उनकी 'हाँ' में 'हाँ' नहीं कर सकते वे सब इन कट्टर सनातनियों द्वारा नास्तिक और पतित समझे जाते हैं। मुझे यह भी दिखाई पड़ा कि जो लोग उनके स्वीकृत बाह्य चिह्नों और प्रतीकों के द्वारा अपनी धर्मनिष्ठा नहीं प्रकट करते उनके प्रति ये लोग विरोध-भाव रखते हैं और यह स्वाभाविक ही है। पहला कारण तो उनकी यह मान्यता है कि तुम असत्य पर हो और केवल मै ही सत्य पर हूँ, और इससे निष्ठुर बात एक मनुष्य दूसरे से कह नहीं सकता। दूसरा कारण यह है कि जो आदमी अपने बच्चों और भाइयो को प्यार करता हो वह उन लोगों के प्रति विरोध एवं शत्रुता का भाव रक्खे बिना नही रह सकता जो उसके बच्चों और भाइयों को झूठी धर्मनिष्ठा की ओर ले जाना चाहते हों। फिर पौराणिक ज्ञान जितना ही अधिक बढ़ता है, यह विरोध भाव भी उतनाही अधिक बढ़ता जाता है। तब मेरे

जैसे आदमी के लिए, जो प्रेम-द्वारा ऐक्य एवं मिलन में सत्य की स्थिति मानता है, यह बात बिल्कुल साफ़ हो गई कि धर्मविद्या ठीक उसी चीज़ का विनाश कर रही है जिसका निर्माण उसे करना चाहिए था।

जब हम देखते है कि प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे के प्रति घृणा का भाव रखता है, केवल अपने को ही सत्य का अधिकारी मानकर सन्तुष्ट है तो आश्चर्य होता है कि क्या ये लोग इतना भी नही देख सकते कि अगर दोनो के दावे एक-दूसरे के विरोधी है तो उनमें से किसी मे भी पूर्ण सत्य नही हो सकता और धर्मनिष्ठा में पूर्ण सत्य होना चाहिए। तव मनुष्य मन को यो भुलावा देने की चेष्टा करता है कि कोई और वात भी होगी; इसका कुछ और मतलव होगा। मैंने भी यही समझा कि इसका कुछ और मतलव होगा और उस मतलव को पाने एवं समझने की कोशिश की। इस विषय पर जो कुछ भी मुझे पढ़ने को मिला, मैने पढा और जिनसे भी सलाह-मशविरा कर सकता था, किया। किसी ने मुझे उसकी कोई व्याख्या नही सुझाई—सिवाय उस व्याख्या के जिसे मानने के कारण 'क' अपने को ही दुनिया मे सर्वश्रेष्ठ मानता है और 'ख' अपने को। हर सम्प्रदाय ने अपने सर्वोत्तम प्रतिनिधियो द्वारा मुझे कहा कि हमारा विश्वास है कि सिर्फ़ हमी को सत्य प्राप्त है और दूसरे सव ग़लत रास्ते पर हैं और हम उनके लिए सिर्फ़ प्रार्थना कर सकते हैं। मैं पुरोहितों, पादरियों, धर्माध्यक्षों, और विद्यावयोवृद्ध पण्डितो के पास गया, लेकिन किसी ने मुझे इसका मतलव नहीं वताया—सिवाय एक आदमी के जिसने इसकी पूरी व्याख्या मेरे सामने रक्खी और कुछ इस तरह रक्खी कि फिर आगे किसी से पूछने का मुझे साहस ही नहीं हुआ। मैंने कहा कि धर्मनिष्ठा की ओर आकर्षित होनेवाला प्रत्येक नास्तिक (और हमारी सारी तरुण पीढी कुछ इसी तरह की है) पहले यह सवाल करता है कि लूथर सम्प्रदाय मे या कैथलिक सम्प्रदाय मे सत्य क्यों नहीं है और कट्टर सनातनी सम्प्रदाय मे ही सारा सत्य क्यों है? आधुनिक युवक शिक्षित होने के कारण, किसान की भाँति, इस वात से अपरिचित नहीं है कि प्रोटेस्टेण्ट और कैथलि सम्प्रदाय भी इसी प्रकार ज़ोर के साथ कहते हैं कि उनकाही धर्मवि

युद्ध के बाद के झगड़ो-टण्टों मे भी मैंने देखा कि चर्च के अधिकारियों, शिक्षकों और संन्यासियों ने ग़लती करनेवाले असहाय युवको की हत्या का समर्थन किया। मैंने ईसाई-धर्म मानने का दावा करनेवाले आदमियों के सब कृत्यो पर ध्यान दिया और मेरा दिल दहल गया।

: १६ :
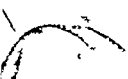
वस मेरा सन्देह दूर हो गया और मुझे पूरी तरह यह विश्वास हो गया कि जिस धर्म को मैने अंगीकार कर रक्खा है, उसमें सब सत्य ही सत्य नही है। शायद ऐसी हालत में पहले मै कहता कि वह सब का सब झूठा है; लेकिन अब मै ऐसा भी नही कह सकता था। सारी जनता सत्य का कुछ-न-कुछ ज्ञान रखती है; क्योंकि विना उसके वह जी ही नहीं सकती। फिर वह ज्ञान मेरे लिए भी प्राप्य है, क्योंकि मैंने उसकी अनुभूति की है और उसके सहारे ज़िन्दगी के दिन भी विताये है। यह सब था, पर अब मुझे कोई सन्देह नहीं रह गया था कि सत्य के साथ इसमें असत्य भी है। जो वातें पहले मुझे घृणाजनक प्रतीत होती थी वे सब फिर स्पष्ट रूप मे मेरे सामने आई। यद्यपि मैंने देखा कि जिन झूठी वातो से मुझे घृणा होती है, उनका किसानों में चर्च वा धर्म-संस्था के प्रतिनिधियों की अपेक्षा कम ही मिश्रण है। पर यह तो तब भी साफ़ हो ही गया कि जनता के धर्म-विश्वास मे सत्य के साथ असत्य भी मिला हुआ है।

पर सवाल उठता है कि सत्य कहॉ से आया और असत्य कहाँ से आया? सत्य और असत्य दोनों पवित्र कही जानेवाली परम्परा और धर्म-ग्रन्थों (Scriptures) मे मोजूद थे। सत्य और असत्य दोनों 'चर्च' (ईसाई-धर्म-संस्था) द्वारा लोगों को दिये गये हैं।

और पसन्दगी से या नापसन्दगी से मुझे इन ग्रन्थों का और इन परम्पराओं का अध्ययन और अन्वेषण करना पड़ा—उन्ही ग्रन्थों और परम्पराओं का जिनका अन्वेषण करने मे अभी तक मैं इतना हिचकिचाता और डरता था।

मैं उसी धर्म-विद्या (Theology) की परीक्षा करने लगा जिसे एक दिन अनावश्यक कहकर मैंने तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया था। पहले

जब मै चारो तरफ से जीवन की ऐसी अभिव्यक्तियो से घिरा था जो मुझे स्पष्ट और विवेकपूर्ण प्रतीत होती थी तब मुझे यह (धर्मविद्या) अनावश्यक मूर्खताओं वा असंगतियों की एक मालिका-सी प्रतीत होती थी, अब मै केवल उन्ही चीज़ों को फेंककर सुखी हो सकता था जो मेरे दिमाग़ मे न घुसती थीं। इसी शिक्षा पर धार्मिक सिद्धान्त का आधार है या कम-से-कम इसके साथ मैने जीवन के अर्थ एवं प्रयोजन का जो एकमात्र ज्ञान प्राप्त किया है, उसका अभेद्य सम्बन्ध है। मेरे दृढ़ और पुराने मनको यह बात चाहे कितनी ही निरर्थक प्रतीत होती हो, पर यही मुक्ति की एकमात्र आशा थी। इसे समझने के लिए बड़े ध्यान और सावधानी के साथ इसकी परीक्षा करने की ज़रूरत थी—उस तरह का समझना नही जैसा मैं विज्ञान की धारणाओ को समझता हूॅ: मैं उसकी खोज में नही हूॅ और धर्मनिष्ठा के ज्ञान की विशेषताओं एवं विविधताओ को देखते हुए मैं उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर भी नही सकता। मैं हर चीज़ की व्याख्या या निरूपण नही चाहता। मै जानता हूॅ कि सब वस्तुओ के प्रारम्भ की भॉंति, सब वस्तुओं की व्याख्या वा निरूपण भी असीम मे निहित है। लेकिन मै इसे ऐसे ढंग से समझना चाहता हूॅ जिससे जो कुछ अनिवार्यत अबोध्य या अनिरूप्य है, उस तक मै पहुॅच सकूॅ। जो कुछ भी अबोध्य है उसे मै मानना चाहता हूॅ, इसलिए नही कि मेरे विवेक की मॉग या कसौटी ग़लत है (वह बिल्कुल ठीक है और उससे अलग होकर तो मै कुछ भी समझ ही नही सकता) बल्कि इसलिए कि मै अपनी बुद्धि की सीमाओ को जानता हूॅ। मैं जानता हूॅ कि मेरी बुद्धि एक सीमा तक ही जा सकती है। मै इस रीति से समझना चाहता हूँ कि जितनी भी बातें अबोध्य है वे सब स्वयं अपने को अनिवार्यतः अबोध्य रूप मे मेरे सामने पेश करें—ऐसी चीज़ों के रूप मे नही जिनमे विश्वास करने के लिए मै विवशतापूर्वक बाध्य हूॅ।

धर्मशिक्षा में सत्य है, इसमे मुझे किसी प्रकार का सन्देह नही है; पर यह भी निश्चित है कि उसमे असत्य है और मुझे जानना चाहिए कि कौन-सी बात सत्य है, कौन-सी असत्य; मुझे सत्य और असत्य को अलग-अलग

करना चाहिए। इसी काम में मै अपने को लगा रहा हूँ। मुझे धर्मशिक्षा में क्या असत्य मिला, क्या सत्य मिला और किन नतीजो पर मै पहुँचा, इसका ज़िक्र मैं आगे करूँगा, जो अगर कुछ महत्व का हुआ और किसी ने चाहा तो शायद आगे कभी कही प्रकाशित होगा।

१८७६

एक स्वप्न

ऊपर के अध्याय मैंने लगभग तीन साल पहले लिखे थे जो छापे जायँगे।

थोड़े दिन पहले की वात है कि मै इनको फिर से देख कर ठीक कर रहा था और उस विचारशैली और अनुभूतियों की तरफ़ लौट रहा था, जिनके वीच मैं इनको लिखते वक्त रहा था। मुझे एक सपना दिखाई पड़ा। मैंने जो कुछ अनुभव किया था और जो कुछ बयान किया था, उसको इस स्वप्न ने घनीभूत और संक्षिप्त रूप में व्यक्त कर दिया। मेरा ख़्याल है कि जिन लोगों ने मुझे समझा है, उनके लिए इस स्वप्न को कह देने की ज़रूरत है क्योंकि इस सपने को सुनकर उनके दिमाग़ में वे सव वातें ताज़ी हो जायँगी जिनको मैंने इतने विस्तार से पहले कहा है। सपना यह था :

मैंने देखा कि मै पलंग पर पड़ा हूँ। मै न आराम में था, न तकलीफ़ मे : मैं पीठ के वल लेटा हुआ था। पर मैंने सोचना शुरू कर दिया कि मैं कैसे और किस चीज़ पर लेटा हूँ—; ऐसा सवाल इसके पहले कभी मेरे मनमे पैदा नहीं हुआ था। मैंने अपने पलंग की तरफ़ ध्यान दिया और देखा कि मैं झलन और कमानीदार पलंग पर लेटा हुआ हूँ। पलंग के कोनो से झलन की तीलियाँ लगी हैं। मेरे पाँव एक तीली (सस्पेंडर) पर हैं और जंघे की पिंडलियाँ दूसरी तीली पर हैं। पाँवो को आराम नहीं मिल रहा था। मुझे इसका ज्ञान-सा था कि वे सस्पेंडर खिसकाये जा सकते हैं। मैंने उनमे से जो सवसे दूर था उसे धकेलकर पाँव के विस्तार के अनुरूप कर दिया—शायद मैंने सोचा कि यह ज्यादा आरामदेह होगा। लेकिन वह मेरे धक्के से ज़रूरत

से ज़्यादा आगे चला गया था और मैंने उस तक फिर अपना पॉव पहुँचाना चाहा। इस प्रयत्न में जॉघ की पिडलियों के नीचे जो तीली थी वह भी खिसक गई और मेरे पॉव अधर में झूलने लगे। मैंने अपने सारे शरीर को परिचालित करके आराम के साथ लेटने की कोशिश की। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं तुरन्त ऐसा कर सकता हूँ; लेकिन मेरे उठने मे कुछ ऐसी गड़बड़ हुई कि मेरे नीचे की और भी तीलियॉ खिसककर एक दूसरे से उलझ गईं और मैंने देखा कि सारा मामला ही विगड़ता जा रहा है : मेरे शरीर का सारा अधोभाग खिसककर नीचे लटक रहा था, यद्यपि मेरे पॉव ज़मीन को नहीं छू रहे थे। मै सिर्फ़ अपनी पीठ के ऊपरी हिस्से के सहारे लटक रहा था। इससे न सिर्फ़ तकलीफ़ हो रही थी; वल्कि मै डर भी गया था। तभी मैंने अपने तई किसी ऐसी वात के वारे में सवाल किया जिसका पहले मुझे ख़याल ही नहीं हुआ था। मैंने अपने से सवाल किया : मैं कहॉ हूँ, और मै किस चीज़ पर लेटा हुआ हूँ ? मैंने इर्द-गिर्द देखना शुरू किया। पहले मैंने उस दिशा में निगाह डाली जिधर मेरा शरीर लटक रहा था और जिधर मुझे जल्द गिर पड़ने का अन्देशा था। मैंने नीचे की तरफ़ देखा : मुझे अपनी ऑखों पर विश्वास न हुआ। मै ऊँचे-से-ऊँचे मीनारो और पहाड़ो की ही ऊँचाई पर नहीं, वल्कि ऐसी ऊँचाई पर था कि उसकी कल्पना भी मेरे लिए असम्भव थी।

मै यह भी समझ न सका कि उस निचाई में, उस आधारहीन पाताल में मुझे कोई चीज़ दिखाई भी देती है या नहीं जिस पर मैं लटका हुआ हूँ और जिसकी तरफ़ मैं खिचता जा रहा हूँ। मेरे हृदय की शिरायें सिकुड़ने लगी और मै डर गया। उस तरफ़ देखना भी भयंकर था। जव मैं उधर देखता तो मुझे महसूस होता कि अन्तिम तीली से भी खिसककर मैं तुरन्त गिर जाऊँगा और नष्ट हो जाऊँगा। तव मैने उधर नही देखा। लेकिन न देखना और भी वुरा था; क्योंकि मैं सोचने लगा कि जव मैं अन्तिम तीली से खिसककर गिरूँगा, तव क्या होगा। मैंने अनुभव किया कि भय के कारण मेरा आख़िरी आश्रय—अन्तिम तीली—भी छूट रही है और मेरी पीठ

धीरे-धीरे नीचे की तरफ़ जा रही है। क्षण भर बाद ही मै गिर जाऊँगा। उसी समय मुझे यह ध्यान आया कि यह सब सच्चा नहीं हो सकता, यह सपना है। इससे जग जाओ! मैं अपने को जगाने की कोशिश करता हूँ पर वैसा कर नहीं पाता। अब मै क्या करूँ? अब मुझे क्या करना चाहिए? मै इस तरह अपने से पूछता हूँ और ऊपर की तरफ नजर दौड़ाता हूँ। ऊपर भी अनन्त आकाश फैला हुआ है। मै आकाश की असीमता को देखता हूँ और नीचे की—पाताल की अतलता को भूलने की कोशिश करता हूँ और मै सचमुच उसे भूल जाता हूँ। नीचे की, पाताल की, अनन्तता मुझे डरा देती है; पर ऊपर की अनन्तता आकर्षित करती और मुझे बल देती है। मै देखता हूँ कि अतल के ऊपर अब भी अन्तिम तीलियाँ मुझसे छूटी नही है। जानता हूँ कि मै लटक रहा हूँ; लेकिन अब मै सिर्फ़ ऊपर की ओर देखता हूँ और मेरा भय दूर हो जाता है। जैसा कि सपनो में होता है, एक आवाज़ सुनाई पड़ती है : 'इसे देखो, यही बात है!' बस मै अधिकाधिक अपने ऊपर अनन्त आकाश मे देखता हूँ और मुझे अनुभव होता है कि मैं शान्त एवं स्थिर हो रहा हूँ। जो कुछ घटना घटी है वह सब मुझे याद है और भी याद है कि किस तरह वह सब हुआ; कैसे मैंने अपने पाँव बढ़ाये; कैसे मै खिसककर टँग गया; मै कितना डर गया था और किस तरह ऊपर देखने के कारण भय से मेरी रक्षा हुई। तब मै अपने से पूछता हूँ. क्या मै इस वक्त इसी तरह नहीं लटक रहा हूँ? मै इर्द-गिर्द देखने की जगह अपने सारे शरीर से उस आश्रय-खण्ड का अनुभव करता हूँ, जिस पर मै पड़ा हुआ हूँ। मै देखता हूँ कि अब इस तरह लटका हुआ नहीं हूँ कि गिर पड़ूँ, बल्कि दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ। तब मै फिर अपने से पूछता हूँ कि मै किस प्रकार स्थित हूँ? मैं चारो ओर टटोलता हूँ; इधर-उधर नज़र दौड़ाता हूँ और देखता हूँ कि मेरे नीचे, मेरे धड़ के नीचे भी एक तीली है और जब मै ऊपर की ओर देख रहा हूँ तब इस पर सुरक्षित रूप में स्थित हूँ और सिर्फ़ यही तीली पहले भी मुझे थामे हुए थी। तब, जैसा कि सपनों मे होता है, मैं अपने को स्थिर रखने वाले साधन की बनावट की कल्पना

करता हूँ। यह एक बड़ा स्वाभाविक, समझ में आने लायक और अचूक साधन है—यद्यपि जगे हुए आदमी के लिए इस बनावट का कोई मतलब नहीं है। अपने स्वप्न मे मुझे आश्चर्य का अनुभव भी हुआ कि इस बात को मैं और पहले ही क्यो न समझ पाया? मालूम पड़ा कि मेरे सिर के ऊपर एक खंभा भी है और उस पतले खंभे की सुरक्षितता में कोई सन्देह नही किया जा सकता, यद्यपि उसको आश्रय वा सहारा देने वाली कोई दूसरी चीज़ नही है। उस खंभे से एक दोहरा फंदा नीचे लटक रहा है और यदि मैं उस फंदे के बीच मे अपने शरीर को ठीक तरह से रक्खूँ और ऊपर देखता रहूँ तो गिरने का कोई अन्देशा ही नही हो सकता। यह सब मुझे स्पष्ट दीख रहा था। मैं प्रसन्न और स्थिर था। मुझे जान पड़ा कि कोई मुझसे कह रहा है · 'देखो, इसे याद रखना।'

बस, मैं जग गया।

१८८२

मेरे संस्मरण

भूमिका

मेरे मित्र पी० वीरूकोव ने मेरी पुस्तको के फ्रासीसी संस्करण के लिए मेरी जीवनी लिखने का बीडा उठाया तो उन्होने मुझसे अपने जीवन के सम्बन्ध मे ज़रूरी बातें लिख भेजने का अनुरोध किया।

उन्होंने जो अनुरोध किया था, उसे मै पूरा करना चाहता था, इसलिए मै मन-ही-मन अपनी जीवनी का एक खाका बनाने लगा। स्वभावत· पहले-पहल मुझे अपने जीवन की अच्छाइयॉ ही याद आई और उनमे मैने एक चित्र मे रंग भरने के समान अपने चरित्र और कार्यों की बुराई को जोड़ भर दिया। परन्तु अपने जीवन की घटनाओ पर अधिक गम्भीरता से विचार करते हुए मैने देखा कि ऐसी जीवनी यद्यपि सर्वाश में गलत न होगी, परन्तु वह जीवन पर ग़लत प्रकाश डालने और ग़लत रूप में रखने के कारण—ऐसे रूप मे, जिसमें अच्छाइयों पर तो प्रकाश डाला गया है, परन्तु बुराइयो की ओर से या तो ऑखें ही मूॅद ली गई है, या उनको ढकने का प्रयत्न किया गया है,—ग़लत होगी। और जिस समय मैने अपने दोषो को ज़रा भी छिपाये विना सारी बातें सच्ची-सच्ची लिखने का विचार किया, उस समय मैं ऐसी जीवनी से पड़नेवाले प्रभाव की कल्पना करके कॉप उठा। उसी समय मै बीमार पड़ गया।* बीमारी के समय बिस्तर पर पड़े-पडे मेरे विचार जीवन की पिछली घटनाओ पर केन्द्रित हुए। वे संस्मरण वास्तव मे कॅपा देनेवाले थे। उस समय मुझे बिल्कुल वैसा ही अनुभव हुआ जैसा कि पुश्किन ने अपनी कविता "रिमेम्बरेन्स" (स्मृतियॉ) मे वर्णन किया है और जिसका भावार्थ यह है :

---

* ये पक्तियॉ सन १९०२ में लिखी गई थीं जब टॉल्स्टाय एक लम्बी और भारी बीमारी से स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे।

जब हम प्राणियो के लिए शोरगुल भरा दिन शान्त हो जाता है,
और जब नगरो की सुन्सान सड़को पर रात की अर्द्धपारभासक एवं भूरी
छाया का आगमन होता है,
जब दिन की मेहनत का प्रसाद—निद्रा दुनिया पर उतरती है,
तब सारी रात के उस अनिवार्य अवकाश-काल मे,
गहरे मौन के बीच मेरे लिए वह समय आता है
जब निद्राहीन पीड़न की लम्बी और सूनी घड़ियाँ आहिस्ता-आहिस्ता
रेंगती हैं।
मेरे दिल मे पश्चात्ताप की अग्नि ज़ोरो से धधकती है,
मेरा मन खौल रहा है और मेरे थके और दुखते सिर मे,
न जाने कितने तीखे विचारो की भीड़ लगी है।
और अपयशपूर्ण एवं लज्जाजनक पुरानी स्मृतियाँ नीरवता मे कष्ट के
साथ अपना बोझीला चक्र चलाती हैं।
मैं घृणा और निराशापूर्वक अपने जीवन के इस वृत्त को देखता हूँ,
मै अपने को शाप देता, कोसता, ताड़ता हूँ और बार-बार काँप उठता हूँ,
अनुतापपूर्ण आँसू मेरी आँखो से झर-झर गिरते है; पर वे मेरी दु खपूर्ण
कहानी की पंक्तियो को हरगिज़ मिटा नहीं सकते।

इसमें मैं सिर्फ़ आखिरी पंक्ति में ही इतना-सा परिवर्तन करना चाहता हूँ कि दु खपूर्ण के स्थान पर कलङ्कपूर्ण शब्द रख दिया जाय।

इन्ही भावनाओ मे मैने अपनी डायरी में नीचे की पक्तियाँ लिखी ·

६ जनवरी १६०३

"इस समय मैं नरक की यातनाओं का अनुभव कर रहा हूँ। अपने पिछले जीवन की सारी बुराइयाँ मुझे याद पड़ रही हैं, ये स्मृतियाँ मेरा पीछा नही छोड़ती और मेरे जीवन को विषाक्त बना रही है। लोग इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि मरने के बाद मनुष्य को अपने जीवन की घटनायें याद नही रहती। लेकिन यह तो बड़े भाग्य की बात है, अगर मुझे अपने भावी जीवन मे वे सब बुरे काम (पाप) याद रहें, जो मैंने इस अबतक के जीवन

मे किये है, और जो इस समय मेरी अन्तरात्मा में डंक मार रहे है, तो मुझे कितनी पीड़ा हो ? यह तो होही नही सकता कि मुझे अच्छी बातें ही याद रहे, क्योंकि अगर मुझे अपने पुण्यकार्य याद रहे तो अपने पाप-कार्य भी मुझे अवश्य याद रखने होगे। यह कितने भाग्य की वात है कि मृत्यु के साथ-साथ सब पिछली बातें भूल जाती है और केवल एक प्रकार की चेतना शेष रह जाती है जो ऐसी मालूम होती है कि मानो वह अच्छे और बुरे संस्कारो से बनी एक वस्तु है, एक विषम भिन्न है, जिसे सम करने पर वह कम या अधिक, सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकती है।

हॉ, तो स्मृतियो का लोप हो जाना एक भारी आनन्द है। स्मृति के साथ तो सुखपूर्वक रहना असम्भव ही हो जाये। लेकिन उनकी याद भूल जाने पर तो हम एक नये जीवन में साफ़ पट्टी लेकर प्रवेश करते है, जिस पर हम दुबारा अच्छा और बुरा लिख सकते है।

यह तो सच है कि मेरा सारा जीवन इस तरह भीषण रूप से बुरा नहीं था। उसके केवल २० वर्ष ही खराब थे। अपनी बीमारी के समय जब मैने अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन किया, तब मुझे ऐसा मालूम पड़ा था कि यह युग बुराइयो से ही भरा पड़ा था; किन्तु बात ऐसी नहीं थी। इस अवधि मे भी मेरे मनमे अच्छी भावनायें उठती थी, परन्तु वे थोड़े समय बाद मिट जाती थीं और शीघ्र ही वासनायें उन्हे दबा देती थीं। इतने पर भी अपने जीवन का सिंहावलोकन करते हुए विशेषकर अपनी लम्बी बीमारी के समय मुझे यह साफ मालूम पड़ा कि यदि मेरी जीवनी उस तरह लिखी गई, जिस तरह कि अधिकतर जीवनियॉ लिखी जाती है, जिनमे मेरी बुराइयो और दोषो, अपराधो और नीच-कर्मो के सम्बन्ध मे कुछ भी न कहा गया हो, तो वह जीवनी झूठी होगी। अत अगर मेरी जीवनी लिखी ही जाये, तो उसमे सारी बातें सच्ची-सच्ची प्रकट होनी चाहिएँ। ऐसी ही जीवनी चाहे उसे लिखने में लेखक को कितनी ही शर्म क्यो न उठानी पड़े—पाठकों के लिए लाभप्रद हो सकती है। अपने जीवन पर इस दृष्टि से विचार करते हुए, और अच्छाई और बुराई

की दृष्टि से उसे देखते हुए मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि मैं अपने जीवन को चार भागो मे बॉट सकता हूँ। पहला, चौदह साल तक की आयु का भोला-भाला, काव्यपूर्ण और आनन्दमय (विशेषकर अगले सालो की तुलना मे) वाल्यकाल; दूसरे, उसके वाद के भयानक २० वर्ष जो सिर्फ आकाक्षा, दुरभिमान तथा सवके ऊपर, कुवासनाओ में व्यतीत हुए। तीसरे, मेरे विवाह से लेकर मुझमे आध्यात्मिकता का जन्म होने तक के १८ वर्ष जिन्हे संसारी दृष्टि से नैतिक कहा जा सकता है, अर्थात् वे १८ वर्ष, जिनमें मैंने उचित रूप से और ईमानदारी से गार्हस्थ-जीवन विताया। यद्यपि इन वर्षों में मै अपने परिवार की हित-चिन्ता करने, अपनी सम्पत्ति बढ़ाने, साहित्यिक-क्षेत्र में उन्नति करने तथा सव तरह का आनन्द लूटने में ही लगा रहा, परन्तु मैंने कोई ऐसा काम नही किया जिसकी समाज निन्दा करता हो या जिसे वुरा कहता हो। चौथे और अन्तिम काल में वे वीस साल शामिल है जिनमें मैं रह रहा हूँ, जिनके भीतर ही मुझे आशा है कि मैं मर जाऊँगा। इसी जीवन की दृष्टि से, इसी को सामने रखकर मैं अपने अतीत पर विचार करता हूँ और जिसमें केवल उन बुराइयों के बुरे प्रभावो को दूर करने के सिवाय, जिनका आदी मैं पिछले सालो में हो गया था, ज़रा भी परिवर्तन करना न चाहूँगा।

यदि ईश्वर ने मुझे ज़िन्दगी और शक्ति दी तो मैं इन चारो कालों की विल्कुल सच्ची कहानी लिखूँगा। मै समझता हूँ कि मेरे ग्रन्थों की वारह जिल्दो* में जो कलापूर्ण बकवास भरी हुई है और जिसे लोग आवश्यकता से अधिक महत्व देते है, उसकी अपेक्षा यह जीवनी लोगो के लिए ज्यादा फ़ायदेमन्द सावित होगी।

अब मैं यही काम करना चाहता हूँ। पहले-पहल मैं अपने वाल्यकाल

---

* उस समय, अर्थात् जनवरी १९०३ तक, टाल्स्टाय की वे रचनायें जिन्हें रूस में प्रकाशित करने की आज्ञा मिल चुकी थी, वारह भागो में प्रकाशित हो चुकी थीं। धर्म, समाज की समस्यायें, युद्ध और हिंसा आदि पर लिखीं पुस्तकें आम तौर पर सेन्सरों द्वारा दवा दी गई थीं।

के आनन्दमय-जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा, जो मुझे विशेषरूप से आकर्षित करता है। उसके बाद, चाहे वह मेरे लिए कितना भी लज्जाप्रद क्यो न हो, मैं अपने जीवन के दूसरे काल के २० वर्षों की भयानक कथा कहूँगा। उसके बाद मै तीसरे काल के विषय मे लिखूँगा, जो अन्य कालो की अपेक्षा कम रोचक है। अन्त मे अपने जीवन के चौथे काल के विषय मे कहूँगा, जबकि मेरी आँखें खुली, मै जागा, मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ और जिसने मुझे जीवन मे सबसे बडी अच्छाई और प्रतिदिन निकट आती हुई मृत्यु की दृष्टि से आनन्दमय शान्ति दी।

अपने बाल्य-जीवन के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ लिखा है उसे पुनरुक्ति-दोष से बचाने के लिए मैंने दुबारा पढ लिया है। मुझे इस पर दुःख भी है कि इस सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा गया है वह बहुत बुरा लिखा गया है और यदि इसे साहित्यिक भाषा में कहें तो सच्चे हृदय से, ईमानदारी से नहीं लिखा गया। लेकिन इसका कोई उपाय भी नहीं था। क्योंकि पहली बात तो यह कि अपने बचपन का हाल लिखने के बजाय मैंने अपने बचपन के मित्रो का हाल लिखना सोचा था और इसके फल-स्वरूप उसमे मेरे और उनके जीवन की घटनाओ का एक बेजोड़ मिश्रण हो गया। दूसरे जिस समय यह लिखा गया, उस समय मेरी अपनी स्वतन्त्र वर्णन-शैली कोई भी न थी और मुझ पर दो लेखको स्टर्न (Sterne) और टॉफर (Topffer)* का बहुत प्रभाव था।

---

* रोटोल्फ टॉफर (१७९९–१८४६) स्विस उपन्यासकार और कलाकार।

मेरे संस्मरण*

मेरी दादी पेलागेया निकोलेवना (टाल्स्टाय) उस अंधे राजकुमार निकोलस इवानेविच गोर्शकोव की लड़की थी, जिसने अपार सम्पत्ति जोड़ ली थी। दादी के सम्बन्ध में मुझे जितना याद है, उससे मै कह सकता हूँ कि वह थोड़ी बुद्धि की औरत थी और उनकी शिक्षा भी थोड़ी ही हुई थी। अपनी-सी दूसरी औरतो की तरह वह भी रूसी भाषा की अपेक्षा फ्रेंच अच्छी तरह जानती थी। यही उनकी शिक्षा की सीमा थी। पहले उनके पिता ने, फिर उनके पति ने, और बाद मे, जहाँतक मुझे याद पड़ता है, उनके लड़के ने उन्हें बिल्कुल बिगाड़ दिया था। लेकिन चूँकि वह कुटुम्ब के सबसे बुजुर्ग सदस्य की पुत्री थी, इसलिए सभी उनका सम्मान करते थे।

मेरे दादा (उनके पति) की भी मुझे इतनी ही याद है कि वह भी मामूली बुद्धि के बड़े नम्र, हँसमुख और केवल उदार ही नहीं, बल्कि बड़े उड़ाऊ, लेकिन साथ ही बड़े विश्वासी और श्रद्धालु भी थे। बेलेव्स्की जिले मे पॉल्येनी (यासनाया पोल्याना नहीं) नामक स्थान मे उनकी जागीर पर बहुत दिनो तक जल्सो, दावतो, नाटकों, नाच-गानो और पार्टियो की धूम रही। लेकिन इन सबके कारण और बड़े-बड़े दाव लगाकर खेल खेलने की आदत होने और हरएक आदमी को कर्ज या दान देने के लिए हमेशा तैयार रहने और बाद मे घरेलू परिस्थितियों की वजह से अपनी पत्नी की सम्पत्ति पर भारी कर्जा हो जाने के कारण यह सब धूम-धाम मिट गई। उनके पास पेट भरने को भी कुछ न रहा और अन्त में उनको कज़ान के गवर्नर के पद के लिए अर्जी देनी पड़ी और उस

---

* टाल्स्टाय ने अपनी आत्मकथा लिखने के विचार को कभी कार्यरूप में परिणत नहीं किया। अपने संस्मरणों के बाद, जो सन् १८९८ में प्रकाशित हुए थे, उन्होंने कुछ बड़े सुन्दर अंश लिखे हैं, जो यहाँ दिये जाते हैं।

पद पर काम स्वीकार करना पड़ा। यह पद ऐसा था जो उनके जैसे ऊँचे कुल और उच्च पदाधिकारियों से सम्बन्ध रखने वालों को मिलने में कोई दिक्कत न हो सकती थी।

यद्यपि उस समय घूस लेना एक साधारण बात थी, लेकिन मुझे बताया गया कि शराब पर एकाधिकार रखनेवालों के सिवा उन्होंने किसी से घूस नहीं ली। यही नहीं, जब कभी उनके सामने इस तरह का प्रस्ताव किया जाता था, तो वह नाराज़ होते थे। लेकिन मुझसे यह भी कहा गया कि मेरी दादी, मेरे दादा को बिना बताये, रुपया ले लिया करती थीं।

कज़ान में मेरी दादी ने अपनी छोटी लड़की पेलागेया का विवाह यशकोव के साथ कर दिया था। उनकी बड़ी लड़की की शादी पीटर्सबर्ग के काउण्ट ऑस्टन-सेकन के साथ हो चुकी थी।

कज़ान में अपने पति की मृत्यु होने के बाद और मेरे पिता का विवाह हो जाने के बाद मेरी दादी यास्नाया पोल्याना में मेरे पिता के साथ रहने लगीं, जहाँ उनके बुढ़ापे के दिनों की मुझे अब भी अच्छी तरह याद है।

मेरी दादी मेरे पिता को और अपने पोतों अर्थात् हम भाई-बहनों को बहुत प्यार करती थीं और हमारे साथ अपना मनोविनोद कर लेती थीं। वह मेरी चाचियों से भी बहुत प्रेम करती थीं, लेकिन मैं जानता हूँ कि वह मेरी माता को ज़्यादा नहीं चाहती थीं, क्योंकि वह उन्हें मेरे पिता के लिए अच्छा नहीं समझती थीं। यही नहीं, पिताजी का मेरी माता के लिए जो बहुत ज़्यादा प्रेम था, वह भी उन्हें ठीक नहीं लगता था। नौकरों के साथ तो उन्हें कड़ा बर्ताव करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी, क्योंकि हरएक आदमी यह जानता था कि वह घर भर में सबसे बड़ी हैं, इसलिए उन्हें खुश रखने की कोशिश करता था।

मास्को जाने और वहाँ रहने से पहले मुझे अपनी दादी की तीन बातें अच्छी तरह याद हैं। पहली बात उनका कपड़े आदि धोने का तरीका है। वह अपने हाथों पर एक खास तरह के साबुन से बहुत से झाग उठा लेती थीं, जिन्हें मैं समझता हूँ कि वही अकेली उठा सकती थीं। जब वह

कपडे धोती थी तो हमें खास तौर पर उनका कपड़े धोना देखने के लिए ले जाया जाता था। सम्भवत उनके साबुन के झागो पर हमारा खुश होना और अचम्भे से भर उठना देख उन्हे भी आनन्द होता था। उनकी सफ़ेद टोपी, उनकी जाकट, उनके बूढे सफेद हाथ, और उनपर उठे हुए असंख्य झाग, तथा एक सन्तोषपूर्ण मुस्कान लिये हुए उनका सफ़ेद मुँह, मुझे आज भी याद है।

दूसरी बात अपने पिता के चपरासियो द्वारा बिना घोडे की पीली गाडी में बैठकर पास के छोटे जंगल में अखरोट बीनने जाना था, जिनकी उस साल इफरात से पैदावार हुई थी। (इसमें हम लोग भी अपने मास्टर फ़ीडर इवानोविच को साथ लेकर घूमने जाया करते थे।) उन घनी और पास-पास उगी हुई झाड़ियो की मुझे अब भी याद है जिनमे होकर मेरे पिता के चपरासी पेट्रुश्का और मत्यूशा उस गाड़ी को, जिसमे मेरी दादी बैठी रहती थी, खींचते और किस प्रकार वे अखरोट के गुच्छो से लदी हुई टहनियो को, जिनमे बहुत से पके हुए अखरोट अपने छिलको से निकल-निकल कर गिर रहे होते थे, उनतक झुकाते थे। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार मेरी दादी उन्हे तोड़ती और अपने थैले मे डालती जाती थी; और किस प्रकार हम बच्चे भी कुछ टहनियाँ झुकाकर उसी प्रकार खुश होते थे जिस प्रकार फ़ीडर इवानोविच मोटी-मोटी टहनियाँ झुकाकर हमे अपने बल से चकित कर देता था। हम चारों ओर से अखरोट बीनते थे और जब फ़ीडर इवानोविच टहनियों को छोड़ देता और वे फिर पहले जैसी हो जाती थीं, उस समय हम देखते थे कि अब भी बहुत से अखरोट उनमे लगे रह गये हैं, जिन्हें हमने नहीं देखा। मुझे याद है कि जंगल के खुले मार्ग मे कितनी गर्मी और वृक्षों की छाया में कितनी ठंडक होती थी। अखरोट की पत्तियों की तीखी गन्ध और किस प्रकार हमारी नौकरानियाँ उन्हे दाँतों से कड़कड़ा कर खाती थीं, और किस प्रकार हम भी निरन्तर ताज़े और मधुर सफेद गूदे को खाते थे, यह सब बातें मुझे अब भी याद हैं।

हम अपनी जेबों मे, गोद मे और गाडी मे अखरोट भर लेते थे।

हमारी दादी हमें अन्दर बिठातीं और हमारी तारीफ करती थीं। हम घर किस प्रकार लौटते थे, और घर लौटने पर क्या होता था, यह मुझे ज़रा भी याद नहीं। मुझे तो सिर्फ़ दादी, अखरोट के जंगल का खुला मार्ग, अखरोट के वृक्षों की पत्तियों की तीखी गन्ध, हमारे दोनों नौकर, पीली गाड़ी तथा सूर्य, सबके मिश्रित आनन्दवाली भावना की याद है। मुझे ऐसा मालूम होता था कि जिस तरह साबुन के झाग वहीं हो सकते थे जहाँ मेरी दादी हों, उसी प्रकार झाड़ियाँ, अखरोट, सूर्य तथा अन्य चीज़ें भी वहीं हो सकती थीं, जहाँ मेरी दादी पीली गाड़ी में हों, जिसे पेट्रुश्का और मत्यूशा खींचते हों।

सबसे ज्यादा तो मुझे उस रात की याद है जो मैंने अपनी दादी के सोने के कमरे में लेव स्टीपेनिश के साथ बिताई थी। लेव स्टीपेनिश एक अन्धा कहानी सुनानेवाला बूढ़ा आदमी था। वह एक दास था जिसे खरीदा ही इसलिए गया था कि वह कहानियाँ सुनाए। वह एक या दो बार पुस्तक से पढ़वाकर सुन लेने के बाद अन्धों की सहज स्मृति-शक्ति के साथ कहानियों को शब्दश सुना सकता था।

वह रहता तो मकान के ही किसी हिस्से में था, लेकिन दिन भर दिखाई नहीं पड़ता था। शाम होते ही वह मेरी दादी के सोने के ऊपरवाले कमरे में आ जाता। यह एक नीचा और छोटा-सा कमरा था जिसमें कोई भी दो सीढ़ियाँ चढ़ने पर आ सकता था। यह अन्धा उनके कमरे की खिड़की में बैठ जाता, जहाँ उसके लिए मालिक की थाली का बचा हुआ भोजन ला दिया जाता था। वहाँ वह मेरी दादी का इन्तज़ार किया करता था। उस दिन जब दादी के कमरे में रात बिताने की मेरी बारी थी, वह लम्बा गहरे नीले रंग का कोट पहने हुए खिड़की में बैठा खाना खा रहा था। मुझे उस क्षण की याद है जबकि मोमबत्ती बुझा दी गई और एक छोटा लैम्प सुनहरी मूर्तियों के सामने जलता छोड़ दिया गया। मेरी दादी, वही करामाती दादी, जो साबुन के आश्चर्यजनक झाग उठाया करती थीं, सिर से पैर तक सफेद कपड़े

पहने हुए, बर्फ के समान श्वेत बिछौने पर, सफ़ेद ही चादर ओढ़े और सिर पर सफ़ेद ही टोपी दिये तथा ऊँचे-ऊँचे तकिये लगाये लेटी थीं। उसी समय खिड़की से लेव स्टीपेनिश की शान्त और मीठी आवाज़ आई, "क्या आपकी आज्ञा है, मै शुरू करूँ ?" "हाँ, शुरू करो।" "प्रिय बहन, उसने कहा"—लेव स्टीपेनिश ने अपनी शान्त, साफ और गम्भीर आवाज़ मे अपनी कहानी आरम्भ की। "हमें उन सुन्दर और रोचक कहानियो मे से एक कहानी सुनाओ जिन्हे तुम इतनी सुन्दरता के साथ सुना सकती हो।" शहरज़ादी ने उत्तर दिया—"बड़े शौक से। अगर आपके सुल्तान मुझे आज्ञा दे तो मै राजकुमार कमरल्ज़मन की कहानी सुनाऊँ।" सुल्तान की स्वीकृति मिल जाने पर शहरज़ादी ने इस प्रकार अपनी कहानी आरम्भ की—"किसी राजा के एक ही लड़का था. . ।" इसी प्रकार लेव स्टीपेनिश ने भी राजकुमार कमरल्ज़मन की कहानी उसी प्रकार अक्षरशः कह सुनाई, जैसी कि वह किताब मे थी। मै न तो कुछ समझता था, न सुनता था। मै तो सफेद वस्त्रों मे अपनी दादी की रहस्यमयी मूर्ति और दीवार पर पड़ती हुई उसकी धुँधली छाया तथा बूढ़े लेव स्टीपेनिश की सफेद ज्योतिहीन आँखो मे ही डूबा रहता था। उस वृद्ध को यद्यपि मै इस समय नहीं देखता, परन्तु उसकी खिड़की मे बैठी हुई मूर्ति की तसवीर, जिसके मुँह से कुछ अजीब शब्द निकल रहे थे और जो उस अँधेरे-से कमरे म जिसमे केवल एक ही लैम्प टिमटिमा रहा था भार रूप से मालूम होते थे, अब भी मेरी आँखो मे खिची हुई है। शायद मै लेटते ही सो गया; क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई भी बात मुझे याद नही है। परन्तु सवेरे ही अपनी दादी के हाथों पर कपडे धोते समय साबुन के झागों को देखकर मुझे फिर आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता हुई।"

× × × ×

अपने नाना के विषय मे तो मुझे इतना याद है कि सेनापति का पद प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद पोटेम्किन की भतीजी और रखेली वारवरा एंगेलहार्ट से विवाह करने के लिए इन्कार कर देने पर वह निकाल दिये

माताजी की मुझे ज़रा भी याद नहीं। जिस समय मैं डेढ़ साल का था उसी समय उनकी मृत्यु हो गई। पता नहीं कैसे उनका कोई चित्र भी सुरक्षित नहीं रक्खा गया, अतः मैं उनकी मूर्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि अब मेरे मनमे उनकी कल्पना केवल आध्यात्मिक है और मैं जितना भी कुछ उनके विषय मे जानता हूँ, वह सुन्दर है। मैं समझता हूँ कि मेरी यह धारणा इसलिए नहीं बनी है कि प्रत्येक आदमी ने, जिसने उनके विषय में कुछ भी कहा, उनकी अच्छी बातें ही कहीं, बल्कि इसलिए कि उनमे वास्तव में कुछ ठोस गुण और अच्छाइयाँ थीं।

मेरी माता सुन्दरी तो नहीं थी, परन्तु अपने समय की दृष्टि से वह अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। रूसी भाषा के साथ (जिसे वह उस समय की प्रथा के विरुद्ध भी शुद्ध लिख सकती थीं) वह फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और इटालियन चार भाषाये जानती थीं और मैं समझता हूँ कि कला के लिए भी उनके हृदय मे अवश्य प्रेम होगा। वह पियानो बहुत अच्छी तरह बजाती थीं और जैसा कि उनके समय की स्त्रियों ने मुझे बताया कि वह बड़ी रोचक कहानियाँ सुनाती थीं और कहानी सुनते सुनाते कहानियाँ गढ़ती भी जाती थीं। परन्तु उनके नौकरों के कथनानुसार उनका सबसे बड़ा गुण यही था कि यद्यपि उन्हे बड़ी जल्दी गुस्सा आ जाता था, लेकिन फिर भी उनमें आत्म-संयम बहुत था। उनका चेहरा गुस्से से तमतमा उठता था और वह चिल्लाने भी लगती थीं, परन्तु उनकी नौकरानी के कथनानुसार उन्होने कभी कोई अपशब्द मुँह से नहीं निकाला; वह कोई अपशब्द या गाली जानती ही न थीं।

पिताजी और उनके बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ और मेरे सबसे बड़े भाई निकोलेन्का के आचार-विचार की जो डायरी वह रखती थीं, वह मेरे पास है। जिस समय उनकी मृत्यु हुई उसकी (निकोलेन्का की) आयु ६ वर्ष की थी। मै समझता हूँ कि शकल-सूरत मे हममें से किसी के बजाय वह माताजी से अधिक मिलते-जुलते थे। उन दोनो का एक गुण मुझे बहुत प्रिय है। कम-से-कम उनके पत्रो से तो यही झलकता है कि मेरी माता में

यह गुण था और मुझे मालूम है कि यह गुण मेरे भाई में तो था ही। उनमें यह गुण था कि दूसरे उनके प्रति क्या विचार रखते है, इसकी ओर से वह उदासीन रहते थे। उनमें लज्जा और संकोच तो इतना अधिक था कि वह अपनी मानसिक और नैतिक ऊँचाई तथा उच्चशिक्षा को भी दूसरों से छिपाने की कोशिश करते थे। वह अपने गुणो पर लज्जित होते से प्रतीत होते थे।

मेरे भाई में तो, यह आखिरी गुण मुझे साफ दिखाई देता था। उनके लिए तुर्गनेव ने लिखा है कि वह उन दोषो से परे थे, जो एक बड़ा लेखक होने के लिए जरूरी हैं।

मुझे याद है कि किस प्रकार एक बेवकूफ और नीच आदमी ने, जो गवर्नर का सहायक था, और जो मेरे भाई के साथ शिकार खेल रहा था, मेरे भाई की मेरे सामने ही खिल्ली उड़ाई, और किस प्रकार मेरे भाई ने मेरी ओर देखकर मुस्करा दिया। उसमे भी वह निश्चय ही आनन्द अनुभव कर रहे थे।

माताजी के पत्रों मे भी मैंने यही गुण पाया है। शायद टाटिआना एलेक्ज़ेण्डोवना एर्गोल्स्की को छोड़कर, जिनके साथ मैंने अपना आधा जीवन विताया, और जो वास्तव मे अद्भुत नैतिक गुणवाली महिला थी, मेरी माता निश्चय ही मेरे पिता और उनके परिवार वालों मे नैतिक दृष्टि से सबसे ज्यादा ऊँची थी।

इसके अलावा इन दोनो मे एक खास गुण और था, और वही दूसरे लोगों द्वारा अपनी निन्दा के प्रति उनकी उदासीनता का कारण था। वह गुण यही कि वह कभी दूसरो को दोष नहीं देते थे। कम-से-कम मेरे भाई मे तो, जिनके साथ मैंने आधा जीवन व्यतीत किया, यह गुण अवश्य था। किसी व्यक्ति के प्रति अपनी उदासीनता वह बहुत हलकी और मीठी चुटकी (व्यंग्य) तथा उसके साथ की वैसी ही हलकी और मीठी मुस्कराहट द्वारा व्यक्त करते थे। यही बात मैंने माताजी के पत्रो मे पाई है और उन लोगों के मुँह से भी सुनी है जो उन्हे जानते थे।

एक तीसरा गुण, जो मेरी माता को उनके आस-पास रहनेवाले साधारण आदमियो से ऊपर उठाता था, उनके पत्रो की सादगी और सचाई थी। उन दिनो बातो को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखने का रिवाज-सा हो गया था। अपने परिचितो में "अद्वितीय", "बेजोड़", "प्रशंसनीय", "पूजनीय", "मेरे जीवन को आनन्द" आदि सम्बोधन बहुत चल पड़े थे, और उनमें जितनी ज़्यादा अतिशयोक्ति होती थी, उतनी ही सचाई कम होती थी।

यह गुण तो मेरे पिता के पत्रो में भी पाया जाता है, लेकिन बहुत अधिक मात्रा में नहीं। वह लिखते थे—"मेरी परम-मधुर संगिनी! मै हर समय तुम्हारे साथ रहने के आनन्द का ही स्वप्न देखता रहता हूँ।" इसमें मुश्किल से ही कुछ सचाई है। परन्तु मेरी माता सदा एकही प्रकार से—"मेरे अच्छे मित्र!" सम्बोधन करती थीं। अपने एक पत्र में तो वह साफ कहती हैः—"यद्यपि सच तो यह है कि जब आप यहाँ होते है, हम आपके साथ रहने का पूरा आनन्द नही ले सकते; परन्तु फिर भी आपके बिना दिन पहाड़ के समान लगते है।" पत्र के अन्त में वह हस्ताक्षर भी उसी प्रकार किया करती थीं—"आपकी दासी— मेरी"।

माताजी का बाल्यकाल कुछ तो मास्को में और कुछ उस योग्य, गुणी और गर्व रखनेवाले व्यक्ति, अर्थात् मेरे दादा, बोलकोन्स्की के साथ गाँवो मे बीता। मुझे बताया गया कि वह मुझे बहुत चाहती थीं और मुझे 'मेरे प्यारे बेंजामिन' कहकर बुलाया करती थीं।

मै समझता हूँ कि उस व्यक्ति के प्रति जिनके साथ उनकी सगाई हुई थी, उनका प्रेम वैसाही काव्यमय प्रेम होगा, जैसा कि एक लड़की अपने जीवन में केवल एक बार ही अनुभव करती है। पिताजी के साथ माताजी की शादी पिताजी और माताजी के सम्बन्धियो ने ही तय की थी। मेरी माता धनी थी, लेकिन यौवन का प्रथम आगमन समाप्त होचुका था और वह अनाथ हो चुकी थीं। पिताजी हँसमुख और ऊँचे कुल के प्रतिभाशाली युवक थे, परन्तु उनकी सारी सम्पत्ति उनके पिता इल्या टालस्टाय ने पूरी तरह से नष्ट कर दी थी। उसको उन्होंने इस तरह चौपट कर दिया था कि पिताजी

ने बाद में उसे लेने से भी इन्कार कर दिया। मै समझता हूँ कि माताजी का पिताजी से गूढ प्रेम नहीं था। हाँ, वह उनसे पति के रूप में और अपने बच्चों के पिता के रूप में प्रेम करती थी। जहाँतक मुझे मालूम है वह तीन-चार व्यक्तियो से ही विशेष प्रेम करती थी। गोलिटसिन के मृत पुत्र से, जिनके साथ उनकी सगाई हुई थी, उनका विशेष प्रेम था। फिर उनकी विशेष मित्रता अपनी फ्रासीसी सहेली श्रीमती हेनीशीन के साथ थी, जिनके सम्बन्ध मे मै अपनी चाचियों के मुहँ से सुना करता था। वह मित्रता शायद बाद में टूट गई थी। श्रीमती हेनीशीन ने मेरी माता के एक सम्बन्धी राजकुमार माइकेल ऐलेक्ज़ेण्डोविच वोल्कॉन्स्की से विवाह कर लिया था, जो लेखक वोल्कान्स्की के पिता थे।

मेरे बडे भाई कोको (निकोलस) से तो वह बहुत ही ज़्यादा प्रेम करती थी, और सबेरे से शाम तक वह जो कुछ करते, उसे एक डायरी मे रूसी भाषा मे लिखती जाती और फिर उन्हें पढकर सुनाती थी। इस डायरी से दो बातें साफ झलकती हैं। एक उन्हे अपने पुत्र को अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने को भारी उत्कंठा थी, परन्तु वह स्वयं यह नहीं जानती थी कि वह अच्छी-से-अच्छी शिक्षा कैसी हो सकती है या कैसी होनी चाहिए। वह उन्हे (उदाहरणार्थ) बहुत भावुक होने और जानवरो को ज़रा भी पीडा होते देख चिल्लाने लगने पर झिड़कती, क्योकि उनके विचार से एक मनुष्य को दृढ़ होना चाहिए—कमज़ोर हृदय का नहीं। भाई साहब का दूसरा दोष, जो वह दूर करना चाहती थी, उनकी लापरवाही, और अन्य चित्तता, विमूढता थी।

अपनी बुआओ से जो बात मुझे मालूम हुई और जिसे मै भी समझता हूँ कि ठीक ही होगी वह यह है कि वह मेरे प्रति भी प्रेम रखती थी। इस प्रेम ने धीरे-धीरे कोको (मेरे बडे भाई निकोलस) का स्थान ले लिया, जो कि मेरे जन्म के बाद उनसे दूर हटते गये और पुरुषो के हाथ मे सौंप दिये गये। उन्हे तो किसी एक को प्रेम करना ही था, इसलिए एक के स्थान मे दूसरा आ गया।

माताजी का यही प्रेमपूर्ण चित्र मेरे हृदय-पटल पर अंकित है। वह मुझे विशुद्ध, महान् और पहुँची हुई मालूम हुई। अपने जीवन के मध्यकाल में अनेक बार जब मैं चारों ओर प्रलोभनों से घिरा हुआ संघर्ष कर रहा था, मैंने उनकी आत्मा से अपनी सहायता को प्रार्थना की और उस प्रार्थना ने मेरी बड़ी मदद की।

माताजी के पत्रों और उनके सम्बन्ध में दूसरों के मुँह से सुनी हुई बातों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि हमारे पिताजी के परिवार में उनका जीवन सुखी और आनन्दमय था।

हम पाँच बहन-भाई थे। निकोलस, सर्जा, मित्री, मैं और मेरी बहन मारोका (मारया) जिसकी पैदाइश के वक्त माताजी की मृत्यु हो गई थी। माताजी का ९ वर्षों का छोटा-सा वैवाहिक जीवन बहुत सुखी और सन्तोषपूर्ण था। वह जीवन भरा-पूरा और साथ रहनेवालों के प्रति मेरी माता के प्रेम और मेरी माता के प्रति उनके साथ रहनेवालों के प्रेम से भरा हुआ था। उनके पत्रों से मालूम होता है कि उस समय उनके जीवन में बहुत सूनापन था। हमारे निकट परिचितों, ओगरेव परिवारवालों और उन सम्बन्धियों के सिवा, जो घूमते-घामते उधर आ निकलते थे और कोई यास्नाया पोल्याना में नहीं आता था।

मेरी माता का समय अपने बच्चों की देख-रेख में, घर का प्रबन्ध करने में, घूमने में, शाम को मेरी दादी को उपन्यास सुनाने में, रूसो की 'एमाइल' जैसी गम्भीर पुस्तकें पढ़ने में, जो पढ़ा हो उस पर वाद-विवाद करने में, पियानो बजाने में और मेरी एक बुआ को इटालियन भाषा सिखाने में जाता था।

प्रायः सभी परिवारों में ऐसे समय आते हैं, जबकि सब लोग आनन्द से रहते हैं और बीमारी या मृत्यु होती ही नहीं। मैं समझता हूँ कि मेरी माता की मृत्यु तक हमारे परिवार में भी ऐसा ही समय रहा। न तो किसी कि मृत्यु ही हुई, न कोई सख्त बीमार ही पड़ा और मेरे पिताजी की बिगड़ी हुई हालत भी बहुत-कुछ सुधर गई। हरएक आदमी हँसमुख,

प्रसन्न और कमल की तरह खिला रहता था। मेरे पिता हम सबका कहानियो और चुटकुलो से मनोरंजन किया करते थे। परन्तु मैंने वे अच्छे दिन न देखे, क्योंकि जब मैंने होश सँभाला, माताजी की मृत्यु हो चुकी थी और उनके शोक की गहरी छाप हमारे परिवार पर लग चुकी थी।

× × × ×

मैने ऊपर जो कुछ भी लिखा है वह सुनी-सुनाई बातो और चिट्ठी-पत्रियो के आधार पर लिखा है। अब मै यह लिखूँगा कि उस समय के मेरे अनुभव क्या है और मुझे क्या-क्या बातें याद है। मै अपने बचपन की वे बातें नहीं लिखूँगा, जिनकी केवल धुँधली-सी स्मृति ही बाकी है और जिनमें मै नहीं कह सकता कि क्या तो वास्तविक है और क्या काल्पनिक, बल्कि मै उस जगह से लिखना शुरू करूँगा, जहाँ से मुझे सब बातो, उन स्थानो और उन आदमियो की, जो बचपन से ही मेरे आस-पास रहते आ रहे थे, साफ़-साफ़ याद है। उन आदमियो मे स्वभावत: पहला स्थान मेरे पिता का है। यह इसलिए नहीं कि उनकी मुझ पर कुछ छाप पड़ी है, बल्कि इसलिए कि उनके प्रति मेरी आदर-भावना बहुत ज्यादा रही है।

अपने बचपन ही में वह अपने पिता के इकलौते लड़के रह गये थे। उनके छोटे भाई एलेन्का बचपन ही मे रीढ़ की हड्डी टूट जाने के कारण मर गये थे। सन् १८१२ मे, (जब नेपोलियन ने रूस पर हमला किया) मेरे पिता की आयु केवल १७ वर्ष की थी। माता-पिता के बहुत झिड़कने, मना करने, डराने और विरोध करने पर भी उन्होंने फ़ौज मे नौकरी कर ली। उस समय मेरी दादी का (जो स्वयं गोर्शकोव कुल की राजकुमारी थी) एक निकट सम्बन्धी राजकुमार एलेक्से इवानोविच गोर्शकोव युद्ध-मन्त्री था। उसका भाई ऐण्ड्रू इवानोविच युद्ध के लिए भेजी गई सेना का सञ्चालन कर रहा था। मेरे पिता इन्हीं के एडजूटेण्ट (सहायक) नियुक्त हुए। उन्होंने १८१३-१४ और १८१४ के युद्धों मे भाग लिया। उन्हें किसी सेना के साथ फ्रांस भेजा गया। वहाँ वह कैद कर लिये गये और उसी समय छूटे जबकि हमारी सेनाओ ने पेरिस मे प्रवेश किया।

माताजी का यही प्रेमपूर्ण चित्र मेरे हृदय-पटल पर अंकित है। वह मुझे विशुद्ध, महान् और पहुँची हुई मालूम हुई। अपने जीवन के मध्यकाल में अनेक बार जब मैं चारों ओर प्रलोभनों से घिरा हुआ संघर्ष कर रहा था, मैंने उनकी आत्मा से अपनी सहायता की प्रार्थना की और उस प्रार्थना ने मेरी बड़ी मदद की।

माताजी के पत्रों और उनके सम्बन्ध में दूसरों के मुँह से सुनी हुई बातों के आधार पर मै कह सकता हूँ कि हमारे पिताजी के परिवार में उनका जीवन सुखी और आनन्दमय था।

हम पाँच बहन-भाई थे। निकोलस, सर्जा, मित्री, मैं और मेरी बहन माशेका (मारया) जिसकी पैदाइश के वक्त माताजी की मृत्यु हो गई थी। माताजी का ६ वर्षों का छोटा-सा वैवाहिक जीवन बहुत सुखी और सन्तोषपूर्ण था। वह जीवन भरा-पूरा और साथ रहनेवालों के प्रति मेरी माता के प्रेम और मेरी माता के प्रति उनके साथ रहनेवालों के प्रेम से भरा हुआ था। उनके पत्रों से मालूम होता है कि उस समय उनके जीवन में बहुत सूनापन था। हमारे निकट परिचितों, ओगरेव परिवारवालों और उन सम्बन्धियों के सिवा, जो घूमते-घामते उधर आ निकलते थे और कोई यास्नाया पोल्याना में नहीं आता था।

मेरी माता का समय अपने बच्चों की देख-रेख में, घर का प्रबन्ध करने में, घूमने में, शाम को मेरी दादी को उपन्यास सुनाने में, रूसो की 'एमाइल' जैसी गम्भीर पुस्तकें पढ़ने में, जो पढ़ा हो उस पर वाद-विवाद करने में, पियानो बजाने में और मेरी एक बुआ को इटालियन भाषा सिखाने में जाता था।

प्राय. सभी परिवारों में ऐसे समय आते हैं, जबकि सब लोग आनन्द से रहते हैं और बीमारी या मृत्यु होती ही नहीं। मैं समझता हूँ कि मेरी माता की मृत्यु तक हमारे परिवार में भी ऐसा ही समय रहा। न तो किसी कि मृत्यु ही हुई, न कोई सख्त बीमार ही पड़ा और मेरे पिताजी की बिगड़ी हुई हालत भी बहुत-कुछ सुधर गई। हरएक आदमी हँसमुख,

प्रसन्न और कमल की तरह खिला रहता था। मेरे पिता हम सबका कहानियों और चुटकुलों से मनोरंजन किया करते थे। परन्तु मैंने वे अच्छे दिन न देखे, क्योंकि जब मैंने होश सँभाला, माताजी की मृत्यु हो चुकी थी और उनके शोक की गहरी छाप हमारे परिवार पर लग चुकी थी।

× × × ×

मैंने ऊपर जो कुछ भी लिखा है वह सुनी-सुनाई बातों और चिट्ठी-पत्रियों के आधार पर लिखा है। अब मैं यह लिखूँगा कि उस समय के मेरे अनुभव क्या हैं और मुझे क्या-क्या बातें याद हैं। मैं अपने बचपन की वे बातें नहीं लिखूँगा, जिनकी केवल धुँधली-सी स्मृति ही बाकी है और जिनमें मैं नहीं कह सकता कि क्या तो वास्तविक है और क्या काल्पनिक, बल्कि मैं उस जगह से लिखना शुरू करूँगा, जहाँ से मुझे सब बातों, उन स्थानों और उन आदमियों की, जो बचपन से ही मेरे आस-पास रहते आ रहे थे, साफ़-साफ़ याद है। उन आदमियों में स्वभावत पहला स्थान मेरे पिता का है। यह इसलिए नहीं कि उनकी मुझ पर कुछ छाप पड़ी है, बल्कि इसलिए कि उनके प्रति मेरी आदर-भावना बहुत ज्यादा रही है।

अपने बचपन ही में वह अपने पिता के इकलौते लड़के रह गये थे। उनके छोटे भाई एलेन्का बचपन ही में रीढ़ की हड्डी टूट जाने के कारण मर गये थे। सन् १८१२ में, (जब नेपोलियन ने रूस पर हमला किया) मेरे पिता की आयु केवल १७ वर्ष की थी। माता-पिता के बहुत झिड़कने, मना करने, डराने और विरोध करने पर भी उन्होंने फ़ौज मे नौकरी कर ली। उस समय मेरी दादी का (जो स्वयं गौर्शकोव कुल की राजकुमारी थीं) एक निकट सम्बन्धी राजकुमार एलेक्से इवानोविच गौर्शकोव युद्ध-मन्त्री था। उसका भाई ऐण्ड्रू इवानोविच युद्ध के लिए भेजी गई सेना का सञ्चालन कर रहा था। मेरे पिता इन्हीं के एडजूटेण्ट (सहायक) नियुक्त हुए। उन्होंने १८१३–१४ और १८१४ के युद्धों में भाग लिया। उन्हे किसी सेना के साथ फ्रांस भेजा गया। वहाँ वह कैद कर लिये गये और उसी समय छूटे जबकि हमारी सेनाओं ने पेरिस में प्रवेश किया।

बीस वर्ष की आयु मे मेरे पिता अनजान बच्चे नहीं रह गये थे, क्योंकि सेना मे भर्ता होने से पहले १६ वरस की उम्र में माता-पिता ने एक दास-कन्या को उनकी रखेली वना दिया था। उस समय ऐसे सम्बन्ध युवको के स्वास्थ्य के लिए वाञ्छनीय समझे जाते थे। उनसे उन्हें एक पुत्र मिशेन्का हुआ जो कोचवान वनाया गया। जवतक मेरे पिता जीवित रहे, मिशेन्का की हालत ठीक रही, परन्तु वाद मे उसने अपने को चौपट कर लिया और जव हम भाई वडे हो गये तव वह वहुधा हमारे पास सहायता मॉगने आया करता। जव मेरा यह भाई, जो हमारे पिता से शकल-सूरत में हम सव भाइयों से अधिक मिलता-जुलता था, अपनी हालत खराव हो जाने के वाद हमसे १० या १५ रुवल प्राप्तकर जोकि हम उसे दे सकते थे, वड़ी कृतज्ञता दिखाता, उस समय मेरे मनमें जो व्यथा होती, वह मुझे अभी तक याद है।

युद्ध समाप्त होने पर पिताजी, जैसा कि उनके पत्रों से झलकता है, फौज की नौकरी से उकता चुके थे। फ़ौज की नौकरी छोड़कर अपने पिता के पास कज़ान लौट आये, जहॉ कि मेरे दादा गवर्नर थे। दादा की हालत बिल्कुल खराव हो चुकी थी। यहॉ मेरे पिता की बहन पेलागेया इलीनिश्ना, जिसका विवाह युश्कोव के साथ हुआ था, रहती थी। इसके थोड़े दिन वाद ही मेरे दादा कज़ान में मर गये और मेरे पिता के कन्धो पर उस जागीर का, जिस पर उसके मूल्य से कहीं अधिक कर्जा था, एक वूढ़ी माता का, जो विलासी जीवन विताने की आदी थी, एक वहिन तथा एक और सम्वन्धी का भार छोड़ गये। माताजी के साथ उनका विवाह भी उसी समय तय हुआ। उसी समय वह कज़ान से यास्नाय पोल्याना आ गए, जहॉ ६ वर्ष वाद उनकी पत्नी अर्थात् मेरी माता की मृत्यु हो गई।

हॉ, तो मैं अपने पिता के विवरण पर ही फिर आता हूँ। यदि मैं उनके जीवन का चित्र अपनी ऑखो के सामने खींचता हूँ तो मै देखता हूँ कि वह मझोले कद, गठीले वदन, रक्तवर्ण के चुस्त मनुष्य थे। वह सदा प्रसन्नमुख रहते थे, परन्तु उनकी ऑखें सदा शोक-मग्न रहती थीं। उनका मुख्य धंधा खेती और मुकदमेवाज़ी, विशेषत मुकदमेवाज़ी था। वैसे तो उस जमाने

में हरएक को ही मुकदमेबाज़ी करनी पड़ती थी, लेकिन मेरे दादा के झगड़ों को सुलझाने के लिए पिताजी को खास तौर से बहुत मुकदमे लड़ने पड़ते थे। इन मुकदमों के कारण उन्हें अक्सर घर छोड़कर जाना पड़ता था। इसके अलावा वह बहुधा शिकार खेलने के लिए भी बाहर जाया करते थे। शिकार के समय उनके साथियों में उनके मित्र किरिव्स्की (एक मालदार और प्रौढ़ अविवाहित सज्जन) ग्लेबोव और इस्लेनेव ही होते थे। अन्य जागीरदारों के समान मेरे पिताजी में भी एक खास बात थी और वह यह कि घर के दासों में से कुछ उनके मनचीते होते थे। दो दास पेट्रश्का और मत्यूशा, जो बहुत सुन्दर, चतुर और होशियार शिकारी थे, उनके विशेष कृपापात्र थे। मेरे पिताजी जब घर पर रहते थे तो खेती का काम और बच्चों को रखने के साथ-साथ पढ़ते भी बहुत थे। उनका अपना पुस्तकालय भी था जिसमें फ्रांस का उच्चकोटि का पुरातन साहित्य, ऐतिहासिक ग्रंथ, प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकों पर बफन, और क्यूवियर तथा अन्य लेखकों के ग्रन्थ थे। मेरी बुआ कहा करती थीं कि मेरे पिताजी का यह नियम था कि वह पुरानी किताबें पढ़े-बिना नई किताब नहीं खरीदते थे। यद्यपि उन्होंने बहुत-कुछ पढ़ा, तथापि यह मानना कठिन है कि उन्होंने 'क्रूसेड और पॅप्स के इतिहास' जो उन्होंने अपने पुस्तकालय के लिए प्राप्तकर रक्खे थे, सारे-के-सारे पढ़ लिये होंगे।

जहाँतक मैं समझता हूँ, उन्हें विज्ञान से अधिक प्रेम नहीं था। उनका ज्ञान उनके उस समय के साधारण आदमियों के ज्ञान के बराबर ही था। ऐलेक्जेण्डर प्रथम के राज्यकाल के शुरू के समय, तथा १८१३, १८१४ और १८१५ के युद्धकाल के समय के बहुत से आदमियों के समान उन्हें उदार दल का तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह ठीक है कि आत्म-सम्मान की भावना के कारण ही उन्होंने देखा कि ऐलेक्जेण्डर के प्रतिक्रियावादी राज्यकाल में या निकोलस के अधीन काम करना उनके लिए सम्भव नहीं। वह अकेले ही नहीं, बल्कि उनके सब मित्र ही सरकारी नौकरियों से अलग रहते थे। वह तो निकोलस प्रथम के राज्यकाल में

ही विद्रोही (फ्रॉण्डियर्स*) के समान समझे जाते थे।

मेरे बाल्यकाल भर में और मेरी जवानी तक में भी हमारे परिवार का न तो किसी सरकारी अफ़सर से परिचय ही था, न किसी प्रकार का निकट सम्पर्क ही था। अपने बचपन में तो मैं इसके महत्त्व को न समझ सका। उस समय तो मैं इतना ही जानता था कि पिताजी ने कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया और अपनी मधुर, नम्र और अधिकतर व्यंग और कटाक्ष-भरी वाणी को कभी नहीं बदला। उनके आत्म-गौरव की यह भावना देखकर ही मेरा उनके प्रति प्रेम बढ गया और मुझे उन्हे देखकर अधिक प्रसन्नता होने लगी।

उनके पढ़ने-लिखने के कमरे में, मुझे खूब याद है, हम लोग रात को सोते समय उन्हें 'प्रणाम' करने अथवा सिर्फ खेलने जाते थे। उस कमरे मे वह दीवार के सहारे अपनी चमड़े की बैठक पर बैठे रहते और हमारी पीठ ठोका करते थे; और कभी-कभी, जब वह दरवाज़े पर खड़े अपने क्लर्क से या हमारे धर्म गुरु याज़ीकोव से (जो अधिकतर हमारे पास ही रहते थे) बातचीत करते होते, या पढ़ते होते तो हमे अपनी गद्दीदार बेञ्च के तकिये पर चढ़ लेने देते। उस समय हमें बड़ा आनन्द आता था। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार वह सीढ़ियों से नीचे उतरकर आते और हमारे लिए तसवीरें बनाते जोकि हमे कला का सर्वोच्च नमूना मालूम होती थीं। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार एक बार उन्होने मुझसे पुश्किन की कवितायें पढ़वाकर सुनी, वे मुझे बहुत अच्छी लगीं और मैंने उन्हे कण्ठस्थ कर लिया। वे कवितायें "समुद्र की ओर" "ओ मुक्त तत्त्व, जाओ-जाओ !" और "नेपोलियन से" है।

मै जिस हृदयस्पर्शी और मार्मिक ढंग से इन कविताओं को गाया करता था, वह उन्हे बहुत ही अच्छा लगता था। मुझसे ये कवितायें सुनने के बाद वह और याज़ीकोव, जो अक्सर ऐसे वक्त वहाँ होते थे, एक दूसरे

---

* फ्रॉण्डियर्स फ्रास में, उस समय जबकि लुई चौदहवे नाबालिग थे, एक पार्टी थी जो राजसत्ता का विरोध करती थी। उसको मिटाने के लिए फ्राडी की लड़ाई भी हुई थी।

की ओर मर्मभरी दृष्टि से देखते थे। मै समझ जाता कि ये मेरे कविता पढ़ने के ढंग मे कुछ अच्छाई समझते है, अत मै इस पर बड़ा खुश होता।

दोपहर के या रात के भोजन के समय उनकी व्यंग और विनोद-भरी बातें और कहानियाँ और किस प्रकार हम, हमारी दादी, हमारी बुआयें और सब बच्चे उन्हे सुनते और हँसते थे, मुझे अबतक याद है। मुझे उनकी नगर की यात्रायें भी याद है। जब वह अपना फ्रॉक-कोट और तंग मोहड़ी का पाजामा पहनते, उस समय कितने सुन्दर लगते थे। लेकिन कुत्तों के साथ शिकार के समय की मुझे सबसे ज़्यादा याद है। शिकार के लिए उनका जाना, हमारा भी उनके साथ घूमने जाना और किस प्रकार उनके जवान शिकारी कुत्ते उस लम्बी-लम्बी घास से जो कभी उनके पेट में चुभ जाती और कभी बदन पर लगती, उत्तेजित हो उठते और पूँछ खड़ी करके चारों ओर भागते और किस प्रकार मेरे पिताजी उनकी तारीफ करते, ये सब बातें मुझे याद है। मुझे याद है कि किस प्रकार पहली सितम्बर को, शिकार की छुट्टी के दिन, हम सब गाड़ी मे बैठकर उस जंगल में गये जहाँ एक लोमड़ी लाई गई थी, किस प्रकार शिकारी कुत्तो ने उसका पीछा किया और किस प्रकार उन्होंने उसे किसी स्थान पर, जहाँ हम उन्हे न देख सके, पकड़ लिया। उसी प्रकार मुझे एक भेड़िये के अपने घर के पास लाये जाने और हम सब बच्चों के नंगे पैर उसे देखने वहाँ जाने की भी बिल्कुल साफ़ याद है। वह भूरे रंग का विशाल भेड़िया था और एक गाड़ी में उसके पैर बाँधकर, बन्द करके उसे लाया गया था। वह गाड़ी मे चुपचाप लेटा था, लेकिन जो भी कोई उसके पास जाता उसकी ओर वह तिरछी निगाह से देखता था। बाग के पीछे एक जगह पहुँचने पर भेड़िये को बाहर निकाला गया और उसके पैर खोलकर दो-दो लकड़ियो की कमानी (टिकटी) से उसे ज़मीन पर दबाये रक्खा। लोगो ने उसके पैर की रस्सी खोलनी शुरू की। वह रस्सी से झगड़ने, उसे झंझोड़ने और दाँतों से काटने लगा। आखिर लोगो ने पीछे से रस्सी खोल दी और उनमें से एक चिल्लाया—'उसे छोड़ दो।' कमानियाँ उठा दी गई और भेड़िया भी उठ

बैठा। वह दस सैकण्ड तक चुपचाप बैठा रहा, उसके बाद लोग चिल्लाये और शिकारी कुत्तों को खोल दिया। बस फिर क्या था, भेड़िया, कुत्ते, घुड़सवार, शिकारी सब सामने का मैदान पार करके पहाड़ के नीचे तराई में पहुँच गये। लेकिन भेड़िया भाग गया। मुझे याद है कि इस पर पिताजी घर आकर नाराज़ हुए।

लेकिन मुझे मेरे पिता सबसे अच्छे उस समय लगते थे जब वह दीवार के सहारे एक बड़े तख़्त पर मेरी दादी के साथ पेशेन्स* खेलने के लिए ताश के पत्ते फैलाने में उनकी सहायता करते। वह हरएक आदमी के प्रति नम्र और मृदु-भाषी थे; लेकिन मेरी दादी के प्रति तो खास तौर से विनम्र थे। मेरी दादी अपनी लम्बी ठोड़ी झुकाये और सिर पर एक झालदार टेढ़ी टोपी लगाये, तख़्त पर बैठी रहतीं और ताश के पत्ते खोल-खोलकर सामने रखती जाती थीं। बीच-बीच में वह अपनी सोने की सुँघनी से चुटकी भर-भरकर सूँघती जाती थीं।

मेरे पिताजी जब-जब दादी के साथ सोफ़ा पर बैठकर उसे पेशेंस खेलने में मदद किया करते थे, तब-तब की स्मृतियाँ सबसे अधिक मधुर हैं। एक बार, मुझे याद है; पेशेंस खेल के दर्मियान में जबकि मेरी बुआयें ज़ोर-ज़ोर से पढ़ रही थीं, उनमें से एक को बीच में रोका, एक आइने की तरफ़ इशारा किया और धीरे से कुछ कहा। हम सब उधर देखने लगे। बात यह थी कि एक नौकर टीखोन जो यह समझकर कि मेरे पिता दीवानखाने में होंगे, पढ़ने के कमरे में वहाँ रक्खे हुए एक बड़े तह होनेवाले तम्बाकू के थैले में से तम्बाकू चुराने को चला जा रहा था। पिता ने उसे आइने में देखा कि वह पंजे के बल चुपके-चुपके जा रहा था। बुआयें हँसने लगीं, दादी बड़ी देर तक न समझ सकीं, पर जब समझ गईं तो वे भी मुस्करा दीं। मैं अपने पिता से बहुत मुहब्बत रखता था, लेकिन वह मुहब्बत कितनी गहरी थी, यह तभी मालूम हुआ, जब वह मर गये।

---

* पेशेन्स ताश का एक खेल है जिसे एक आदमी अकेला ही खेलता है। बच्चे बहुधा अकेले बैठे-बैठे कोई-न-कोई खेल खेलते रहते हैं।

तख्त के पास एक आराम कुर्सी पर खुदाई के काम की बन्दूक बनाने वाली पेट्रोव्ना कारतूसो का पट्टा और एक तंग और छोटी सी जाकट पहने बैठी रहती। अक्सर वह कातती रहती और रील को दीवार पर दे मारती, जिसकी चोट से दीवार पर निशान पड़ गये थे। यह पेट्रोव्ना एक व्यापारी स्त्री थी, जिसे मेरी दादी चाहती थीं। वह अक्सर हम लोगों के साथ रहती थी और दादी के तख़्त के पास ही बैठा करती थी। मेरी बुआयें आराम-कुर्सी पर बैठी रहती और उनमें से एक ज़ोर-ज़ोर से पढती रहती थी। दूसरी आराम-कुर्सी पर पिताजी की प्यारी कुत्ती मिल्का ने अपनी जगह बना रक्खी थी, जिसके सुन्दर काली-काली आँखें और चितकबरा रंग था और वह बड़ी तेजस्वी कुत्ती थी, हम लोग भी कभी-कभी रात को प्रणाम करने जाते और कुछ देर के लिए वहाँ ठहर जाते।

× × ×

बचपन मे टब मे नहाने और कपड़े में बाँधकर* डाल दिये जाने के ये मेरे संस्मरण सबसे पहले के हैं। मै उन्हे एक क्रम से तो नही लिख सकता, क्योंकि मुझे मालूम नही कि उनमे कौन-सा पहला और कौन-सा दूसरा है। उनमे से कुछ के विषयमें तो मुझे यह भी नही मालूम कि वे बातें स्वप्न मे हुई या जाग्रत अवस्था में। मै लिपटा-लिपटाया पड़ा रहता, अपने हाथ फैलाने का प्रयत्न करता, परन्तु फैला नही सकता था। मै रोता और चिल्लाता। यह रोना-चिल्लाना मुझे स्वयं अच्छा नहीं लगता था, परन्तु मै चुप भी नही रह सकता था। उस समय कोई—मुझे याद नही कौन—आता और मेरे ऊपर झुकता। यह सब बाते कुछ-कुछ अँधेरे में होती थी। मुझे मालूम था कि वह दो ही आदमी हैं। मेरे रोने-चिल्लाने से वे भी विचलित होते, परन्तु जैसा कि मै चाहता था, मुझे खोलते नही थे। अत मैं और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता। वे तो यह समझते थे कि इस प्रकार मुझे बाँधे रखना आवश्यक है, परन्तु मैं इसे बिल्कुल अनावश्यक समझता था और यही बात उन्हें

* रूस में यह प्रथा थी कि छोटे-छोटे बालकों को कपडे में इस प्रकार लपेट देते थे कि वह हिल-डुल न सके और हाथ-पैर न चला सके।

सिद्ध करके दिखाना चाहता था। अतः मै ज़ोर-ज़ोर से रोने और चिल्लाने लगता था। यह चिल्लाहट स्वयं मुझे अप्रिय थी, परन्तु मै इसे रोक नहीं सकता था। मै इस अन्याय और अत्याचार का—मनुष्यो का नहीं, क्योंकि वे तो मुझ पर तरस खाते थे, वरन भाग्य का अनुभव करता और अपने ऊपर रोता था। लेकिन यह सब था क्या, इसके सम्बन्ध में न तो मै जानता हूँ और न कभी भविष्य में जानने की सम्भावना ही है कि आया उस समय मुझे बॉधकर डाला जाता था जबकि मै दूध पीता बच्चा ही था (और मै अपने हाथ छुडाने के लिए प्रयत्न करता रहता था) अथवा लोग मुझे उस समय भी बॉधकर डाल देते थे जबकि मैं एक साल का हो गया था ताकि मै कोई फोडा-फुन्सी न खुरच डालूँ, अथवा यह एक ही अनुभूति है और इस एक ही अनुभूति में अन्य बहुत से अनुभव भी आ मिले है, जैसाकि अधिकतर स्वप्नावस्था मे होता है। लेकिन हॉ, यह तो निश्चित है कि यह मेरे जीवन का सबसे पहली और सबसे अच्छी स्मृति है। मेरे हृदय पर इसकी जो छाप है, वह रोने-चिल्लाने की स्मृतिमात्र ही नहीं है, अपितु उन अनुभूतियो के पेचीदेपन और पारस्परिक विरोधिता की छाप है। मैं स्वतन्त्रता चाहता हूँ, इससे किसी को नुकसान न पहुँचेगा; परन्तु सारी बात तो यह है कि मै, जिसे शक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता है, कमज़ोर हूँ, जबकि वे बलवान हैं।

दूसरी स्मृति भी बड़ी सुखद है। मैं एक टब में बैठा हुआ हूँ। मेरे चारो ओर किसी चीज़ की, जिससे वे मेरा छोटा-सा शरीर रगड़ रहे हैं एक तरह की गन्ध फैल रही है जो अप्रिय नहीं है। मेरे विचार से वह चोकर है जो मुझे नहलाने के टब में डाल दी गई है। उस चोकर की गन्ध व स्पर्श से जो सुन्दर व अभूतपूर्व संवेदना उठी उसने मुझे जाग्रत कर दिया और पहली बार ही मुझे अपने शरीर का, जिसकी छाती पर पतली-पतली हड्डियॉ साफ दिखाई दे रही थीं, चिकनी लकड़ी के गहरे रंग के टब का, धाय मॉ के खुले हाथो का, भाप उठते हुए और चक्कर खाते हुए गरम पानी का, छपछपाने की आवाज़ का, टब के गीले किनारो पर हाथ फेरने पर

उसकी चिकनाई का भान और बोध हुआ और ये सब चीज़े मुझे अच्छी लगने लगी।

यह सोचकर आश्चर्य और भय मालूम होता है कि तीन साल की आयु तक की (जबतक कि मैं माता का दूध पीता था और जबकि मैंने माता का दूध पीना छोडा और पहले-पहल घुटनो के बल चलना, कुछ बोलना और कुछ चलना सीखा ही था) मुझे उन दो बातों (अर्थात् नहाने और कपडे मे बँधे पडे रहने) के अतिरिक्त बहुत दिमाग़ खरोंचने पर भी कोई घटना याद नही आती। आखिर मैं इस संसार मे कब आया ? मेरा जीवन कब आरम्भ हुआ ? उस समय की, जिसकी मुझे एक भी घटना याद नही है, कल्पना कितनी सुखद है। लेकिन साथ ही और लोगो के समान मेरा हृदय भी यह सोचकर थर्रा उठता है कि मृत्यु के समय भी ऐसी ही अवस्था हो जायगी जबकि जीवन की किसी घटना की स्मृति नही रहेगी, जिसे शब्दो द्वारा व्यक्त किया जा सके। क्या मै उस समय जीवित नही था जबकि मै देखना, सुनना, समझना, बोलना, स्तनपान करना, हँसना और इस प्रकार अपनी माता को प्रसन्न करना सीख रहा था ? नही, मै जीवित था और आनन्द मे रह रहा था। लेकिन क्या उस समय मेरे पास वे सब चीज़ें नही थी जोकि अब मेरे जीवन का आधार है ? क्या उस समय मैने इतनी अधिक विभूति प्राप्त नही की जिसका सौवॉ भाग भी अपने बाद के सारे जीवन में फिर प्राप्त नही हुआ ? पॉच साल के बालक से इस आयु तक मानों मै एक क़दम चला हूँ। जन्म के समय से पॉच साल की आयु तक बड़ा लम्बा रास्ता था, गर्भ मे आने के समय से जन्म होने के बीच एक लम्बी खाई थी, और गर्भ में आने की पूर्व स्थिति से गर्भ मे आने का बीच अगम्य और अचिन्त्य है। तीन तत्व आकाश, काल, कारण व कार्य हमारी कल्पना के ही मूर्त रूप है। हमारे जीवन का सार इन कल्पनाओ से परे ही नही है अपितु हमारा सारा जीवन इन कल्पनाओं का अधिकाधिक दास होते जाना और फिर उनसे मुक्त होना ही है।

× × ×

टब के बाद जो तीसरा अनुभव आता है वह ईरीमीवना का है। 'ईरीमीवना' वह हौवा था जिससे लोग हम बच्चों को डराया करते थे। शायद वे बहुत समय से इस तरह हमें डराते रहे होंगे, परन्तु मुझे जो इसकी याद है, वह यों है · मैं अपने बिस्तरे पर पड़ा हूँ और रोज की तरह प्रसन्न हूँ। इसी समय मुझे पालने-पोसनेवालों में से कोई आता और एक नई-सी आवाज़ बनाकर मेरे सामने कुछ कहकर चला जाता। मैं प्रसन्न होने के साथ-साथ डर भी जाता। मेरे साथ मेरे कमरे में मेरे जैसा ही कोई और भी होता। सम्भवतः वह मेरी बहन मारया थी। उसका पालना भी मेरे ही कमरे में था। मुझे याद है कि मेरे पालने के पास एक परदा भी पडा हुआ था। मै और मेरी बहन दोनो इस अद्‌भुत घटना पर जो वि घटनेवाली है, प्रसन्न भी होते और डरते भी। मै तकिये में छिप जात और उसके नीचे से दरवाजे की ओर देखता। दरवाजों मे से मै को: अद्‌भुत और प्रसन्नता देनेवाली वस्तु के आने की आशा रखता था। उर वक्त कोई ऐसे कपड़े और टोपी पहने हुए आता जिसे पहले मैने कभी न देखा था। मै इतना तो अवश्य जान जाता कि यह व्यक्ति हमारा परिचित है (वह हमारी बुआ थी या धाय, यह मुझे याद नही) और वह किन्हीं बुरे बच्चो और ईरीमीवना के विषय में कर्कश स्वर मे न जाने क्या कहता था। मै सचमुच डर जाता और डर से और प्रसन्नता से किलकारियाँ मारता, परन्तु फिर भी उस डर मे मुझे आनन्द आता और मैं यह नहीं चाहता था कि मुझे डरानेवाला व्यक्ति यह समझ जाये कि मैने उसे पहचान लिया है।

इसी ईरीमीवना से मिलता-जुलता एक और अनुभव है और चूँकि वह इस अनुभव से अधिक स्पष्ट है, अत मै समझता हूँ कि वह काफ़ी बाद का है। इसका आशय मैं आजतक नही समझ सका हूँ। इस घटना मे हमारे जर्मन शिक्षक थियोडोर इवानिच का प्रमुख भाग है। किन्तु चूँकि उस समय तक मै उनको नही सौंपा गया था, इसलिए मै समझता हूँ कि यह घटना मेरी ५ साल की आयु के पहले की होगी। अपनी याद मे

थियोडोर इवानिच के सम्पर्क मे आने का यह मेरा पहला अवसर था और यह घटना भी इतने पहले हुई कि इसमे भी मुझे थियोडोर के अतिरिक्त अपने भाइयो या पिता की जरा भी याद नही। यदि इस सम्बन्ध में मुझे किसी का ज़रा भी खयाल है तो वह मेरी बहन का है और वह भी इसलिए कि वह मेरी ही तरह ईरीमीवना से डरती थी। इस घटना के साथ-साथ मुझे एक बात और याद है और वह यह कि हमारे मकान में एक ऊपर को मंजिल और थी। मै उस मंजिल मे कैसे पहुँचा, अपने आप गया अथवा कोई दूसरा आदमी मुझे ले गया, यह तो मुझे याद नही, लेकिन यह मुझे अवश्य याद है कि हममे से बहुतो ने वहाँ पहुँचकर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर घेरा बना लिया। हमारे साथ कुछ स्त्रियाँ भी थीं, जिन्हे मैं नही जानता। परन्तु हाँ, किसी भी प्रकार मुझे यह मालूम हो गया कि वे धोबिनें थीं। हम सब गोल चक्कर में घूमते और कूदते। थियोडोर ईवानिच बहुत ऊँचे-ऊँचे पैर उठाता और बड़ी आवाज़ से ज़मीन पर पटकता। मैने उसी समय यह महसूस किया कि यह बात ग़लत और खेल को बिगाडनेवाली है। मै उसे देखता और (शायद) चिल्लाने लगता। बस उसी वक्त सारा खेल खत्म हो जाता।

बस पाँच साल तक मुझे इतना ही याद है। इसके अलावा मुझे अपनी धायो, बुआओ, बहिनो, भाइयों, यहाँ तक कि पिताजी व अपने कमरो और अपने खिलौनो तक की भी याद नही। अपने बाल्य-जीवन की घटनाओ की अधिक स्पष्ट स्मृति तो उस समय से आरम्भ होती है, जबकि मै नीचे की मंजिल मे थियोडोर इवानिच तथा बड़े-बड़े लड़को के पास पुरुष-गृह मे आ गया।

जबकि मै नीचे थियोडोर इवानिच और बड़े लड़कों के पास आ गया, उसी समय जीवन मे पहली बार और इसीलिए अधिक तीव्रता से मुझे उस भावना का और उन धार्मिक आचरणो का अनुभव हुआ, जिसे कर्तव्य की भावना कहते है और जिनका पालन हरएक को करना पड़ता है। जन्म से ही जिन चीज़ो और जिन आदतो का मै आदी हो गया था, उन्हें छोड़ना

कठिन था। मैं स्वभावतः ही उदास रहने लगा, इसलिए नहीं कि मैं अपनी धाय से, बहन से और बुआ से अलग हो गया बल्कि यह उदासी इसलिए थी कि मैं अपने पालने, अपने परदे और अपने तकिये से बिछुड़ गया था। यही नहीं मैं अपने उस नये जीवन से, जिसमें कि मैं प्रवेश कर रहा था, कुछ डरने-सा लगा। मैं उस भावी जीवन के अच्छे अंश को ही देखने और थियोडोर के लाड़ और दुलार-भरे शब्दों में विश्वास करने की कोशिश करता था। मैंने उस अपमान और घृणा के भाव की ओर से आँखें मूँद लीं, जो मुझ सबसे छोटे लड़के के प्रति दूसरे लड़के दिखाते थे। मैं इस बात को अपने मनमें बिठाने की कोशिश करने लगा कि एक बडे लड़के का लड़कियों के साथ रहना शर्म की बात है और यह भी कि धाय आदि के साथ ऊपर की मंजिल में (अर्थात् रनवास मे) जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं है। परन्तु फिर भी मेरा मन सदैव उदास रहता था और मैं जानता था कि मेरा भोलापन और आनन्द इस बुरी तरह नष्ट हो रहा है और अब वह फिर कभी प्राप्त न होगा। बस, आत्माभिमान और आत्म-गौरव तथा कर्तव्य-पालन की भावना ही ऐसी थी जिसने मुझे रोक रक्खा। इसी तरह भावी जीवन मे कोई नया काम आरम्भ करते समय किसी दुविधा में या धर्म-संकट मे पड़ जाने पर मै इन्हीं दो भावनाओ से किसी निश्चय पर पहुँचता था। मुझे उस हानि पर, जिसकी मै पूर्ति नहीं कर सकता था, बड़ा दुःख होता था। यद्यपि मुझसे यह कहा गया था कि अब मुझे लड़कों के साथ रक्खा जाना चाहिए, परन्तु इस पर भी मै तो कभी यह विश्वास ही नही कर सका कि ऐसा कभी होगा। जो गाउन मुझे पहनाया जाता था उसमे एक पेटी भी कमर में बाँधने के लिए थी और मुझे ऐसा मालूम होता था मानो इस पेटी मे सदा के लिए ऊपर की मंजिल (जहाँ स्त्रियाँ रहती है अथवा यदि राजसी-भाषा में कहें तो रनवास) से मेरा सम्बन्ध तोड़ दिया है। उस वक्त जिन सब व्यक्तियो के साथ मै रह चुका था उनका ख़याल तो मुझे आया नही मगर वहाँ की एक मुख्य स्त्री का, जिसके बारे मे इसके पहले की कोई बातें मुझे याद नहीं है, ख़याल आया। वह महिला

थी टाशियाना एलेक्ज़ेण्ड्रोवना एर्गोल्स्की। मुझे उनका ठिगना व सुगठित शरीर, काले-काले केश, दयालु और नम्र स्वभाव अब भी याद है। उन्होंने ही वह गाउन मुझे पहनाया था और मुझे छाती से लगाकर चूमते हुए उन्होंने ही मेरी कमर में पेटी बाँधी थी। उस समय मैंने देखा कि वह भी मेरे जैसा ही अनुभव कर रही थीं कि यह अवसर दुःख और बड़े दुःख का अवसर है। परन्तु यह तो होता ही है। उसी समय जीवन में पहली बार मैंने जाना कि जीवन कोई खेल नहीं वरन् गम्भीर वस्तु है।

× × × ×

मेरे माता-पिता के बाद, जिसका मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा, वह मेरी बुआ टाशियाना ऐलेक्ज़ेण्ड्रोव्ना ऐर्गोल्स्की है जिन्हे हम 'ऑण्टी' कहा करते थे। वह मेरी दादी के पीहर के नाते की कोई बहुत दूर की रिश्तेदार थी। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद वह और उनकी बहन लीसा अनाथ हो गई। लीसा ने बाद मे पीटर ईवानोविच टाल्स्टाय से विवाह कर लिया था। उनके कुछ भाई थे जिनके पालन-पोपण का प्रबन्ध उनके सम्बन्धियों ने किसी प्रकार कर दिया था। लेकिन चर्न ज़िले में अपने क्षेत्रों में प्रसिद्ध, अभिमानी और प्रमुख महिला टाशियाना सीमीनोव्ना स्कूरेटोव और मेरी दादी ने दोनों लड़कियों को शिक्षा देने के लिए ले जाने का निश्चय किया। उन्होंने कई पर्चियों पर उनके नाम लिखकर उन्हे मोड़कर एक देव-मूर्ति के सामने डाल दिया और उसकी प्रार्थना कर लाटरी उठाई। लीसा टाशियाना सीमीनोव्ना के हिस्से में आई और दूसरी मेरी दादी के। हम उन्हें तेनिश्का कहकर पुकारा करते थे। उनका जन्म सन् १७६५ में हुआ था। उनकी आयु मेरे पिता के बराबर थी। उन्हे मेरी बुआओं के बराबर ही शिक्षा दी गई थी और घर में सब लोग उन्हें प्यार करते थे। कोई उनसे नाराज़ तो हो ही नही सकता था; क्योंकि वह दृढ, उत्साही और आत्म-त्याग करनेवाली, चरित्रवान महिला थी। उनके चरित्र की दृढ़ता एक घटना से साफ झलकती है जो हमे हाथ में हथेली के बराबर जले स्थान का दाग़ दिखाकर सुनाया करती थी। वे सब बच्चे म्यूकियस स्केवोला की कहानी सुना करते थे और यह कहा करते थे

कि जैसा उसने किया वैसा कोई नहीं कर सकता। तेनिश्का ने कहा, 'मैं भी वही काम करके दिखाऊँगी।' मेरे धर्म-पिता याजीकोव ने कहा, 'तुम वह काम नहीं कर सकतीं।' और उन्होंने तुरन्त एक रूल मोमबत्ती में गरम किया और जब वह जल गया और उसमें से धुंआ निकलने लगा तो उन्होंने कहा, 'लो, अब इसे अपने हाथ पर लगाओ।' तेनिश्का ने अपना खुला हाथ बढ़ा दिया (उस समय लड़कियाँ आधी बाँहों का कपड़ा ही पहनती थीं) और याजीकोव ने वह जलता हुआ रूल उनके हाथ पर दबा दिया। वह खीजीं तो, परन्तु उन्होंने अपना हाथ पीछे न हटाया, और उस समय तक उफ़ न किया जबतक याजीकोव ने वह रूल हटा नहीं लिया। इस रूल के साथ ही उनके हाथ की चमड़ी भी उपड़ गई। जब घर के बड़े आदमियों ने पूछा कि यह कैसे जल गया तो उन्होंने कहा कि यह मैंने अपने हाथ से जला लिया है, क्योंकि मैं भी यह देखना चाहती थी कि म्यूकियस स्केवोला को उस समय कैसा अनुभव हुआ होगा।

उनका और बातों में भी यही हाल रहता था। वह दृढ़ रहतीं, परन्तु साथ ही आत्म-त्याग भी करतीं। घने, काले और घुँघराले बालों की गुथी हुई लटों, एकदम काली आँखों तथा प्रफुल्ल और उत्साह से भरी हुई मुखाकृति से वह बड़ी सुन्दर और आकर्षक मालूम पड़ती थीं।

सम्भवत वह मेरे पिता को प्यार करती थीं, परन्तु उन्होंने उनसे उस समय, जबकि दोनों जवान थे, विवाह नहीं किया। उन्होंने सोचा कि अच्छा हो यदि मेरे पिता मेरी धनी माता से विवाह करें। बाद में (अर्थात् मेरी माता की मृत्यु के बाद) उन्होंने इसलिए उनसे विवाह नहीं किया कि वह उनके और पिताजी के तथा उनके और हमारे बीच के काव्यमय सम्बन्ध को बिगाड़ना नहीं चाहती थीं। एक सुन्दर बस्ते में बँधे उनके कागज़ों में सन् १८३६ की यानी मेरी माता की मृत्यु के ६ साल बाद की लिखी हुई निम्न पंक्तियाँ मिली हैं—

"१६ अगस्त १८३६। निकोलस ने मेरे सामने आज एक विचित्र प्रस्ताव रक्खा, वह यह कि मैं उससे विवाह कर लूँ और उसके बच्चों की

माता वन जाऊं तथा उन्हें कभी न छोड़ूं। मैंने पहला प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया, लेकिन दूसरे को जीवन रहते निवाहने का वायदा किया है।"

इस प्रकार उन्होंने लिखा, लेकिन उन्होंने इस वात का हमसे या किसी और से कभी ज़िक्र नहीं किया। पिताजी की मृत्यु के बाद उन्होंने उनकी दूसरी वात पूरी की। हमारी दो वुआयें और एक दादी थीं, जिनका हमारे ऊपर टाशियाना ऐलेक्ज़ेण्ड्रोव्ना से अधिक अधिकार था; फिर भी टाशियाना ऐलेक्ज़ेण्ड्रोव्ना का (जिन्हें 'ऑण्टी' कहने की हमारी आदत पड़ गई थी अन्यथा रिश्ते में तो वह हमसे इतनी दूर थीं कि मैं उस सम्बन्ध की याद भी नहीं कर सकता) हमारे पालन-पोपण में उनके (घायल हंस की कथा में वुद्ध के समान) प्रेम के कारण ही उनका पहला स्थान था और हम यह मानते भी थे।

मैं तो उनके प्रति अपार प्रेम में उन्मत्त हो जाया करता था। मुझे याद है कि किस प्रकार एक वार जव मैं पॉच वर्ष का था, डाइंग रूम में तख्त के ऊपर पीछे की ओर से हाथ डालकर उनसे लिपट गया और किस प्रकार दुलार और प्यार से उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैंने भी उनका हाथ पकड़ लिया और उसे चूमने लगा और प्रेम में मग्न होकर किलकारियॉ मारने लगा।

एक अमीर घराने की लड़की के समान ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। वह रूसी भाषा से फ्रांसीसी भाषा अच्छी लिख और बोल सकती थीं। पियानो भी वहुत सुन्दर वजाती थीं, परन्तु पिछले ३० सालों से उन्होंने उसे छुआ तक नहीं था। उन्होंने उसे वजाना उसी समय शुरू किया जव मैं वड़ा हो गया और मैं भी पियानो वजाना सीखने लगा, कभी-कभी जव हम दोनों मिलकर गाते तो वह अपने मधुर स्वर, ठीक उतार-चढ़ाव और ताल-स्वर मिले हुए गाने से मुझे चकित कर देतीं।

अपने नौकरों के प्रति वह वडी दयालु थीं। उनसे कभी नाराज़ होकर नहीं वोलती थीं। उनको मारने और पीटने का तो विचार भी उन्हें सह्य नहीं था। फिर भी इतना मानती थीं कि दास तो आखिर दास ही है और

उनके साथ मालकिनो जैसा वर्ताव करती थीं। वे दास उन्हें एक असाधारण मालकिन मानते थे और प्रत्येक दास उन्हें प्यार करता था। जब उनकी मृत्यु हुई और उनका शव अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए गॉव में होकर ले जाया जा रहा था, उस समय सारे-के-सारे किसान अपने घरों से निकल आये और उनके लिए प्रार्थना करने का आदेश किया।* उनका एकमात्र विशेष गुण उनका प्रेम था, लेकिन वह प्रेम, जैसा कि मै चाहता था कि वह न होता, केवल एक ही आदमी अर्थात् पिताजी के प्रति था। उनका प्रेम उसी केन्द्र से सबके लिए फैलकर जाता था। हम यह अनुभव करते थे कि वह हमें हमारे पिता के कारण ही प्रेम करती हैं। वह उनके द्वारा ही किसी और को प्रेम करती थीं, क्योंकि उनका सारा जीवन ही प्रेम से बना हुआ था—प्रेममय था।

यद्यपि हमारे प्रति उनके प्रेम के कारण उनका हमारे ऊपर अधिक अधिकार था, लेकिन फिर भी हमारी बुआओं का हमारे ऊपर उनसे अधिक कानूनी अधिकार था और जब पेलागेया इलीनिच्ना हमे कज़ान ले जाने लगी, तो वह उनका अधिकार मान गई। लेकिन इससे हमारे प्रति उनके प्रेम मे तिल मात्र भी अन्तर नहीं आया। यद्यपि वह अपनी बहन काउण्टेस ई० ए० टॉल्स्टाय के साथ रहती थीं, लेकिन वास्तव में उनका मन हमारे यहॉ रहता था। और यथासम्भव जल्दी-से-जल्दी हमारे यहॉ लौट आती थीं। वह अपने जीवन के अन्तिम २० दिनों मे हमारे साथ यास्नाया पॉल्याना मे रही और यह मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता की बात थी। लेकिन हम उस खुशी का मूल्य ऑकने में असमर्थ थे; क्योंकि सच्ची खुशी तो शान्त होती है और हमें उसका ज्ञान तो क्या भान तक नहीं होता। मैं उसकी कदर अवश्य करता था, लेकिन वह पर्याप्त नहीं थी। उन्हे अपने

* उस समय मृत व्यक्ति की आत्मा की शान्ति के लिए पादरियों को थोड़ी-सी दक्षिणा देकर प्रार्थना कराने की प्रथा तो थी, परन्तु किसानों द्वारा किसी महिला के लिए, जो कि उनके गॉव की मालकिन भी न हो, ऐसी प्रार्थनायें कराना असाधारण बात थी।

में बैठे हुए थे, हलके-हलके पैर रखता हुआ जल्दी से आया और बीच कमरे में पहुँचते ही घुटनो के बल गिर पड़ा। उसके हाथ में जो सुलगती हुई सिगरेट-पाइप थी, वह भी ज़मीन पर गिरी और उससे जो चिनगारियाँ उड़ीं, उनका प्रकाश उसके मुख पर पड़ा। उसमें हमने देखा कि वह टेमी अशोव है। वह पिताजी के सामने घुटनों के बल पड़ा हुआ कुछ प्रार्थना कर रहा था। मैं नहीं जानता कि उसने क्या कहा, क्योंकि मैं उसकी बात सुन ही न सका। मुझे तो बाद में यह मालूम हुआ कि वह मेरे पिता के सामने घुटने टेककर इसलिए खड़ा हुआ कि वह अपनी नाजायज़ लड़की ब्यूनेस्का को, जिसके विषय में वह पहले भी पिताजी से कह चुका था, पिताजी के पास लाया था और उनसे प्रार्थना कर रहा था कि वह उसे अपने पास रक्खें और अपने बच्चो के साथ-साथ शिक्षा दे। उसके बादसे ही हमने अपने बीच मेरी उम्र की चौड़े मुँह वाली एक बालिका ब्यूनेस्का और उसकी धाय-माँ एव्प्रेक्शीया को देखा। यह धाय एक लम्बे कद की बूढ़ी औरत थी। उसके मुँह पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं और तुर्की मुर्गे की-सी उसकी ठुड्डी पर एक गाँठ थी, जिसे हम घूरकर देखा करते थे।

इस प्रकार ब्यूनेस्का का हमारे घर मे आना पिताजी और टेमी अशोव के बीच हुए किसी जटिल लेन-देन के फलस्वरूप हुआ था।

टेमी अशोव बहुत धनी आदमी था; लेकिन उसके कोई जायज़ सन्तान न थी। हाँ, दो लड़कियाँ थीं; एक तो डोनेस्का और दूसरी वेरोस्का, जिसकी पीठ पर कूबड़ निकल रही थी। इनकी माता मरफूशा एक दासी की लड़की थी। टेमी अशोव की उत्तराधिकारिणी उसकी दो बहिनें थीं। वह उनके लिए अपनी सारी शेष सम्पत्ति छोड़ रहा था; लेकिन पीरोगोव जागीर, जहाँ वह रहता था, पिताजी को इस शर्त पर देना चाहता था कि पिताजी उस गाँव को उन दोनों लड़कियो को दे दें। इस गाँव का दाम तीन लाख रूबल था और उस समय यह भी कहा जाता था कि पीरोगोव जागीर का मूल्य इससे कहीं ज्यादा है, क्योंकि उसमें सोने की खान है। इसके लिए यह चाल चली गई कि टेमी अशोव पिताजी को एक रसीद देगा, जिसमें तीन लाख

रूवल के लिए पिरोगोव जागीर मेरे पिता को वेची हुई दिखाई जायगा। मेरे पिता ने हाथ के लिखे हुए एक-एक लाख रूवल के तीन नोट इस्लेनेव याज़ीकोव और ग्लेवोव को दिये। टेमी अशोव की मृत्यु होने पर पिताजी को वह जागीर मिलनी थी, जिसके वदले मे उसे तीन लाख रूवल उन दोनो कन्याओ को देने थे। इस्लेनेव याज़ीकोव और ग्लोवोव को पहले ही वतला दिया गया था कि उन्हें हाथ के लिखे नोट क्यो दिये जा रहे है।

शायद मैं सारी योजना को ठीक से नहीं वतला सका होऊँ; लेकिन इतना मुझे निश्चित रूप से मालूम है कि मेरे पिता की मृत्यु के वाद वह जागीर हमें मिली और इस्लेनेव, ग्लेवोव और याज़ीकोव के पास हाथ के लिखे हुए एक-एक लाख रूवल के नोट निकले। जव हमारे संरक्षक ने उन नोटों को भुनाया तो इस्लेनेव और ग्लोवोव ने तो एक-एक लाख रूवल दे दिये, लेकिन याज़ीकोव सारा रुपया हड़प गया।

ज्यूनेश्का हमारे साथ ही रहती थी। वह सीधी-सादी और शान्त लड़की थी, लेकिन वह चतुर नहीं थी, और वहुत रोनेवाली बच्ची थी। मुझे याद है कि उसे अक्षरज्ञान कराने का काम मुझे सौपा गया था, क्योंकि मुझे उस वक्त तक फ्रेंच भाषा पढ़ना आ गया था। पहले तो सब ठीक-ठाक चलता रहा, क्योंकि मै भी पॉच साल का था और वह भी पॉच साल की थी। परन्तु वाद मे वह उकता गई और जो शब्द मै उसे वताता, उसका ठीक-ठीक उच्चारण नही करती। वह चिल्लाने लगती और उसके साथ-साथ मै भी चिल्लाने लगता, और जिस समय घर के लोग आते, उस समय हमारी ऑखो के निराशा भरे ऑसू हमें एक भी शब्द वोलने से रोक देते।

उसके वारे मे दूसरी वात मुझे यह याद है कि जव कभी रकावी मे से एक वेर गायव हो जाता और उसको चुरानेवाले का पता न चलता तो फीडर इवानोविच वड़ी गम्भीर मुद्रा वनाकर और हमारी ओर दृष्टिपात न करते हुए कहता कि फल खाने मे तो कोई हर्ज़ नहीं, लेकिन अगर किसी ने उसकी गुठली को निगल लिया होगा, तो उसकी मृत्यु तक हो सकती है। वस ज्यूनेश्का तुरन्त घवराकर वोल उठती कि नहीं, उसने उस गुठली को

उगल दिया है। एक बार मेरे भाई मिटेन्का (डिमिट्री) और ल्यूनेरका दोनों ने एक दूसरे के मुँह में एक पीतल की जंज़ीर उगलने का खेल खेलना आरम्भ किया और खेलते-खेलते उसने उस ज़ंजीर को इतने ज़ोर से उगला और मेरे भाई ने भी अपना मुँह इतना अधिक खोल रक्खा था कि जंजीर उसके गले से नीचे उतरकर पेट में चली गई। उस समय घोर निराशा में वह कितना रोई, यह भी मुझे अच्छी तरह याद है। वह उस समय तक रोती रही जबतक कि डाक्टर ने आकर हम सबको शान्त नहीं कर दिया।

वह चतुर लड़की नहीं थी, लेकिन बड़ी सीधी-सादी और अच्छी लड़की थी। सबसे अच्छी बात यह कि वह इतनी चरित्रवाली थी कि यद्यपि वह और हम सब लड़के साथ-साथ खेलते थे, लेकिन उसके और हमारे बीच बिलकुल भाई-बहिन का-सा सम्बन्ध था।

× × ×

मैंने प्रास्कोव्या ईसेव्ना के विषय में अपने 'बचपन' में नटाल्या सेविश्ना के नाम से काफी लिख दिया है। उसके विषय में मैंने जो कुछ लिखा है, वह उसके जीवन से लेकर ही लिखा है। प्रास्कोव्या ईसेव्ना एक सम्भ्रांत महिला थी। यद्यपि वह घर की रखवाली करती थी, लेकिन फिर भी बच्चों का सन्दूक हमेशा उसी के छोटे कमरे में रहता था। उसके सम्बन्ध में मुझे सबसे सुखद स्मृति यह है कि पढ़ाई के बाद या पढ़ाई के घण्टों में भी, उसके छोटे कमरे में बैठकर हम उसकी बातें सुना करते थे। शायद वह भी हमें उस आनन्दमय और सुकुमार अवस्था में, हमारे विकास के समय, हमें देखना चाहती थी। "प्रास्कोव्या ईसेव्ना, दादा लड़ाई में किस प्रकार जाते हैं? क्या घोड़े पर?" इस प्रकार कोई भी उसके साथ बात छेड़ने के लिये बड़बड़ा कर बोलता।

'वह घोड़े की पीठ पर और पैदल सब तरह लड़ाई में लड़े; तभी तो वह प्रधान सेनापति बना दिये गये' वह जवाब देती और साथ ही आलमारी में से थोड़ी-सी धूप, जिसे वह ओशेकोव फ्यूमीगेशन' (ओशेकोव की धूप) कहती, निकाल लेती। जो कुछ वह कहती, उससे यह मालूम होता था

कि हमारे दादा उस धूप को ओशेकोव के घेरे के वाद लाये थे। वह देवता की मूर्ति के सामने जलती हुई मोमवत्ती से एक कागज जलाती और उससे उस धूप को भी जला देती, जिससे वडी सुन्दर सुगन्ध निकलती थी।

एक गीले तौलिये से मुझे पीटकर मेरा अपमान करने के अलावा (जैसा कि मैने 'वचपन' मे वर्णन किया है) उसने एक वार और मुझपर गुस्सा किया। और कामो के साथ उसका एक काम यह भी था कि जव आवश्यकता पडे हमारे एनीमा लगाये। जवकि मैने स्त्रियो के कमरे मे रहना छोड़ दिया था और नीचे की मंज़िल में थियोडोर ईवानोविच के पास आगया था, उस समय एक दिन सवेरे हम सव उठे और तुरन्त ही और भाइयो ने कपड़े पहन लिये। मै ज़रा सुस्त था, इसलिए पीछे रह गया। मैं अपने सोने के कपड़े उतारकर कपडे पहनने ही वाला था कि प्रास्कोव्या ईसेव्ना एक वूढी औरत के समान जल्दी-जल्दी पैर उठाती, अपना सारा सामान लेकर आ गई। इस सामान में एक रवड़ की नली थी जो किसी कारण कपडे मे लिपटी हुई थी, जिसकी वजह से केवल नली का अगला भाग ही दिखाई देता था, और जैतून के तेल से भरी हुई एक रकावी। इस रकावी में नली का मुँह डूवा हुआ था। मुझे देखकर वह यह समझी कि मै भी उन वच्चों मे से एक हूँ, जिसे एनीमा देना है। अत उसने मुझे एनीमा लगाने का निश्चय किया। वास्तव मे वह मेरे भाई को लगाना था, लेकिन मेरा भाई संयोग से अथवा छल से अचानक यह वात पहले से ही भॉप गया। वस्तुत हम सभी वच्चे प्रास्कोव्या से एनीमा लगवाने से वहुत घवराते थे, अत मेरा भाई शीघ्र ही कपडे पहनकर सोने के कमरे से जल्दी वाहर चला गया; और मेरे शपथपूर्वक यह कहने पर भी कि मुझे एनीमा नहीं लगाना है, प्रास्कोव्या न मानी और एनीमा लगा ही दिया।

उसकी ईमानदारी और वफादारी के कारण मै उससे प्रेम करता था, लेकिन उससे अधिक प्रेम इसलिए करता था कि वह और वूढी अन्ना इवेनोव्ना ओशकोव के घेरे के सम्वन्ध में मेरे दादा के रहस्यमय जीवन का प्रतिनिधित्व करती थी।

अन्ना इवेनोव्ना हमारी नौकर नहीं रही थीं; लेकिन तो भी मैंने उसे एक दो वार अपने घर पर देखा था। लोग कहते थे कि उसकी आयु १०० वर्ष की है और उसे पूगाशेव याद है। उसकी आँखे वहुत काली थीं और एक ही दाँत वच रहा था। उसका वुढ़ापा हम वच्चो को वहुत ही भयानक मालूम पड़ता था।

छोटी धाय टाशियाना फिलिप्पोव्ना साँवले रंग की छोटे, परन्तु मोटे-मोटे हाथवाली ठिगने कद की जवान स्त्री थी। वह वूढी धाय ऐनुश्का की मदद किया करती थी। ऐनुश्का के विषय मे तो मुझे कुछ भी याद नहीं, क्योंकि उस समय मैं वहुत छोटा था। मुझे अपने होने या न होने का भान उस समय होता था जवकि मै उसके पास होता था; और चूँकि उस समय मैं अपने को देख और समझ नहीं सकता था, इसलिए मै उसे भी देख और समझ नहीं सकता था. अत: उसके वारे मे मुझे कुछ भी याद नहीं। साफ शव्दो में मैं उस समय इतना छोटा था कि मुझे अपना ही कुछ ज्ञान नहीं था, फिर धाय का कैसे होता ?

लेकिन मुझे ड्यूनेश्का की धाय एवप्रेक्शिया और उसकी गर्दन की गाँठ खूव याद है। हम लोग उसकी गाँठ को छूने के लिए उसके चारो ओर चक्कर लगाते थे। उस समय हृदय मे एक नई भावना यह उठती थी कि हमारी धाय ऐनुश्का सवकी धाय नहीं है। और ड्यूनेश्का अपने लिए पिरोगोवा से खास तौर पर धाय लाई है।

धाय टाशियाना फिलिप्पोव्ना की तो मुझे खूव याद है। क्योंकि मेरी धाय रहने के वाद वह मेरी भतीजियो और मेरे सवसे वड़े लड़के की धाय भी रह चुकी थी। वह उन प्रेमी औरतो मे से थी जो अपने पौष्य-पुत्रो से इतना प्रेम करने लगती है कि फिर उनके सारे हित उन्हीं में केन्द्रित हो जाते है। अपने सम्वन्धियो से फिर उनका इतना ही नाता रह जाता है कि या तो वे उन्हें फुसला कर कुछ रुपया ऐंठ लें या उनकी मृत्यु के वाद उनकी सम्पत्ति के अधिकारी हो जाये।

ऐसी स्त्रियो के भाई, पति और लड़के वडे उड़ाऊ होते है। जहाँ तक

मुझे याद है। टाशियाना फिलिपोव्ना का पति और पुत्र दोनों ऐसे ही फ़िज़ूलखर्च थे। इसी मकान में उसी जगह, जहाँ पर बैठा-बैठा मैं यह संस्मरण लिख रहा हूँ, मैंने उसको बड़े कष्ट से लेकिन साथ ही शान्ति से मरते देखा है।

उसका भाई निकोलस फिलिप्पोविच हमारा कोचवान था। जागीरदारों और जमींदारों के अधिकांश लड़कों के समान हम भी केवल उससे प्रेम ही नहीं करते थे, बल्कि उसे बड़े मान और आदर की दृष्टि से देखते थे। वह विशेष मोटे बूट-जूते पहनता था। उसके पास खड़े होने पर अस्तबल की बू आती थी। उसकी आवाज़ मधुर और गम्भीर थी।

हमारे खानसामा वेसिली ट्रुवेट्सकौय का उल्लेख करना भी ज़रूरी है। वह एक मिलनसार और दयावान् पुरुष था। उसे बच्चों से विशेषकर सर्जा के बच्चों से बहुत प्रेम था। बाद में सर्जा के यहाँ वह नौकर हुआ और वहीं उसका देहान्त भी हुआ। वह हमें एक बड़े थाल में बिठाकर कोठार में ऊपर-नीचे लाता और ले जाता। यह जगह हमें रहस्यमय मालूम पड़ती थी। इससे हमें बड़ा आनन्द आता और हम उससे कहते—"हमें भी" अब की मेरी बारी है। मुझे उसकी प्रेमभरी तिरछी मुस्कान याद है। जब वह हमें गोद में लेता था तो हरएक उसका झुर्रियाँ पड़ा हुआ चेहरा देख सकता था। उसकी एक याद उस वक्त की है जब वह कारबाचेव्का की जागीर को विदा हो रहा था। यह जागीर कुर्स्क प्रान्त में थी और पेट्रोव्स्की से मेरे पिता को विरासत के रूप में मिली थी। वेसिली ट्रुवेट्सकॉय की विदाई बड़े दिन की छुट्टियों में हुई थी, जबकि हम बच्चे कुछ दासों के साथ बड़े कमरे में खेल रहे थे।

बड़े दिन के त्योहार के विनोद की कुछ बातें भी कह देनी चाहिएँ। इन दिनों हमारे घर के सब दास, जिनकी संख्या लगभग ३० के थी बहुरूपियों के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े पहनकर बड़े कमरे में इकट्ठे होते और बहुत से खेल खेला करते थे। ग्रेगोरी, जो सिर्फ़ ऐसे ही मौकों पर हमारे यहाँ आया करता था, बाजा बजाता और वे सब लोग नाचा

करते थे। इससे हमारा बड़ा मनोविनोद होता था। ये लोग भिन्न-भिन्न वेश बनाते थे। कपडे वे ही पिछले सालों के होते थे। कोई भेड़िया बनता, कोई मदारी। कोई बकरी का रूप धारण करता, कोई तुर्की आदमी और औरत बनता था। डाकू और किसान, स्त्री और पुरुषों के भेष धरकर भी वे आते थे। इन विचित्र पोशाकों मे बहुत से मुझे बहुत सुन्दर लगते थे। विशेषकर तुर्की लड़की माशा तो बहुत ही अच्छी लगती थी। कभी-कभी बुआ हमें भी ऐसे ही कपड़े पहना देती थीं। पत्थर लगी हुई पेटी और एक जाल की, जिसके चारों ओर सोने-चाँदी का काम हो रहा हो, इस समय बड़ी माँग रहती थी। मैं भी अपने होठो पर कोयला रगड़कर और काली-काली मूँछे बनाकर अपने को बड़ा भाग्यवान समझता था। मैं शीशे में अपना मुँह काली-काली मूँछे और भौंहे देखता; और यद्यपि मुझे चाहिए था कि मैं एक तुर्की के समान गम्भीर मुद्रा बना लूँ; लेकिन फिर भी मैं खुशी से अपनी मुस्कराहट नहीं रोक सकता था। ये बहुरूपिये सब कमरों में जाते, जहाँ इन्हें सुस्वादु भोजन खाने को मिलता था। एक बार जब मैं बहुत छोटा था, बड़े दिन की छुट्टियो मे इस्लेनेव-परिवार के सब आदमी पिता (मेरी पत्नी के दादा) उनके तीनों लड़के और तीनो लड़कियाँ बड़े सुन्दर-सुन्दर रूप बनाकर हमारे यहाँ आये। उन्होंने आश्चर्यजनक भेष बना रक्खे थे। उनमें एक शृङ्गार करने की मेज़ बना हुआ था, दूसरा जूता; एक गत्ते लगाकर विदूषक बना हुआ था और एक कुछ और बना हुआ था। वे तीस मील की दूरी से चलकर आये थे। गाँव में आकर उन्होने अपना-अपना स्वाँग बनाया और फिर हमारे यहाँ बड़े कमरे मे आ गये। इस्लेनेव पियानो बजाने बैठ गया और अपने बनाये हुए गाने

---

* अंग्रेजी मे इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप बनाने को 'फैन्सी-ड्रेस-शो' कहते हैं। भारतीय बहुरूपियों के समान अंग्रेजों में 'फैन्सी-ड्रेस-शो होता है। उसमें छोटे से लेकर बडे-से-बडे आदमी तक भाग लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति विचित्र-विचित्र वस्त्र धारण कर और विचित्र-विचित्र रूप धरकर आते हैं, ऐसा कि कोई पहचान भी न सके। अन्त में सबसे बढकर भेष बदलने और रूप बनानेवाले को इनाम मिलता है।

गाने लगा, जिनकी लय मुझे अब भी याद है। उनकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है

नये वर्ष मे नाच-रंग कर,
हम अभिवादन करने आये।
सुख पायेंगे, यदि तुम सबका,
हम कुछ भी मन बहला पाये॥

ये सब बातें बडी आश्चर्यकारी थी और शायद बडे लोग इनसे बहुत प्रसन्न भी होते थे, लेकिन हम बच्चों को तो घर के दासो के स्वॉग में ही आनन्द आता था।

ये सब उत्सव बड़े दिन से आरम्भ होकर नये साल में जाकर समाप्त होते थे, लेकिन कभी-कभी वे १२वें दिन की रात तक चलते थे। हॉ, नये साल के पहले दिन के बाद थोडे आदमी आते थे और इन सब बातो में भी उतना रस नहीं रहता था; ये फीके पड जाते थे। इसी दिन वेसिली शरवेचेव्का के लिए रवाना हुआ। मुझे याद है कि हम लोग अपने कमरे मे धुँधले प्रकाश मे बनाई हुई महोगनी* की लकड़ी की चमडे की गद्दियोदार कुर्सियो पर एक कोने में घेरा-सा बनाकर बैठे हुए 'छोटे रूबल' खेल रहे थे। हम लोग एक दूसरे को रूबल देते जाते थे और गाते जाते थे—'छोटे रूबल जाओ—छोटे रूबल जाओ।' फिर हम मे से एक लडका उस रूबल को ढूँढ़ने जाता। मुझे याद है कि एक दास-पुत्री इन पंक्तियों को बडे ही सुन्दर और मधुर स्वर से गाती थी। इसी समय एकाएक कोठार का दरवाज़ा खुला और वेसिली आया। वह अजीब तरह से कपडे-लत्ते पहने हुए था। बटन खुले थे और उसके हाथ मे थाल-वाल भी नही था। वह कमरे में से होता हुआ अध्ययन-कक्ष मे चला गया। उसी समय मुझे मालूम हुआ कि वह परिचारक का काम करने के लिए शरवेचेव्का जा रहा है। मुझे यह भी मालूम हुआ कि वहॉ उसकी तरक्की हो गई है, इसलिए मुझे उसके इस जाने पर खुशी हुई। लेकिन साथ ही मुझे यह जानकर दुःख भी हुआ कि वह

* एक जगली वृक्ष।

अब यहाँ नहीं आयेगा और हमें थाल में बिठा-बिठाकर कोठार में ऊपर-नीचे नहीं ले जायगा। वास्तव में उस समय न तो मैं यह समझ सका, न यह विश्वास ही कर सका कि इतना उलट-फेर कभी सम्भव हो सकता है। मैं बहुत ज़्यादा उदास हो गया। 'छोटे स्वल जाओ' के अन्तिम शब्द हृदय मे बहुत खटकने लगे। और जिस समय वेसिली हमारी बुआओं को प्रणाम कर पहले जैसी मृदुल मुस्कराहट के साथ लौटा और हमें अपने कन्धो पर चढाकर प्यार करने लगा, उस समय जीवन में पहली बार मुझे इस जीवन की अस्थिरता पर भय और डर का अनुभव हुआ, और प्रिय वासिली के प्रति करुणा और प्रेम के भाव मन में उठे।

लेकिन बाद मे जब मैं दुबारा वेसिली से अपने भाई के (जिन पर उस समय सन्देह किया जाता था) नौकर के रूप मे मिला, तब पहले की भ्रातृभाव की वह पवित्र और मानवी भावना मुझ मे नहीं रही थी।

[टॉल्स्टाय के तीन बड़े भाई थे। उनमें सबसे बड़े निकोलस थे, जिनको घर मे निकोलेन्का कहकर पुकारते थे, टॉल्स्टाय सबसे अधिक प्रेम और सम्मान करते थे। इनका टॉल्स्टाय के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके विषय में टॉल्स्टाय लिखते हैं :]

वह बाल्यकाल में बडे तेज़ और प्रतिभाशाली बालक थे और बडे होने पर उनकी प्रतिभा और भी विकसित हुई। तुर्गनेव उनके विषय मे ठीक ही कहते थे कि उनमें ऐसी कोई कमी नहीं है जो एक अच्छा लेखक बनने के लिए जरूरी है। उनमें एक अच्छे लेखक के कई गुण थे। उनमें कला की भावना बड़ी तेज़ थी, क्या बात और कितनी बात किस स्थान पर लिखी जानी चाहिए, यह भी वह अच्छी तरह जानते थे। उनका व्यंग भी बहुत प्रसन्न करनेवाला और अच्छा होता था, और उनकी कल्पना तेज़ और अनन्त थी। वह जीवन का उच्च और ऊँचे नैतिक मान का आदर्श रखते थे। और इन सबके अतिरिक्त एक विशेष गुण यह था कि उन्हें अहंकार छू भी नहीं गया था। उनकी कल्पना इतनी तेज़ थी कि वह घंटों परियों या भूतो की कहानियाँ अथवा श्रीमती रेडक्लिफ के ढंग की अन्य मनोरंजक कहानियाँ

विना रुके हुए सुना सकते थे, और उन कहानियों में भी इतनी सजीवता और स्वाभाविकता होती थी कि उनको सुनते समय आदमी यह भूल जाता था कि वे सच्ची नहीं बल्कि गढी हुई कहानियाँ हैं। जिस समय वह कहानी सुना रहे या पढ रहे न होते (वह पढते बहुत थे) उस समय चित्र बनाया करते थे। शैतान के, जिसके सींग और चढ़ी हुई मूछें हो, चित्र बहुत तरह के और बहुत-से काम करते हुए बनाते थे। ये चित्र भी एकदम काल्पनिक होते थे।

जिस समय मेरे भाई डिमिट्री ६ साल के और सर्जा ७ वर्ष के थे, उस समय निकोलस ने ही सबसे यह कहा था कि उन्हे एक ऐसा मन्त्र मालूम है, जिसे यदि बता दिया जाये तो संसार मे कोई भी दुःखी न रहे, कोई बीमारी न हो, किसी को कोई कष्ट न हो, कोई आदमी किसी से नाराज़ न हो। सब एक-दूसरे से प्रेम करें और परस्पर धर्म-भाई बन जायँ। यही नहीं, हमने तो धर्म-भाई का एक खेल खेलना भी आरम्भ किया, जिसमें हम सब कुर्सियो के नीचे बैठ जाते और अपने को दुशालो का पर्दा डालकर छुपा लेते, एक दूसरे से सटकर और लिपटकर बैठ जाते अथवा अँधेरे मे एक दूसरे के पैरों पर पड़ जाते।

हमे यह धर्म-भ्रातृत्व तो बतला दिया गया, किन्तु असली मन्त्र नहीं बतलाया गया जिससे कि हर एक मनुष्य की पीड़ायें और दुःख मिट सकते थे, जिनसे कि वे एक-दूसरे से लड़ना-झगडना और एक-दूसरे पर गुस्सा होना बन्द कर देते और अनन्त आनन्द प्राप्त करते। उन्होने कहा कि मैंने वह मन्त्र एक हरी लकडी पर लिखकर उसे एक खड्ड के किनारे एक सड़क के पास गाड दिया है। और चूँकि मृत्यु के बाद मुझे तो कहीं-न कहीं दफनाया ही जाता, अतः मैंने यह इच्छा प्रकट की कि मेरी मृत्यु के बाद मुझे निकोलेन्का की स्मृति मे उसी स्थान पर, जहाँ कि वह लकड़ी गाड़ी गई थी, दफनाया जाय। उस लकड़ी के अतिरिक्त वह हमे फेनफेरोनीव पहाडी पर भी लेजाने के लिये कहते थे; परन्तु इस शर्त पर कि हम एक कोने पर खड़े हो और सफेद रीछ का विचार भी मन मे न आने दें। मुझे याद है कि मैं अधिकतर

एक कोने में खड़ा रहता और इस वात का प्रयत्न करता कि मुझे सफेद रीछ का ध्यान न आये। परन्तु उसका ध्यान आये विना न रहता। दूसरी शर्त यह थी कि फर्श पर रक्खे तख्तों की दरार पर विना थर्राये या विना कॉपे चलना पडेगा। तीसरी शर्त यह थी कि एक साल तक जीवित या मृत या पका हुआ खरगोश न देखो। इसके साथ-साथ यह भी शपथ लेनी पड़ती थी कि हम यह भेद किसी को न वतायेंगे। जो कोई भी आदमी निकोलस की इन शर्तों को तथा इनके अतिरिक्त उन शर्तों को, जो वाद में वह वतावें, पालन करे तो उसकी एक इच्छा, चाहे वह कुछ भी हो, अवश्य पूर्ण हो जायगी।

[अपने अन्य भाइयों के विषय में टॉल्स्टाय लिखते हैः]

डिमिट्री मेरे साथी थे· निकोलस का मै सम्मान करता था, सर्जा को देखकर तो मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठता था। मैं उनका अनुसरण करता, उनसे प्रेम करता और यही कामना किया करता था कि मै विल्कुल उन-जैसा हो जाऊॅ। उनकी सुन्दरता, मधुर स्वर (वह सदा गाते रहते थे), उनकी चित्रकला, उनकी चपलता, प्रसन्नचित्तता और विशेषकर उनके स्वाभाविक आत्माभिमान को देखकर मै आनन्द से फूल उठता था। मुझे अपना वडा ख़याल रहता था और मै सदा इस वात को, चाहे ठीक या ग़लत, महसूस करता था कि दूसरे लोग मेरे विषय में क्या ख़याल रखते है। इसी कारण मेरे जीवन का आनन्द मिट जाता था और सम्भवत इसीलिए मै दूसरे आदमियों में इससे विपरीत गुण अर्थात् स्वाभाविक आत्मश्लाघा देखना पसन्द करता था। इसीलिए मै सर्जा से प्रेम करता था। लेकिन उस भावना को वतलाने के लिए 'प्रेम' विल्कुल ठीक शब्द नहीं है। मै निकोलस से प्रेम करता था लेकिन सर्जा को देखकर तो मैं अपने को भूल-सा जाता था, मानो कि मै अपने से कोई भिन्न और अगम्य वस्तु को पाकर मंत्रमुग्ध हो गया हूँ। उनका जीवन वास्तव में मनुष्य का जीवन था। वह वहुत सुन्दर परन्तु मेरे लिए अगम्य और अचिन्त्य रहस्यपूर्ण और इसी कारण वहुत आकर्षक था।

अगस्त १६०४ में उनकी मृत्यु हो गई। अपनी आखिरी बीमारी और मृत्यु-शय्या पर भी वह मेरे लिये उतने ही गहन, अगाध और प्रिय थे जैसे कि बचपन के दिनो मे। बाद में बुढापे में वह मुझे ज्यादा प्यार करने लगे थे, अपने प्रति मेरे प्रेम का आदर करते थे, मुझ पर अभिमान करते थे और विवादास्पद विषयों में मेरे मत से सहमत होने का प्रयत्न करते, लेकिन हो नही सकते थे। वह जैसे थे अन्त तक वैसे ही रहे। वह अद्वितीय, विलक्षण, सुन्दर, कुलीन, आत्माभिमानी और इन सबसे अधिक इतने सच्चे और शुद्ध-हृदय व्यक्ति थे कि जैसे मैने आज तक नही देखे। वह जैसे ही अन्दर से थे, वैसे ही बाहर से थे। वह कोई बात छिपाते नही थे और जो थे उससे बढकर किसी के सामने अपने को प्रकट न करते थे।

निकोलस के साथ तो मै रहना, बाते करना और विचार-विनिमय करना पसन्द करता था। सर्जी का मै पदानुसरण करना चाहता था। उनका अनुसरण करना मैने बहुत बचपन से ही आरम्भ कर दिया था। वह अपनी मुर्गियॉ रक्खा करते थे, अत मैने भी अपनी मुर्गियॉ रखनी आरम्भ कर दी। पशु-पक्षियों के जीवन का अध्ययन करने का वह मेरा पहला ही अवसर था। मुझे मुर्गियो की बहुत-सी जातियॉ, भूरी, चितकबरी और कलंगीवाली, अब भी याद है। मुझे याद है कि किस प्रकार हमारे बुलाने पर वह दौड़कर आती, किस प्रकार हम उन्हे दाना डालते और हम उस डच मुर्गे से, जो उनके साथ दुर्व्यवहार करता था, कितनी घृणा करते थे। सर्जी ने ही पहले पहल मुर्गियो के बच्चे मँगाये और उन्हे पालना शुरू किया। मैने तो केवल उनकी नकल करने के लिए उन्हे पाला था। सर्जी एक कागज पर मुर्गे-मुर्गियों के चित्र बनाते और उनमे बडे सुन्दर रंग भरते। वे मुझे बड़े आश्चर्यजनक लगते थे। मै भी यही करता था; लेकिन मेरे चित्र बड़े भद्दे होते थे। फिर भी मै इस कला मे लम्बी-चौड़ी बातें बनाकर ही अभ्यस्त होने की आशा रखता था। जब सर्दियो के दिन आ गये और खिड़कियो मे दोहरे किवाड़ लगा

दिये जाते, तब सर्जा ने मुर्गियो को खाना देने का एक नया उपाय खोज निकाला। वह किवाड़ो की चावियो के छेद में से सफेद और काली रोटी के लम्बे-लम्बे टुकड़े बनाकर उन्हें दिया करते। मैं भी यही किया करता था।

मेरे वाल-मस्तिष्क पर एक मामूली-सी घटना ने वड़ा प्रभाव डाला। मुझे वह घटना इतनी अच्छी तरह याद है, मानो वह अभी घटी हो। टेमी अशोव हम वच्चो के कमरे में वैठा हुआ फीडर ईवानोविच के साथ वात-चीत कर रहा था। न जाने कैसे उपवास की वात चल पड़ी और अच्छे-स्वभाव के व्यक्ति टेमी अशोव ने सीधे-साढे भाव से कहा—"मेरे पास एक रसोइया था, जो व्रत के दिन भी माँस खाता था। मैंने उसे तुरन्त फौज में भेज दिया। मुझे यह घटना अव इसलिए याद है कि उस समय मुझे यह वात एकदम अजीव-सी मालूम पड़ी और मेरी समझ मे जरा भी नहीं आई।

एक घटना और है और वह पेरोक्को* की जागीर के उत्तराधिकार के सम्वन्ध में थी। पेरोक्को जागीर का एक भूतपूर्व दास इल्या मेट्रोफेनिच था। यह एक लम्बा वूढा आदमी था, जिसके वाल सफेद हो गये थे और जो पक्का शरावी और उस समय के सारे हथकण्डो में उस्ताद था। इसकी सहायता से इस जागीर के उत्तराधिकार के सम्वन्ध में जो मुकदमा चला था वह जीत लिया गया तो नेरुच से भरी हुई गाड़ियो एवं घोडो के झुंड-के-झुंड आये जिन्हें आदमी भूल नहीं सकता। उस दास ने इस जागीर के काम को वड़ी अच्छी तरह से संभाला। अत उसके उपलक्ष मे उसे मृत्युपर्यन्त यास्नाया पोल्याना में रहने की इजाज़त मिल गई। मेरे वहनोई वेलेरियन के चाचा प्रसिद्ध 'अमेरिकन' थियोडोर टॉल्स्टाय हमारे यहाँ आये। वह एक गाड़ी मे वैठकर आये, सीधे पिता जी के पढ़ने के कमरे में पहुँचे और खास तरह की सूखी फ्रांसीसी रोटी की माँग की। वह उसे छोड़कर दूसरी रोटी

---

* इस जागीर में कुर्स्क प्रान्त के शरवाचेव्का और नेरुच नामक दो जागीरें थीं।

खाते ही न थे। मेरे भाई सर्जा के दाँतो में बड़े जोर का दर्द हो रहा था। थियोडोर ने पूछा कि सर्जा को क्या हुआ? और जब उन्हे मालूम हुआ कि उसके दाँतो मे बड़े ज़ोर से दर्द हो रहा है, तब उन्होने कहा, अच्छा मै दर्द को अभी जादू से बन्द किये देता हूँ। वह पिताजी के पढने के कमरे में गये और भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। थोडी देर बाद वह मलमल के दो रुमाल, जिनके किनारो पर कुछ फूल-पत्तियाँ कढी हुई थीं, हाथ में लेकर आये। उन्होंने दोनो रूमाल हमारी बुआ को देते हुए कहा—'यह रूमाल बाँधते ही दर्द मिट जायगा। और यह रुमाल लगाते ही उसे नींद आ जायगी।' बुआ ने वे रूमाल ले लिये और उन्हे उसी प्रकार लगा दिया, और वास्तव मे हम लोगो के देखते-देखते दर्द मिट गया और भाई साहब को नींद आ गई।

उनका हजामत बना हुआ कठोर, रूखा और दमकता हुआ सुन्दर मुख, मुँह के कोनो तक कटी हुई कलम और घुँघराले बाल मुझे बहुत अच्छे लगते थे। इस असाधारण, अपराधी और विशेष आकर्षक मनुष्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बाते ऐसी हैं जिन्हे मै कहना पसन्द करूँगा।

इनके अतिरिक्त एक सैनिक सज्जन राजकुमार वोल्कोन्स्की के भी हमारे यहाँ आने की मुझे याद है। यह माताजी के कोई सम्बन्धी, मौसेरे या फुफेरे भाई थे। वह मेरा बड़ा दुलार करते, मुझे अपने घुटने पर बिठा लेते, और जैसा कि बहुधा होता है मुझे गोदी मे बिठाये-बिठाये घर के बड़े आदमियो से बाते करते रहते। मै उनके पास से उठने का प्रयत्न करता तो वह मुझे और कसकर थाम लेते। मेरा उनका झगड़ा कुछ मिनटो तक चलता। लेकिन इस तरह कैद हो जाने की भावना उत्पन्न होने, आजादी छिन जाने और उसपर भी बल-प्रयोग से मै इतना उकता उठता और मुझे इतना क्रोध आता कि मै एकाएक ज़ोरो से झगड़ने और चिल्लाने लगता और उन्हे मार भी देता।

यास्नाया पोल्याना से दो मील दूर एक गाँव ग्रुमण्ड है। उसका यह नाम मेरे दादा ने रक्खा था जो आर्केन्जल के, जहाँ पर ग्रुमण्ड नाम का

एक टापू था, गवर्नर थे। [ग्रुमण्ड के सम्बन्ध मे टॉल्स्टाय लिखते हैं कि वहाँ पर पशुओ के लिए एक सुन्दर बाड़ा और जब-कभी रहने के लिए एक बहुत सुन्दर छोटा-सा मकान बना हुआ था। टॉल्स्टॉय परिवार के बच्चो को यहाँ दिन बिताना बहुत अच्छा लगता था, क्योंकि यहाँ पर पानी का एक बड़ा सुन्दर सोता और मछलियो से भरी हुई एक छोटी-सी तलैया थी। आगे चलकर वह लिखते है ·]

"लेकिन एक बार एक घटना से, जिसके कारण हम सभी—कमसे-कम मै और डिमिट्री—करुणार्द्र हो चीख मारकर रो पड़े, हमारा सारा आनन्द हवा हो गया। बात यह हुई कि हम सब अपनी गाड़ी मे बैठे घर लौट रहे थे। फीडर इवानोविच का भूरे रंग, सुन्दर आँखें और नरम घुँघराले बाल वाला शिकारी कुत्ता बर्था, हमारी गाड़ी के आगे-पीछे भाग रहा था। जैसे ही हम ग्रुमण्ड बाग से आगे बढ़े, एक किसान के कुत्ते ने उस पर हमला किया। बर्था गाड़ी की ओर भागा। फीडर ईवानोविच गाड़ी को न रोक सका और गाड़ी उसके एक पंजे पर फिर गई। जब हम घर आये और बर्था भी हमारे पीछे पीछे तीन पैरों से लँगड़ाता-लँगड़ाता आया तो फीडर इवानोविच और हमारे खिदमतगार निकिटा डिमिट्री ने (जो एक शिकारी भी था) उसका पैर देखकर कहा कि उसका पैर टूट गया है और अब यह आगे कभी शिकार के काम नहीं आ सकता। मै ऊपर अपने छोटे कमरे में इनकी बातें सुन रहा था। जिस समय फीडर इवानोविच ने कुछ डींग हाँकते हुए यह कहा कि 'अब यह किसी काम का नहीं रहा, इसका तो एकमात्र उपाय यही है कि इसे मार दिया जाये' तो मै इन शब्दो पर विश्वास नहीं कर सका।

बेचारा कुत्ता पीड़ित था, बीमार था और इसके लिये उसे मौत के घाट उतारा जा रहा था। मेरे मन में यह भावना उठी कि नहीं यह बात गलत है, ऐसा नहीं होना चाहिए। परन्तु फीडर इवानोविच ने जिस ढंग से यह बात कही और निकिटा डिमिट्री ने जिस ढंग से उसका समर्थन किया उससे मालूम होता था कि वे अपना निर्णय पूरा करने पर उसी प्रकार तुले

हुए है जैसे कि कुज़्मा * के कोडे लगवाते समय अतः अपने से बडे आदमियो के, जिनका कि मै आदर करता था, इस दृढ निश्चय के सामने मुझे अपनी उस भावना में (कि जो काम कर रहे है ठीक नही) विश्वास करने की हिम्मत न पडी; विशेषकर उस समय जब कि उसके पहले मै टेमीअशोव के मुँह से यह सुन चुका था कि किस प्रकार उसने अपने रसोइया को व्रत के दिन माँस खाने पर फौज मे भेज दिया था। मै इस निर्णय को भी ग़लत समझता था।

मै अपने बाल्य-जीवन के एक आध्यात्मिक अनुभव के विषय में कुछ कहूँगा। यह अनुभव मेरे बचपन में मुझे अनेक बार हुआ और मै समझता हूँ कि वह बाद के बहुत से अनुभवो से कहीं बढकर हैं। वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह प्रेम का पहला अनुभव था। किसी व्यक्ति के प्रति

---

* इस घटना के विषय में टॉल्स्टाय इस प्रकार लिखते हैं.—

हम सब बच्चे घूमकर अपने शिक्षक फीडर इवानोविच के साथ वापस लौट रहे थे। उसी समय खलिहान के पास हमें हमारा मोटा कोचवान ऐण्ड्रू मिला। उसके साथ हमारा सहायक कोचवान कुज़मा भी था जिसकी आँखे भेड़-सी थीं और इसी कारण वह भेड़ा कुज़मा कहलाता था। कुज़मा बहुत उदास था। उसका विवाह हो चुका था और उसकी जवानी भी ढल चुकी थी। हममे से एक ने ऐण्ड्रू से पूछा कि वह कहाँ जा रहा है। उसने शान्ति से उत्तर दिया कि वह कुज़मा को खलिहान पर कोडे लगाने के लिये ले जा रहा है। अच्छे स्वभाव के कुज़मा की मुँह लटकाई हुई मूर्ति और इन शब्दों ने जो भयानकता की भावना मेरे मन में पैदा कर दी, उसका मैं वर्णन नही कर सकता। शाम को मैंने यह बात अपनी बुआ टाशियाना ऐलेक्जेण्ड्रोव्ना से कहा जिन्हें शारीरिक दण्ड देने से बडी घृणा थी और जहाँ कहीं उनका बस चलता, वह कभी दासों को या हमको शारीरिक दण्ड न देने देती थीं। मैंने जो कुछ कहा, उससे उनको बहुत बुरा लगा और उन्होंने मुझसे कहा, कि "तूने उसे रोका क्यों नही ?" उनके इन शब्दों से मुझे और भी दुःख हुआ। मैने कभी यह सोचा ही नहीं था कि हम भी ऐसे मामलों मे पड सकते हैं। पर वास्तव में हम ऐसे मामलों में बोल सकते थे। परन्तु अब तो बात हाथ से निकल चुकी थी और वह भयानक काण्ड किया जा चुका था।

प्रेम नहीं, बल्कि प्रेम के प्रति प्रेम, ईश्वर के प्रति प्रेम जिसका अनुभव बाद में बहुत कम होता था, लेकिन होता अवश्य था। और शायद इसीलिए (इसके लिए ईश्वर का धन्यवाद है) कि उसका बीज बचपन में ही मेरे हृदय में बो गया था। इसका अनुभव इस प्रकार होता था। हम, विशेषकर मैं, डिमिट्री और लड़कियाँ कुर्सियों के नीचे एक-दूसरे से, जितना हो सकता मिलकर बैठ जाते। इन कुर्सियों के चारों ओर शाल लपेट दी जाती और इनके ऊपर गद्दियाँ ढक दी जातीं। तब हम सब आपस में कहते कि हम सब भाई-भाई हैं; और उस समय एक-दूसरे के प्रति एक विचित्र प्रेम-भाव का अनुभव करते। कभी यह प्रेम-भावना बढ़कर लाड़-दुलार तक पहुँच जाती और हम एक-दूसरे को थपथपाने लगते या हाथों में लपेटकर प्रेम से आलिंगन कर एक-दूसरे को खींच लेते।

कभी-कभी हम उन कुर्सियों के नीचे बैठे-बैठे ही यह बात-चीत किया करते थे कि हम किस-किस से कितना प्रेम करते हैं, सुखी और प्रसन्न जीवन बिताने के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है, हमें किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना और किस प्रकार सबके प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए।

मुझे याद है कि ये सब बातें एक यात्रा के खेल से आरम्भ होतीं, हम लोग कुछ कुर्सियों पर बैठ जाते और कुछ कुर्सियों पर अधिकार जमा लेते। एक गाड़ी बनाते और उसमें हम सब लोग बैठकर यात्री से 'धर्म-भाई' के रूप में बदल जाते। इसमें हमारे साथ और लोग भी शामिल हो जाते। यह खेल बहुत ही अच्छा था और ईश्वर को धन्यवाद है कि हम यह खेल खेलते थे। हम इसे खेल कहते थे लेकिन वास्तव में इसे छोड़कर संसार की प्रत्येक बात एक खेल ही है।

[टॉल्स्टाय के जर्मन-जीवनी के लेखक लौवेनफेल्ड के यह पूछने पर कि टॉल्स्टाय को ज्ञानार्जन की इतनी पिपासा होते हुए भी उन्होंने उपाधि लेने से पहले ही विश्वविद्यालय क्यों छोड़ दिया, टॉल्स्टाय ने लिखा है.]

'हाँ, मेरी ज्ञान-पिपासा ही मेरे यूनिवर्सिटी छोड़ने का कारण थी। कज़ान मे हमारे शिक्षक जिन विषयो पर जो-जो व्याख्यान देते थे, वे मुझे ज़रा भी रोचक नहीं लगते थे। पहले तो मैंने एक साल तक पूर्वी भाषाओं का अध्ययन किया, परन्तु उसमे मैंने वहुत थोड़ी प्रगति की। मैं हरएक चीज़ मे जी-जान से लग पड़ता था और एक ही विषय पर एक साथ वहुतेरी पुस्तकें पढ डालता था। लेकिन एक साथ मै एक ही विषय की पुस्तकें पढता था। जब मै एक विषय को उठाता तो फिर उसको बीच में छोड़ता न था और उस पर वे सव पुस्तकें पढ़ता था जो उस विषय पर प्रकाश डालती थीं। कज़ान मे मेरा यही हाल था।'

[एक दूसरे अवसर पर टॉल्स्टाय ने कहा :]

विश्वविद्यालय छोडने के विशेषकर दो कारण थे। पहला तो यह कि मेरे भाई सर्जी अपनी पढाई समाप्त कर चुके थे और उन्होंने विद्यालय छोड़ दिया था। दूसरे केथेराइन की 'नकाज़' और 'ऐस्प्रिट द लुईस' पर मैंने जो लिखा, उसने मेरे लिये मानसिक कार्य का एक नवीन क्षेत्र खोल दिया। विद्यालय के काम के कारण मुझे इसमे सहायता मिलनी तो दूर, मेरे काम मे वाधा भी पड़ती थी।

मेरे भाई डिमिट्री मुझसे एक साल वड़े थे। उनकी ऑखे वडी-वड़ी थीं और उनसे गम्भीरता टपकती थी। मुझे यह तो याद नही कि बचपन मे वह कैसे थे; लेकिन वाद में मैंने लोगो के मुँह से सुना कि वह वचपन में वडे सनकी और अस्थिर थे। यदि उनकी धाय उनकी साल-सँभाल ठीक न करती तो वह इसपर उससे क्रोधित होते और चिल्लाते। मैने यह भी सुना है कि माताजी उनसे वहुत परेशान थीं। वह आयु में लगभग मेरे वरावर ही थे और हम दोनों साथ-साथ वहुत खेले। यद्यपि मैं उनसे इतना प्रेम नहीं करता था जितना सर्जी से, न इतना आदर ही जितना कि मै निकोलस का करता था, लेकिन फिर भी हम दोनों मे मित्रभाव था, और मुझे याद नही कि हम दोनों कभी लड़े हों। हो सकता है कि हम कभी लडे भी हों; लेकिन उस लड़ाई की जलन हमारे दिलो मे विल्कुल न रही। मै

उनसे उसी प्रकार साधारण और स्वाभाविक तौर पर प्रेम करता रहा जिसका (प्रेम का) न तो मुझे ज्ञान था, और न जिसकी अब स्मृति ही शेष है। मैं यह समझता हूँ और जानता हूँ और विशेषकर बचपन का यह मेरा अपना अनुभव भी है कि बाल्यकाल में दूसरो के प्रति प्रेम आत्मा की एक स्वाभाविक स्थिति है। या, दूसरे शब्दों में एक दूसरे के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध है, और जिस समय मनुष्य की ऐसी स्थिति होती है उस समय उसे उस प्रेम का ज्ञान नहीं रहता। उसका ज्ञान तो तभी होता है जब मनुष्य प्रेम नहीं करता; 'प्रेम नहीं करता' नहीं, बल्कि जब वह किसी से डरने लगता है। (मैं भिखारियों से या वोल्कोन्स्कियो मे से एक से, जो मुझे चुटकी लिया करता था, डरता था। लेकिन मै समझता हूँ कि इनके अतिरिक्त मैं किसी से नहीं डरता था।) अथवा जब कोई आदमी किसी एक आदमी से ही विशेष प्रेम करने लगता है, जिस प्रकार कि मैं अपनी 'आण्टी' टाशियाना ऐलेक्ज़ेण्डोव्ना से या अपने भाई सर्जो और निकोलस, वेसिली, धाय ईसेव्ना और पेशेन्का से प्रेम करता था।

सिवाय इसके कि वह बड़े प्रसन्न-चित्त थे, बचपन में मुझे डिमिट्री के सम्बन्ध में कुछ भी याद नहीं; लेकिन जब सन् १८४० में (इस वक्त उनकी आयु केवल १३ वर्ष की थी) हम दोनो कज़ान विश्वविद्यालय मे गये, उस समय मुझे उनकी विशेषतायें मालूम हुईं और उनका मुझपर प्रभाव पड़ा। उसके पहले मै उनके विषय मे केवल इतना जानता था कि वह उस प्रकार प्रेम में नहीं पड़ते जिस तरह मै और सर्जी; और न नाच-रंग और सैनिक प्रदर्शन ही पसन्द करते थे। वह तो कड़े परिश्रम के साथ पढ़ते थे। पोलोन्स्की नाम के एक अण्डर-ग्रेजुएट शिक्षक हमें पढ़ाया करते थे। हम भाइयों के विषय में उन्होंने अपनी राय यो प्रकट की थी: 'सर्जी पढ़ना चाहता है और पढ़ भी सकता है; डिमिट्री चाहता तो है, लेकिन पढ़ नहीं सकता (लेकिन यह ठीक नही था) और लियो टॉल्स्टाय न तो चाहता ही है और न पढ़ ही सकता है (हॉ, मेरे विषय मे यह बिल्कुल ठीक था) *

* लेकिन दूसरे स्थान पर टॉल्स्टाय ने इससे बिल्कुल उल्टी बात कही है और निकोलस को भी लपेट लिया है।

इस प्रकार डिमिट्री के विषय में मेरी जानकारी कज़ान से आरम्भ हुई। वहाँ हर बात मे सर्जी का अनुकरण करते-करते मैं बिगड़ने लगा। उस समय और उसके पहले भी मुझे अपने बनाव-सिंगार की चिन्ता रहने लगी। मै चिकना-चुपड़ा दिखाई पड़ने का प्रयत्न करने लगा। डिमिट्री को ये बाते छू भी न गई थी। मेरा तो ख़याल है कि वह जवानी की वासनाओं से सदा दूर रहे। यद्यपि उनका स्वभाव तेज़ था परन्तु वह सदा गम्भीर, विचारवान्, शुद्ध और दृढ रहते थे, और वे जो काम करते थे उसे सारी शक्ति लगाकर करते थे। जब उन्होंने वह पीतल की जंज़ीर निगल ली थी, उस समय भी जहाँतक मुझे याद है, उसके विषय मे चिन्तित नहीं थे। इसके विपरीत मुझे याद है कि एक बार जब मैंने एक बेर की, जो मुझे 'आण्टी' ने दिया था, गुठली निगल ली थी तो मुझे कितना डर लगा था, और मैंने किस भयानकता से वह दुर्घटना अपनी माता से कही थी, मानों मै मर ही रहा होऊँ। एक बार हम सब बच्चे एक पहाड़ी पर से टोबोगन (बर्फ पर फिसलने वाली लकड़ी की चट्टियों) पर फिसल रहे थे, इतने में एक आदमी आया और सड़क-सड़क जाने की बजाय एक 'ट्रॉयका' में बैठकर पहाड़ी पर चढ़ आया। शायद सर्जी और एक ग्रामीण बालक उस समय फिसल कर नीचे आ रहे थे। वे अपने को रोक न सके और घोड़े के पैरो के पास जाकर गिर पड़े। हम तो ये सब बातें पहले से ही देख रहे थे, कि किस प्रकार वे घोड़े के पैरों के नीचे से बचकर आये, किस प्रकार घोड़ा भड़क कर एक ओर को हटा, आदि आदि। लेकिन डिमिट्री, जिनकी आयु उस समय केवल ६ वर्ष की थी, उठकर सीधे उस आदमी के पास गये और उसे फटकारने लगे। जब उन्होंने उस आदमी से यह कहा कि ऐसी जगह गाड़ी चलाने पर, जहाँ कि कोई सड़क नहीं है तुम अस्तबल में भेजे जाने के योग्य हो, जिसका उस समय यह अर्थ था कि उसकी गहरी पिटाई (कोड़ों से) होनी चाहिए, उस समय मुझे आश्चर्य भी हुआ और बुरा भी लगा।

उनकी विशेषतायें तो पहले-पहल कज़ान मे ही मालूम हुईं। वह लगकर बहुत अच्छी तरह पढ़ते और बड़ी आसानी से कविता भी कर लेते थे। उन्होंने

शिलर की कविता 'डर जुंगलिंग एम वाशे' का बड़ा सुन्दर अनुवाद किया। लेकिन कविता के धन्धे में उन्होंने कभी अपने को नहीं लगाया। एक दिन वह बहुत ज्यादा मज़ाक करने लगे। इससे लड़कियों को बड़ी खुशी हुई और उनका बड़ा मनोरंजन हुआ। इसपर मुझे उनसे कुछ ईर्ष्या हुई, क्योंकि मैंने खयाल किया कि लड़कियाँ इसीलिए प्रसन्न हैं कि वह सदा गम्भीर रहते हैं; और उसी तरह उनकी नकल में गम्भीर बनने की मेरी भी इच्छा हुई। मेरी बुवा और हमलोगों की संरक्षिका पेलागेया इलीनिश्ना को हमारी सेवा के लिए एक-एक ऐसा दास रखने की, जो बाद में हमारा विश्वासपात्र नौकर हो सके, सनक उठी। डिमित्री के लिए उन्होंने एक दास वेनयूशा दिया जो कि अभी तक जीवित है। डिमित्री उसके साथ बड़ा बुरा बर्ताव करते और मेरा खयाल है कि उसे पीटते तक थे। 'खयाल है', मैं इसलिए कहता हूँ कि मैंने उन्हे मारते-पीटते तो कभी देखा नहीं, लेकिन मुझे याद है कि एक दिन वह वेनयूशा के सामने उसके प्रति किये गये व्यवहार के लिए पश्चात्ताप कर रहे थे और उससे नम्र शब्दों में क्षमा माँग रहे थे।

मुझे यह तो नहीं मालूम कि किस प्रकार या किसके प्रभाव से वह धार्मिक जीवन की ओर खिंचे, लेकिन उनका धार्मिक जीवन विद्यालय में प्रविष्ट होने के पहले साल में ही आरम्भ हो गया। धार्मिक जीवन की ओर प्रवृत्ति होने के कारण स्वभावत· वह चर्च की ओर झुके और अपने स्वाभाविक अध्यवसाय के साथ धार्मिक साहित्य का अध्ययन करने लगे। वह बड़ा सादा भोजन करते, सब गिर्जों मे प्रार्थनाओ और उपदेशो के समय जाते। वह अधिकाधिक कठोर जीवन विताने लगे।

डिमित्री में एक असाधारण गुण था और मुझे विश्वास है कि वह गुण मेरी माता और मेरे बड़े भाई निकोलस में भी था, लेकिन मुझमे बिल्कुल नहीं था। वह गुण यह था कि वह इस बात से पूर्णतया उदासीन रहते कि दूसरे लोग मेरे बारे में क्या ख़याल करते हैं। यहाँ तक कि अब बुढ़ापे में भी मुझे इस बात की चिन्ता रहती है कि दूसरे लोग मेरे बारे मे क्या

ख़याल करते है, लेकिन डिमिट्री इस चिन्ता से बिल्कुल मुक्त थे। जब कोई आदमी किसी की प्रशंसा करता है तो अनिच्छा होते हुए भी वह मुस्करा देता है। लेकिन मुझे याद नही कि मैंने कभी उनके मुख पर अपनी प्रशंसा सुनकर कोई मुस्कराहट देखी हो। मुझे तो उनकी बडी-बड़ी शान्त, गम्भीर और विचारशील आँखें ही याद है। केवल कज़ान विद्यालय मे रहने के समय ही हमने उनकी ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया और वह भी इसलिए कि उस समय तक हम बाहरी बनाव-सँवार पर ज़्यादा ज़ोर देने लगे थे और वह मैले-कुचैले और गन्दे रहते थे, जिसके कारण हम सदा उनकी निन्दा किया करते थे। वह न तो नाच देखने जाते और न नाच सीखना ही चाहते थे। एक विद्यार्थी के नाते वह अन्य विद्यार्थियों की गोष्ठी में भी नही जाते थे। केवल एक कोट पहनते और गले में पतला-सा तंग रूमाल बाँधते थे, मानो तंग रूमाल से अपना पिण्ड छुडाने के लिए सदा अपना सिर घुमाते रहते थे।

जिस समय उन्होने उपासना (कम्युनियन) के निमित्त पहला उपवास किया। उस समय उनकी विशेषतायें पहली बार मालूम हुई। उन्होने यह उपवास विश्वविद्यालय के फ़ैशनेबुल गिर्जे में न करके जेल के गिर्जे मे किया। उस समय हम जेल के ठीक सामने गोटालोव के मकान में रहते थे। इस गिर्जे में एक बडे धार्मिक और कट्टर पादरी थे। यह एक असाधारण बात थी, क्योंकि उस समय पादरी न तो धर्मिष्ठ होते थे और न धर्माचरण के नियमो का कड़ाई के साथ पालन ही करते थे। यह पादरी महोदय धार्मिक सप्ताह में इन्जील तथा ईसामसीह व उनके अनुयायियो के ग्रन्थों का, जिनको पढ़ने का यद्यपि शास्त्रों मे विधान है, परन्तु लोग जिन सब ग्रन्थो को कम ही पढते थे, आद्योपान्त पाठ करते थे। इसी कारण इस गिर्जे के उपदेश बड़ी देर मे समाप्त हुआ करते थे। डिमिट्री इन सब कथाओं और उपदेशों को खडे होकर सुना करते थे, उन्होने पादरी से भी जान-पहचान कर ली थी। गिर्जाघर इस प्रकार बना हुआ था कि गिर्जाघर और उस स्थान के बीच मे जहाँ कैदी खड़े होकर उपदेश सुना करते थे, एक शीशे की दीवार

थी और उसमे एक छोटा सा दरवाज़ा था। एक वार उनमें से एक कैदी ने एक छोटे पादरी को कुछ देना चाहा। या तो वह मोमवत्ती थी या उसके लिए कुछ पैसे। कोई यह काम करने के लिए तैयार न हुआ, लेकिन डिमिट्री ने अपनी स्वाभाविक गम्भीर मुद्रा के साथ उसे उठा लिया और छोटे पादरी को दे दिया। यह काम ठीक नहीं था और इसके लिए उन्हे बुरा-भला भी कहा गया; लेकिन चूंकि वह समझते थे कि यह काम किया जाना चाहिए, अत. वह दूसरे अवसरों पर भी यह काम करते रहे।

जव हम दूसरे मकान में चले गये तव की एक घटना मुझे याद है। हमारे ऊपर के कमरे दो हिस्सो मे वॅटे हुए थे। एक भाग मे डिमिट्री रहते थे और दूसरे में सर्जी और मै। वड़े आदमियो के समान सर्जी और मुझे अपनी-अपनी मेज़ो पर आभूपण और चीजें, जो हमे भेंट मे मिलती थीं, सजाने का शौक था। लेकिन डिमिट्री के पास ऐसी कोई चीज नही थी। उन्होंने पिताजी से केवल एक ही वस्तु ली थी और वह उनका धातुओं का संग्रह था। उन्होने उनको सजाकर और उन पर लेविल लगाकर एक शीशे के ढक्कनवाले वक्स में रख छोड़ा था। चूंकि हम भाइयो और हमारी वुआ डिमिट्री को उनकी इन निम्न प्रवृत्तियो, रुचियो और निम्न श्रेणी के परिचितो के कारण कुछ घृणा की दृष्टि से देखते थे, अत हमारे दम्भी मित्र भी उनके प्रति यही रुख रखते थे। उनमें से एक मित्र 'ऐस' था। यह एक इन्जीनियर था और वड़ी नीच प्रकृति का व्यक्ति था। इसे हमने मित्र नही वनाया था, मगर वह स्वयं हमारे पीछे पड़ा रहा और हमारा मित्र वन गया था। एक दिन वह डिमिट्री के कमरे के पास से निकला और उनका धातु-संग्रह देखकर उनसे एक प्रश्न कर दिया। ऐस का व्यवहार असहानुभूतिपूर्ण और अस्वाभाविक था। डिमिट्री ने उसके प्रश्न का अनिच्छा से उत्तर दिया। इस पर ऐस ने उस वक्स को सरकाया और ज़ोर से हिला दिया। डिमिट्री ने कहा—'उसे छोड़ दो।' ऐस ने उनकी वात न मानी और उनके साथ मज़ाक करते हुए शायद उन्हें 'नोह' के नाम से सम्बोधित किया। डिमिट्री को इस पर भीषण क्रोध आया और

उन्होने ऐस के मुँह पर अपने भारी हाथ का एक थप्पड़ ज़ोर से मारा। ऐस भागा और डिमिट्री उसके पीछे पीछे भागे। जब डिमिट्री हमारी हद में पहुँचे तो हमने ऐस को अन्दर लेकर दरवाज़ा बन्द कर दिया। इस पर डिमिट्री ने कहा कि अच्छा, जव ऐस वापस आयेगा, तव मैं उसे पीटूँगा। सर्जी और शायद शुवालोव डिमिट्री को मनाने के लिए भेजे गये कि वह ऐस को चला जाने दे, परन्तु वह तो झाड़ू लेकर बैठ गये और स्पष्ट कह दिया कि वह उसे बुरी तरह पीटेंगे। मुझे नहीं मालूम कि यदि ऐस उनके कमरे में से जाता तो वह क्या करते, लेकिन उसने हमसे किसी दूसरे रास्ते से निकालने की प्रार्थना की और हमने उसे कमरे की छत के ऊपर की धूल से भरी हुई कैंची* में से रेंग-रेंगकर निकाला।

टॉल्स्टाय की जीवनी में उस घटना का वर्णन करते हुए जिसमें उन्होने उस सिपाही के मुकदमे की पैरवी की थी जिस पर अपने अफसर पर हाथ उठाने के अभियोग में फांसी की सजा देने के लिये मुकदमा चल रहा था, टॉल्स्टाय की जीवनी के लेखक वीरूकोव ने इस सम्बन्ध मे पूर्व-प्रकाशित विवरण से अधिक विवरण माँगा। उस पर टॉल्स्टाय ने उन्हे निम्न पत्र लिखा]

प्रिय मित्र पावेल इवानोविच,

तुम्हारी इच्छा पूरी करने और उस सिपाही की पैरवी करने के सम्बन्ध में, जिसका तुमने अपनी पुस्तक मे उल्लेख किया है, मेरे क्या विचार थे इस पर पूरा प्रकाश डालने में मुझे बडी प्रसन्नता है। भाग्य के उलट-फेरो, सम्पत्ति का विनाश या प्राप्ति, साहित्यिक जगत मे सफलता या असफलता नहीं नहीं अपने प्रिय से-प्रिय सम्बन्धियों की मृत्यु जैसी अधिक महत्वपूर्ण घटनाओ से भी अधिक उस घटना का मेरे जीवन पर प्रभाव पड़ा है।

मैं पहले तो यह वतलाऊँगा कि यह सव कैसे हुआ और उसके वाद यह वतलाऊँगा कि उस घटना के घटते समय और उसके वाद अव उसकी स्मृति से मेरे मन मे क्या-क्या भावनायें और विचार पैदा हुए। - —

* सवसे ऊपर के कमरे की छत पर कहीं कहीं दोनों ओर को ढालू टीन डाल दिया जाता है। टीन और छत के वीच की जो जगह होती है उसे कैंची कहते हैं।

मुझे यह याद नहीं कि उस समय मैं किस खास काम मे लगा हुआ था। शायद आप यह बात मुझसे अधिक अच्छी तरह जानते होंगे। मुझे तो बस इतना ही याद है कि उस समय मै एक शान्त, सन्तुष्ट और आत्माभिमान से पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था। सन् १८६६ की गर्मियो में हमारे पास सैनिक पाठशाला का एक विद्यार्थी ग्रीशा कोलोकोल्टमेव, जो बेहरों को जानता था और मेरी पत्नी का परिचित भी था, अचानक हमारे पास आया। मालूम हुआ कि वह सेना की एक टुकड़ी मे, जो हमारे पास ही पड़ाव डाले हुए थी, नौकर था। वह प्रसन्न-चित्त और अच्छे स्वभाव का लड़का था और उस समय अपने छोटे से कज्ज़ाक घोड़े पर उछल-उछलकर दौड़ने मे ही अपना समय लगाया करता, अक्सर हमारे पास भी आया करता था।

उसे धन्यवाद है कि उसके द्वारा हमारा उसकी टुकड़ी के सेनापति जनरल यू. .... और ए. एम. स्टासयूलेविच से परिचय हो गया। यह स्टासयूलेविच या तो पद में घटा दिया गया था या किसी राजनीतिक मामले के कारण सैनिक की हैसियत में काम करने को भेजा गया था। मुझे ठीक कारण याद नहीं है, पर इतना मालूम है कि वह प्रसिद्ध सम्पादक स्टासयूलेविच का भाई था। स्टासयूलेविच की जवानी बीत चुकी थी। जब हमारा परिचय हुआ उसी वक्त के करीब उसे एक सिपाही से तरक्की करके झण्डा ले जानेवाला बना दिया गया। वह अपने पुराने साथी यू. की सेना में, जोकि अब उसका कर्नल था, आ गया था। यू. और स्टासयूलेविच दोनो अक्सर घोड़ों पर चढ़कर हमारे पास आया करते थे। करनल यू. हृष्ट-पुष्ट, लाल सुर्ख चेहरे और अच्छे स्वभाववाला कुछ उस प्रकार का अविवाहित व्यक्ति था जैसे कि साधारणतया होते हैं। उस उच्चपद और ऊँची सामाजिक स्थिति ने उसकी मानवी-प्रवृत्तियो को दबा दिया था। उस पद और मान को बनाये रखना उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। एक मनुष्य की दृष्टि से यह कहना कठिन है कि ऐसा आदमी विवेकी या सज्जन है, क्योंकि ऐसे मनुष्य के विषय मे कोई यह नही जानता कि यदि वह एक कर्नल या प्रोफेसर

या मन्त्री, या न्यायाधीश या एक पत्रकार न रहकर एक साधारण आदमी रह जाये तो कैसा होगा? यही हाल केवल यू.... . का था। वह एक सेना की टुकड़ी का कार्यवाहक सेनापति था, लेकिन वह किस प्रकार का मनुष्य था, यह जानना असम्भव था। मेरा तो यह खयाल है कि वह अपने आपको भी न जानता होगा और न इसमें उसकी दिलचस्पी ही थी। स्टास यूलेविच इसके विपरीत था। यद्यपि अनेक प्रकार से, विशेषकर उसके दुर्भाग्य और अपमानों से, जो उस-जैसे महत्त्वाकाक्षी और आत्माभिमानी मनुष्य को बड़े दु.ख के साथ सहने पड़े, उसका विनाश हो चुका था, परन्तु वह फिर भी जीवन से भरा हुआ मनुष्य था। कुछ दिनो बाद वह दिखाई ही नही पड़ा। जब उनकी सेना किसी दूसरे स्थान पर चली गई उस समय मैंने सुना कि उसने बिना किसी व्यक्तिगत कारण के विचित्र रीति से आत्महत्या कर ली। एक दिन सवेरे उसने एक बहुत भारी फौजी ओवरकोट पहना और उसे पहनकर नदी मे उतर गया। चूँकि वह तैरना नही जानता था अत नदी मे डूबकर मर गया।

मुझे याद नही कि कोलोकोल्टसेव या स्टास यूलेविच दोनो में से किसने गर्मी के दिनों मे एक दिन सवेरे आकर कोई घटना सुनाई जो कि सैनिको के लिए एक असाधारण और भयानक बात थी। एक सिपाही ने एक कम्पनी कमाण्डर को मारा। स्टास यूलेविच इस विषय पर ज़रा ज़ोर से बोल रहा था। उस सिपाही के भाग्य के फैसले (अर्थात् मृत्युदण्ड) के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति थी। उसने मुझे फौजी पंचायत के सामने उस सिपाही की वकालत करने की सिफारिश की।

यहाँ पर मै यह कह देना चाहता हूँ कि मुझे इस बात को सुनकर कि एक आदमी जज बनकर किसी को मौत की सज़ा दे और दूसरा (अर्थात् वधिक) उसे मौत के घाट उतार दे, एक धक्का-सा ही नही लगता था, बल्कि मुझे यह एक असम्भव और गढ़ी हुई बात मालूम पड़ती थी। ऐसा भीषण कृत्य जिसके सम्बन्ध मे यह जानते हुए भी कि वह पहले हो चुका है, और अब भी प्रतिदिन हो रहा है, आदमी विश्वास ही न कर सके। मृत्युदण्ड

मेरे लिए मनुष्य के उन कारनामो में से एक है, जिसकी असम्भवता में मेरे हृदय में अब भी विश्वास है।

मैं जानता हूँ कि क्षणिक आवेश मे आने तथा घृणा और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो मानवी भावनाओ का नाश होने के कारण एक आदमी अपनी या अपने मित्र की आत्मरक्षा के लिए किसी को मार सकता है, अथवा युद्ध के समय सभी लोगो के साथ देश-भक्ति के नशे में जिस समय मनुष्य मरने मारने के लिए कटिबद्ध होता है, उस समय वह एक साथ सहस्रो आदमियो के संहार में भाग ले सकता है। लेकिन यह बात मेरी समझ मे नहीं आती कि आदमी उस समय भी जबकि उनमें मानवीय गुण भरे होते हैं, शान्ति से और जानबूझकर अपने किसी साथी को मारने की आवश्यकता को स्वीकार कर सकते हैं। यह बात मेरी समझ मे उस समय भी नहीं आई थी। जबकि मै सन् १८६६ में अहंकारी जीवन व्यतीत कर रहा था। इसीलिए (शायद यह बात सुनकर सबको आश्चर्य हो) मैंने आशाभरे हृदय से उस सिपाही की वकालत करने का निश्चय किया।

मुझे याद है आजेरकी गॉव में पहुँचकर, जहॉ वह कैदी-सिपाही रक्खा गया था, (मुझे यह याद नहीं कि वह कोई ख़ास मकान था या वह था जिसमें कि वह काण्ड हुआ था), मै ईंटो की एक नीची छत की झोपड़ी में घुसा, और एक ठिगने से आदमी से मिला। यह आदमी, लम्बा होने के बजाय हृष्ट-पुष्ट अधिक था, जोकि सिपाहियो के लिए एक असाधारण बात थी। उस आदमी की मुखाकृति बड़ी सरल अपरिवर्तनशील और शान्त थी। मुझे यह याद नहीं कि उस समय मेरे साथ दूसरा आदमी कौन था ? परन्तु जहॉतक मुझे याद है वह कोलोकोल्टसेव था। जैसे ही हम घुसे वह आदमी फौजी ढंग से उठ खड़ा हुआ। मैंने उससे कहा कि मैं उसका वकील हूँ; अत. उसे मुझसे सारी बात कहनी चाहिए कि वह घटना किस प्रकार घटी। उसने बहुत थोड़ी बात बताई और मेरे प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में बड़ी उदासीनता और अनिच्छा से यही उत्तर दिया—'हॉ, यही हुआ था।' उसके उत्तरो से तो यही निष्कर्ष निकलता था कि वह काम करने मे जरा सुस्त था और

उसका कप्तान बड़ी कड़ाई से काम लेता था। उसने कहा—'उसने मुझसे बड़ा सख्त काम लिया'।

जैसा कि मैने समझा उसके यह काण्ड करने का कारण यही था कि कप्तान ने, जो बाहर से देखने में बड़ा शान्त था, अपनी शान्त परन्तु उकतानेवाली भार-रूप आज्ञाएँ दे देकर और उन आज्ञाओ का बिना ननु-नच किये पालन कराकर, उस आदमी को, जो कि केवल दफ्तर का एक अर्दली था, इतना उकता दिया, इतना उत्तेजित कर दिया कि वह सब्र की सारी सीमाओ को लाँघ गया, और उसकी हालत 'मरता क्या न करता' जैसी हो गई। मेरे विचार से उन दोनों मे अफ़सर और कर्मचारी के सम्बन्धो के साथ-साथ परस्पर एक-दूसरे के प्रति घृणा के सम्बन्ध भी स्थापित हो गये। जैसा कि बहुधा होता है, कम्पनी-कमाण्डर उस अर्दली के प्रति विरोध-भावना रखने लगा। उसे यह सन्देह हुआ कि अर्दली कमाण्डर से पोल जाति का होने के कारण घृणा करता है, अत· यह विरोध-भावना और बढ़ गई। उसका अफसर होने का लाभ उठाकर उसने उसके हर काम से असन्तोप प्रगट करना और उस सब काम को, जिसे कि वह आदमी समझता था कि उसने ठीक किया है, दुबारा करने के लिए उसे बाध्य करना आरम्भ किया। अर्दली भी उससे पोल-जाति का होने, उसकी योग्यता को न मानने और सबसे अधिक उसकी शान्ति और कठोरता तथा ऊँचा अफसर होने के कारण कोई बात दिल खोलकर न कह सकने के कारण घृणा करता था। अपने भावो को प्रदर्शित करने का कभी अवसर न मिलने के कारण वह आग भीतर-ही-भीतर सुलगती और प्रत्येक डॉट-फटकार के साथ बढती गई। अपनी सीमा पर पहुँचकर वह उस रूप मे भड़क उठी, जिसका कि उसने स्वप्न मे भी विचार नहीं किया होगा। तुमने जो मेरी जीवनी मे यह लिखा है कि वह आग कप्तान के कहने से कि वह उस आदमी की कोड़ो से खाल उधड़वा देगा, भभक उठी, ग़लत है। कप्तान ने उसे एक काग़ज वापिस दिया और उससे उसे ठीक करने और दुबारा लिखने के लिये कहा था (इसी पर सारा काण्ड हो गया)।

पंच शीघ्र ही नियत कर दिये गये। सरपंच कर्नल यू ·····थे। कोली-कोल्टसेव तथा स्टासयूलेविच साधारण पंच थे। कैदी पंचो के सामने लाया गया, अदालती शिष्टाचार भुगताने के बाद (मुझे याद नहीं कि वह क्या था) मैंने अपना भाषण पढ़ा, जो अब मुझे केवल विचित्र ही नहीं लगता है, बल्कि मुझे लज्जा से भर देता है। पंचो ने भी केवल शिष्टाचार के नाते वे सब निरर्थक बातें, जो मैंने बहुत से ग्रन्थों का हवाला देते, कहीं, सुनीं और सब कुछ सुनने के बाद आपस मे सलाह करने के लिये चले गये। उस पारस्परिक विचार-विनिमय के समय, जैसा कि मुझे बाद मे मालूम हुआ, केवल स्टासयूलेविच ही मेरे उस मूर्खतापूर्ण उद्धरण के पक्ष में था जिसके आधार पर मैंने कहा था कि उस कैदी को इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह अपने काम के लिए उत्तरदायी नहीं है। सज्जन कोलोकोल्टसेव यद्यपि वही करना चाहता था जो कि मैंने कहा था; परन्तु अन्त मे वह कर्नल यू··· के सामने झुक गया और उसके वोट ने मामले का फ़ैसला कर दिया। सिपाही को गोली से उड़ाकर मारने की सज़ा सुना दी गई। मुकदमा समाप्त होने के बाद शीघ्र ही मैंने एक सम्भ्रान्त महिला एलेक्जेंड्रा एण्ड्रोव्ना टॉल्स्टाया को, जो मेरी घनिष्ठ मित्र थीं और जिसकी राज-दरबार मे पहुँच थी, सम्राट एलेक्जेण्डर द्वितीय से शिवूनिन को क्षमा-दान दिला देने के लिये लिखा। मैंने उसे लिखा तो सही, लेकिन चित्त-स्थिर न होने के कारण उस रेजीमेण्ट का, जिसमें कि यह मामला हुआ था, नाम देना भूल गया। उसने युद्ध-मन्त्री मिलयूटिन को भी लिखा, परन्तु उसने भी यही कहा कि उस रेजीमेण्ट का नाम दिये बिना सम्राट् के सामने आवेदन पत्र पेश करना असम्भव है। उसने मुझे लिखा। मैंने जल्दी-से-जल्दी उत्तर दिया। लेकिन रेजीमेण्ट के कप्तान को भी जल्दी थी, अत जिस समय तक सम्राट के सामने पेश करने के लिए आवेदन-पत्र तैयार हुआ उस समय तक उस सिपाही को गोली से उड़ा दिया गया।··· ··

उस सिपाही को बचाने के लिए मैंने जो उल्टा-सीधा, टूटा-फूटा और रद्दी भाषण दिया था और जिसे अब तुमने प्रकाशित किया है, उसे दुबारा

पढना मेरे लिये बहुत भयानक और आत्मा मे विद्रोह-सा पैदा करनेवाला है। उन दैवी और मानवी कानूनों के खुले तौर पर तोड़े जाने के उदाहरण देते हुए, जो मनुष्य अपने भाइयो के विरुद्ध प्रयोग करने के लिये बना रहे है, मैने उन्ही कानूनो के कुछ मूर्खतापूर्ण शब्द कहे, जिन्हे किसी मनुष्य ने लिखकर कानून का रूप दे दिया।

वास्तव में अब मै उस रद्दी और मूर्खतापूर्ण वकालत पर लज्जित हूँ। अगर एक आदमी यह जानता है कि किस प्रकार के आदमी क्या करने के लिए इकट्ठा हुए है और यह जानते हुए कि मेज़ के तीन तरफ अपनी वर्दी मे बैठे हुए ये आदमी क्यो इस समय इस कुर्सी (अर्थात न्यायाधीश के पद) पर आसीन है और क्यो ये उन शब्दो के लिए जो कुछ पुस्तको मे लिखे हुए है और अनेक शीर्षो और उपशीर्षो के साथ कागज पर छपे हुए है, अनन्त ईश्वरीय कानून का जो यद्यपि किसी पुस्तक में छपा हुआ नहीं है, परन्तु प्रत्येक मानव के हृदय पर अंकित है, तोड़ने को तैयार हैं, तव उनके सामने उन मूर्खतापूर्ण और झूठे शब्दो द्वारा (जिन्हे हम कानून कहते है) चतुरता से यह सिद्ध करने की कोई जरूरत नही कि किसी आदमी को मौत से मुक्त कर देना सम्भव है। उन्हे तो सिर्फ यह याद कराने की जरूरत है कि वे कौन है और क्या कर रहे हैं? हरएक आदमी यह जानता है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन पवित्र है, और किसी दूसरे आदमी को किसी के प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसको सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसे किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नही। हॉ, केवल एक बात आवश्यक, सम्भव और ठीक है। वह यह कि आदमियो—जजो—को उस जड़ता से मुक्त करना जिसके कारण उनमें यह पाशविक और अमानुषिक विचार आता है। यह सिद्ध करना कि एक आदमी को दूसरे को मौत की सज़ा नहीं देनी चाहिए, यही सिद्ध करने के वरावर है कि एक आदमी को वह काम नही करना चाहिए। जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल और अन्तरात्मा के विरुद्ध हो। सरल शब्दो मे इसे यह कह सकते हैं कि एक आदमी को जाड़े मे नंगा नही फिरना

चाहिए, नावदान की वस्तुओं को नहीं खाना चाहिए और चारों हाथ-पॉव नहीं चलाना चाहिए। लेकिन यह बात कि यह मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल और आत्मा के विरुद्ध है, तो आज से वर्षों पूर्व उस स्त्री की कहानी द्वारा ही जिसे पत्थर मार-मारकर ही मार डाला गया, सिद्ध हो चुकी है।

और क्या आजकल यह सम्भव है कि मनुष्य (कर्नल यू ··और ग्रिशा कोलोकोल्टसेव) इतने न्याय-प्रिय है कि उन्हे पहला पत्थर हाथ से फेंक देने (दूसरो को अपराधी करार देने) में कोई डर नहीं है।

उस समय मैं यह बात नहीं समझता था, उस समय भी नहीं जब मैंने अपनी सम्बन्धिनी टॉल्स्टाया के द्वारा शिवूनिन को क्षमा दिलाने के लिए आवेदन-पत्र दिलाया। उस समय मैं कितने भ्रम मे था कि शिवूनिन के साथ जो कुछ हुआ, वह एक साधारण-सी बात है, ऐसा तो होता ही रहता है। अपने उस भ्रम पर मुझे अब आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता।

उस समय मैं ये सारी बातें नहीं समझता था। उस समय तो मेरे मन में एक अस्पष्ट-सी भावना थी कि जो कुछ हो गया है वह नहीं होना चाहिए, और यह कि यह घटना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि इसका मानव-जाति की अन्य भूलों और पीड़ाओ से गहरा सम्बन्ध है और यह सबके मूल (जड़) में है। उस समय भी मेरे मन में एक अस्पष्ट भावना थी कि मौत की सजा, जोकि जान-बूझकर, सोच विचारकर और पहले से निश्चय करके की गई, हत्या है, वह कृत्य है जोकि ईसाई धर्म के (जिसके कि हम अनुयायी हैं) खिलाफ़ है। वह एक विवेकी जीवन और नैतिकता को भंग करनेवाली चीज है। क्योंकि अगर एक आदमी, या कुछ आदमी मिलकर यह निश्चय करें कि एक आदमी को मौत के घाट उतारना आवश्यक है तो दूसरे आदमी या आदमियो को किसी आदमी को मार डालने की ज़रूरत को महसूस करने से कौन रोक सकता है? और क्या उन आदमियों का जीवन विवेकी और नैतिक हो सकता है, जो अपनी इच्छानुसार एक दूसरे को मार सके?

मै उस समय भी यह महसूस करता था कि धर्म और विज्ञान मौत की

सजा के लिए जो युक्तियाँ देते है, इनके द्वारा हिंसा करने की न्यायोचितता को सिद्ध करने के स्थान पर उल्टे धर्म और विज्ञान का खोखलापन ही सिद्ध होता है। मुझे यह अनुभव पहली बार पेरिस में हुआ, जबकि मैंने एक फाँसी का दृश्य दूर से देखा* परन्तु उसके सम्बन्ध मे मेरे मन मे उस समय जोरदार भावनायें उठीं, जब मैने इस मामले मे भाग लिया। परन्तु इस समय भी मुझे अपने विश्वास करने मे और अपने को संसार के निर्णय से अलग करने मे डर लगता था। बहुत दिनो के बाद मुझे अपनी धारणाओं मे विश्वास करना पड़ा और उन दो भयानक भ्रमो को (अर्थात् एक चर्च का और दूसरा विज्ञान) जिनकी मुट्ठी में सारा संसार है, और जो वे सब पीड़ायें और उत्पीड़न पैदा करते हैं, जिनसे मानव-जाति कष्ट पा रही है, मानने से इन्कार करना पड़ा। बहुत दिनो बाद जब मैने उन युक्तियो को ध्यान से अध्ययन करना आरम्भ किया जो 'चर्च' (धर्म-संस्था) और विज्ञान आजकल के राजतन्त्र के समर्थन मे दिया करते हैं, तब मैं उन दो बडे जालो (धोखो) को स्पष्ट जान गया, जिनके द्वारा वे राज्य की काली-करतूतों पर परदा डालना और उन्हे जनता से छिपाना चाहते है। मैंने धार्मिक ग्रन्थो और विज्ञान की पुस्तको, जो लाखो और करोड़ो की संख्या मे बिकती है, उन लम्बे-लम्बे अध्यायो को पढ़ा है जिनमे कुछ आदमियो की इच्छानुसार दूसरो को फाँसी पर चढ़ा देने के औचित्य और आवश्यकता की सफाई पेश की गई है।

दोनो प्रकार के वैज्ञानिक ग्रन्थों में अर्थात् न्याय-शास्त्र (जूरिस्प्रुडेन्स) जिसमें फौजदारी कानून भी शामिल हैं और विशुद्ध विज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थो में—उसी बात पर अधिक संकुचितता और विश्वास के साथ युक्तियाँ दी गई हैं। फौजदारी कानून के सम्बन्ध में तो कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं है। वह तो सफेद झूठ, छल और प्रपंचों का एक क्रमागत इतिहास ही है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये गये सभी प्रकार के हिंसात्मक कामों को,

---

* यह घटना सन् १८५७ की है और 'कनफेशन' के १२ वें पृष्ठ पर उसका वर्णन किया गया है।

यहाँ तक कि मनुष्य द्वारा मनुष्य की हत्या को भी, न्यायोचित ठहराती है। यही नहीं, वैज्ञानिक ग्रन्थो मे भी डार्विन से लेकर अब तक, जो जीवन के संघर्ष को जीवन का आधार मानता है, यही बात निहित है। जेना विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर अर्नेस्ट हेकेल जैसे उस सिद्धान्त के जबर्दस्त समर्थक अपनी पुस्तक सन्देहवादियों की गीता (**Naturliche Schopfungsge schichte**) में स्पष्ट लिखते है:—

"मानव-जाति के सास्कृतिक जीवन में कृत्रिम चुनाव बहुत लाभदायक प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए अच्छी स्कूली शिक्षा और लालन-पालन का संस्कृति की अनेकमुखी प्रगति में कितना भारी स्थान है। यद्यपि आजकल बहुत से आदमी मौत की सज़ा को उदार भाव से उड़ा देने की बड़े ज़ोर-शोर और उत्साह से वकालत कर रहे है, और मानवता के थोथे नाम पर अपने पक्ष में बहुत-सी युक्तियाँ दे रहे है, लेकिन इसी प्रकार मौत की सज़ा भी ऐसा ही लाभदायक प्रभाव डालती है। जिस प्रकार एक सुन्दर उद्यान को बनाये रखने के लिए घास-फूस और झाड़-झंखाड़ को उखाड़कर फेकते रहने की आवश्यकता है; उसी प्रकार उन बहुसंख्यक अपराधियों और बदमाशो के लिए, जो कभी ठीक ही नहीं हो सकते, मौत की सज़ा केवल ठीक इनाम ही नही है बल्कि शेष सभ्य व संस्कृत मानव-जाति के लिए बड़े लाभ की चीज़ है। जिस प्रकार घास-फूस को ठीक से साफ़ करने पर पेड़ो और पौधो को अधिक वायु, प्रकाश और बढ़ने के लिए जगह मिलती है, ठीक उसी प्रकार सब कठोर अपराधियों को एक साथ मिटा देने से शेष मानव-जाति के जीवन का संघर्ष ही कम नहीं हो जायेगा, बल्कि एक कृत्रिम चुनाव पैदा करेगा, जोकि उसके लिए लाभदायक होगा; क्योंकि इसी प्रकार तो मानव-जाति का वह पतित अंश (कूड़ा) शेष मानव-जाति पर अपने दुर्गुणो का प्रभाव न डाल सकेगा।"

खेद है कि मनुष्य ऐसी बातों को पढ़ते हैं, पढ़ाते है और उसे ज्ञान-विज्ञान के नाम से पुकारते है। लेकिन किसी के दिमाग में यह प्रश्न नहीं उठता कि यह मानते हुए भी कि खराब आदमियो को मार डालना अच्छा

है, अच्छे और बुरे का निर्णय कौन करेगा? मेरा ही उदाहरण लीजिए। मै समझता हूँ कि मि० हैकल से ज्यादा बुरा और ज्यादा हानिकारक आदमी संसार में दूसरा नही है। लेकिन क्या इसका यह मतलब है कि मै अथवा मेरे-जैसे विचार रखने वाले और आदमी मि० हैकल को फाँसी की सज़ा दे दें? नही, जितनी ही बड़ी उनकी (मि० हैकल की) भूलें होगी मै चाहूँगा कि वह उतने ही अधिक विवेकी और युक्ति-युक्त हो। किसी भी दशा मे मै उन्हे ऐसा विवेकी और युक्ति-युक्त बनने देने के अवसर से वञ्चित नही कर सकता।

चर्च और विज्ञान के मिथ्यावाद ने ही आज हमें उस परिस्थिति (गढे) में डाल रखा है, जिसमें कि हम हैं। महीने ही नहीं, सैकड़ो वर्ष गुज़र गये, जिनमें एक भी दिन ऐसा न गया जिस दिन फॉसियॉ और हत्यायें न हुई हो। कुछ आदमी उस समय प्रसन्न होते है, जबकि क्रान्तिकारियो की अपेक्षा सरकार द्वारा अधिक आदमी मरवाये जाते है। दूसरे आदमी तब प्रसन्न होते है, जब बहुत से सेनापति, भूमिपति, व्यापारी, और पुलिसवाले मारे जाते है। एक ओर तो हत्या करनेवालो को पकड़ने के लिये १०-१५ और २५ रूबल इनाम की घोषणा की जाती है और दूसरी ओर क्रान्तिकारियो, हत्यारो और जबर्दस्ती सम्पत्ति छीननेवालो का आदर और मान करते है और उन्हे 'वीर' और 'देश पर मर मिटनेवाले' की पदवी देते है। "उन आदमियो से मत डरो जो शरीर का नाश करते है बल्कि उनसे डरो जो शरीर और आत्मा दोनो का विनाश कर देते हैं।"

इन सब बातो को मैंने बाद में समझा; परन्तु इनकी एक अस्पष्ट-सी अनुभूति मेरे मन मे उस समय भी थी, जबकि मैंने इतनी मूर्खतापूर्ण और लज्जाजनक रीति से उस अभागे सिपाही की वकालत की। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि मेरे जीवन पर उस घटना का भारी प्रभाव पड़ा है।

हॉ, मै कहता हूँ कि उस घटना का मेरे जीवन पर बहुत अच्छा और बड़ा लाभदायक प्रभाव पड़ा है। उसी समय मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि प्रत्येक प्रकार की हिंसा की पूर्ति में हत्या की या हत्या की धमकी

छिपी हुई है, इसलिए प्रत्येक प्रकार की हिंसा हत्या के साथ जुड़ी हुई है। दूसरे यह कि राज्य-शासन की कल्पना बिना हत्या के नहीं हो सकती और इसीलिए वह ईसाई-धर्म के साथ मेल नहीं खाती। तीसरे यह कि जिस प्रकार पहले धर्माधीशों के उपदेश हुआ करते थे, उसी प्रकार हम आज जिसे विज्ञान कहते हैं, वह वर्तमान बुराइयों की एक झूठी वकालत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस समय यह बात मुझे बिल्कुल स्पष्ट है, परन्तु उस समय तो वह उस मिथ्यावाद की, जिसके बीच में अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, एक धुँधली-सी झलक मात्र थी।

यास्नाया पोल्याना,
२४ मई, १६०८

लियो टॉल्स्टॉय

मुद्रक—श्रीनाथदास अग्रवाल, टाइम-टेबुल प्रेस, बनारस।

सस्ता साहित्य मण्डल की
'सर्वोदय साहित्य माला' के प्रकाशन

[नोट—* चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य है]

१. दिव्य-जीवन ।=)
२. जीवन-साहित्य १।)
३. तामिल वेद ॥।)
४. भारत में व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
५. सामाजिक कुरीतियाँ* ।।।)
६. भारत के स्त्री-रत्न ३)
७. अनोखा* १।=)
८. ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।=)
९ यूरोप का इतिहास २)
१०. समाज-विज्ञान ॥।)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्र* ॥।≡)
१२. गोरों का प्रभुत्व* ।।।=)
१३. चीन की आवाज़* ।-)
१४. द. अ. का सत्याग्रह १।)
१५. विजयी बारडोली* २)
१६. अनीति की राह पर ॥=)
१७. सीताकी अग्निपरीक्षा ।-)
१८. कन्या-शिक्षा ।)
१९. कर्मयोग ।=)
२०. कलवार की करतूतें =)
२१. व्यावहारिक सभ्यता ।।)
२२. अँधेरे में उजाला ।।)
२३. स्वामीजीका बलिदान* ।-)
२४. हमारे ज़माने की गुलामी* ।)
२५. स्त्री और पुरुष ।।)
२६. सफाई ।=)
२७. क्या करें ? १)
२८. हाथकी कताई-बुनाई* ॥-)
२९. आत्मोपदेश* ।)
३०. यथार्थ आदर्श जीवन* ॥।-)
३१. जब अंग्रेज नहीं आये थे ।)
३२. गंगा गोविन्दसिंह* ।।=)
३३. श्री रामचरित्र १।)
३४. आश्रम-हरिणी* ।)
३५. हिंदी मराठी कोष* २)
३६. स्वाधीनताके सिद्धान्त* ॥)
३७. महान् मातृत्वकी ओर ।।।=)
३८. शिवाजी की योग्यता ।=)
३९. तरंगित हृदय* ।।)
४०. हालैण्ड की राज्यक्रान्ति १॥)
४१. दुखी दुनिया ।=)
४२. जिन्दा लाश* ।।)
४३. आत्मकथा [नवीन सस्ता संस्करण] १), १॥)
,, [संक्षिप्त संस्करण] ।।)
४४. जब अंग्रेज आये* १।=)
४५. जीवन-विकास १।)
४६. किसानों का बिगुल =)
४७. फांसी ।=)
४८. अनासक्तियोग और गीताबोध ।=)

४६. स्वर्ण विहान |=)
५०. मराठों का उत्थान और पतन २||)
५१. भाई के पत्र १)
५२. स्वगत |=)
५३. युगधर्म* १=)
५४. स्त्री-समस्या १|||)
५५. विदेशी कपड़े का मुकाबिला ||=)
५६. चित्रपट |=)
५७. राष्ट्रवाणी* ||=)
५८. इंग्लैण्ड में महात्माजी |||)
५९. भावी क्रांति का संगठन (रोटी का सवाल) |||)
६०. दैवी संपद् |=)
६१. जीवन-सूत्र |||)
६२. हमारा कलंक ||=)
६३. बुद्बुद् ||)
६४. संघर्ष या सहयोग ? १||)
६५. गांधी-विचार-दोहन |||)
६६. एशिया की क्रान्ति* १|||)
६७. हमारे राष्ट्र-निर्माता १||)
६८. स्वतंत्रता की ओर १||)
६९. आगे बढ़ो ||)
७०. बुद्धवाणी ||=)
७१. काँग्रेसका इतिहास २||) |—)
७२. हमारे राष्ट्रपति १)
७३. मेरी कहानी २||) |)
७४. विश्व-इतिहास की झलक =) =)
७५. हमारी पुत्रियाँ कैसी हों ? ||)
७६. नया शासन विधान |||)
७७. [१]हमारे गाँवोंकीकहानी ||)
७८. [२]महाभारत के पात्र १-२ ||) ||)
७९. गाँवोंका सुधार-संगठन १)
८०. [३] संतवाणी ||)
८१. विनाश या इलाज ? |||)
८२. [४] अंग्रेजी राज्य में हमारी दशा ||)
८३. [५] लोक-जीवन ||)
८४. गीता-मंथन १||)
८५. [६]राजनीति प्रवेशिका ||)
८६. [७] हमारे अधिकार और कर्तव्य ||)
८७. गांधीवाद: समाजवाद |||)
८८. स्वदेशी: ग्रामोद्योग ||)
८९. [८] सुगम चिकित्सा ||)
९०. प्रेम में भगवान् ||)
९१. महात्मा गांधी |=)
९२. [१०] हमारे गाँव और किसान ||)
९३. ब्रह्मचर्य ||)
९४. गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ २)
९५. हिन्दुस्तान की समस्यायें १)
९६. जीवन-संदेश ||)
९७. समन्वय २)
९८. समाजवाद: पूंजीवाद |||)
९९. मेरी मुक्ति की कहानी ||)

*—ब्रैकेट-नम्बर लगी पुस्तकें 'लोक साहित्य माला' की है।